आचार्य श्री नानेश जीवित हैं

संकलन–संपादन

मुनि ज्ञान

प्रकाशक :

श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ

समता भवन, रामपुरिया मार्ग, बीकानेर–334005

फोन 0151–544867, फैक्स 203150

❋ आचार्य श्री नानेश जीवित है।

❋ सकलन – संपादन

मुनि ज्ञान

❋ अर्थ सौजन्य : श्रीमान सुन्दरलालजी दुगड़, देशनोक (कोलकात्ता)

❋ सम्वत् –२०५६

❋ प्रकाशक :

श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ
समता भवन, रामपुरिया मार्ग,
बीकानेर – ३३४००५
फोन ५४४८६७

❋ मूल्य . **100/-**

❋ लेजर टाईप एव डिजाइन सेटिग
बिट्टू कम्प्यूटर्स, उदयपुर

❋ मुद्रक अमित कम्प्यूटर्स एण्ड प्रिन्टर्स, बीकानेर

यस्मान्
गृहीत
तस्मै
समर्पितम्।

जिनसे पाया
उन्हीं को
समर्पित।

आचार्य श्री नानेश जीवित हैं।

–मुनि ज्ञान

प्रकाशकीय

"आचार्य श्री नानेश जीवित हैं" कृति का प्रकाशन करते हुए असीम प्रमोद की अनुभूति होती है। उनके विराट जीवन व विशाल साहित्य-फलक से चयनित बोध-सूत्रो एवं चिन्तन-कणो को गुम्फित कर ओजस्वी व्याख्याता विद्वद्वर्य श्री ज्ञान मुनि जी म सा. ने ग्रन्थ नाम को सार्थकता/जीवंतता प्रदान करते हुए सिद्ध किया है कि आचार्य प्रवर विचार है, मात्र व्यक्ति नहीं। वस्तुत युगाचार्य श्री नानेश विगत सदी के सशक्त हस्ताक्षर है, जिनका धर्म, अध्यात्म, दर्शन व चिन्तन क्षेत्रो मे प्रदत्त अवदान शाश्वत है और युगों तक विद्यमान रहेगा। तनाव, संघर्ष व विषमता को निर्मूल करने हेतु आपने विश्व को समता दर्शन व मानव को समीक्षण ध्यान जैसे अमोघ उपाय बताये जो सम्यक्, प्रासगिक और कालजयी हैं।

श्रमण भगवान महावीर द्वारा चतुर्विध सघ के कुशल संचालन का दायित्व आचार्य श्री सुधर्मा स्वामी के कंधो पर रखा गया था और तदनन्तर जम्बू स्वामी, प्रभव स्वामी आदि के अनुवर्ती आचार्यो की परम्परा अनवरत प्रवहमान है। इसी क्रम मे लगभग दो शताब्दियो पूर्व हुए आचार्य श्री हुक्मीचन्द जी म सा ने साध्वाचार मे पनप रही शिथिलताओ को मिटाने हेतु क्रियोद्धार किया और श्री साधुमार्गी परम्परा को प्राणवान बनाया, जो आज शुद्ध साध्वाचार, संयम दृढता तथा आत्मसाधना का प्रतीक है। आचार्य श्री नानेश ने जहाँ धर्मपाल प्रतिबोध द्वारा सामाजिक क्रान्ति का इतिहास सृजित किया वहीं धर्म, अध्यात्म, योग व ध्यान समन्वित जीवन दर्शन भी दिया।

यह सुखद सयोग है कि उनके पट्टधर प्रशान्तमना, व्यसन मुक्ति के प्रेरक, श्रीवाल प्रतिबोधन आचार्य श्री रामलालजी म.सा के सानिध्य मे साधुमार्ग की पावन सरिता सर्वतोमुखी विकसित हो रही है। उनके निर्देशन मे श्री अ भा साधुमार्गी जैन सघ जिनशासन की सुरक्षा/सरक्षण/संवर्धन हेतु कृत संकल्प है। सघ की विभिन्न प्रवृत्तियो मे सत्साहित्य का प्रकाशन एक विशिष्ट प्रवृत्ति है और श्री ज्ञान मुनि जी म सा की प्रस्तुत कृति का प्रकाशन उसी ध्येय की पूर्ति रूप है।

साधुमार्गी धर्म सघ के अष्टमाचार्य श्री नानेश के अन्तेवासी सुशिष्य श्री ज्ञान मुनि जी म.सा ने मात्र 13 वर्ष की अल्पायु मे दीक्षित होकर उत्कृष्ट ज्ञान साधना, अप्रतिम गुरु समर्पणा, अथक लगन एवं रचना धर्मिता द्वारा अपनी अहम् पहचान बनाई है। मुनि श्री विद्वान साहित्यकार और सफल प्रवचनकार है, जिन्होने अपनी विद्वता व वक्तृत्वकला से शासन की भव्य प्रभावना की तदर्थ सघ गौरवान्वित है। सम्पादन, इतिहास, संस्मरण, चिन्तन, काव्य, उपन्यास, कहानी, प्रवचन प्रभृति विधाओ मे आपकी अनेक कृतिया प्रकाशति है और जैन/विद्वत्/अध्येता वर्ग मे समादृत है। **"आचार्य श्री नानेश जीवित हैं"** के चिन्तन-सूत्र अन्तरावलोकन करने और जीवन मूल्यो से साक्षात्कार करने मे सहायक होगी ऐसा विश्वास है। इस कृति के लिये हम मुनि श्री के आभारी है।

इस अनूठी कृति का प्रकाशन देशनोक/कोलकात्ता निवासी शासननिष्ठ युवा उद्यमी ***श्री सुन्दरलालजी दुगड़*** के अर्थ सौजन्य से हो रहा है तदर्थ साधुवाद एव आभार। प्रकाशन प्रक्रिया मे सहयोग हेतु श्री उदय नागोरी धन्यवाद के पात्र है।

पूरा विश्वास है मुनि श्री की कृति मे सन्निहित सदेश/बोध-सूत्र आत्मसात कर पाठक आचार्य भगवन् के व्यक्तित्व से ऊर्ज्वस्वित होकर अपनी चेतना का ऊर्ध्वारोहण करने की दिशा मे अग्रसर हो सकेगे।

निवेदक

शान्तिलाल सांड

सयोजक

साहित्य प्रकाशन समिति

श्री अ भा सा जैन सघ, समता भवन, बीकानेर

अर्थ सहयोगी

शासन समर्पित दुगड़ परिवार

देशनोक निवासी श्री मोतीलाल जी दुगड़ आचार्य श्री हुक्मीचन्द जी म सा. एवं श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन सघ, बीकानेर के स्थापना काल से ही एकनिष्ठ सुश्रावक रहे है, जिन्होंने संघ/शासन की चहुमुखी प्रगति मे अहम् भूमिका का निर्वहन किया है। श्रीमद् जवाहराचार्य, श्री गणेशाचार्य, श्री नानेशाचार्य एव आचार्य श्री रामेश के श्रद्धालु, आस्थावान एव समर्पित भक्तो मे श्री दुगड़ जी का परिवार अग्रणी व प्रमुख है। शासननिष्ठ, अनन्य गुरुभक्त, सघ समर्पित श्री मोतीलाल जी दुगड के ज्येष्ठ पुत्र श्री सुन्दरलाल जी दुगड है, जिनका सघ एवं समाज के कर्मठ कार्यकर्त्ताओ मे महत्वपूर्ण व विशिष्ट स्थान है।

श्री सुन्दरलाल जी दुगड़ जैन समाज के उन युवा उद्योगपतियो मे प्रमुख व अग्रपंक्तया है, जिन्होने विगत सार्द्धदशक मे अपने अथक परिश्रम, कौशल, प्रतिभा तथा औदार्य से न केवल औद्योगिक जगत् मे अपनी पृथक् पहचान बनाई है, अपितु अपनी धर्मनिष्ठता, सदाचारिता, सदाशयता, सचरित्रता एवं जनहितैपिता से शिक्षा और सेवा के क्षेत्र मे भी श्लाघनीय, स्तुत्य व अनुकरणीय आदर्श भी स्थापित किया है।

श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ के पूर्व उपाध्यक्ष रहे श्री सुन्दरलाल जी दुगड सम्प्रति अनेक सामाजिक, शैक्षणिक, धार्मिक तथा जन कल्याणकारी सस्थानो से घनिष्ठ रूप से सम्वद्ध हे तथा ट्रस्टी, मत्री, अध्यक्ष आदि पदो पर रहते हुए बहुआयामी सेवा कार्यो मे सलग्न है। आपने भवन निर्माण का कार्यारम्भ कर व्यावसायिक जगत मे प्रवेश किया तथा आर डी बिल्डर्स एण्ड डेवलपर्स की स्थापना की और अपनी दूरदर्शिता, कार्यकुशलता, त्वरित निर्णय क्षमता तथा प्रतिभा के बल पर आज भवन निर्माण सहित विभिन्न व्यवसायो का सुसचालन कर रहे हे। आर डी बिल्डर्स एण्ड डेवलपर्स नामक इनका प्रतिष्ठान आर डी.बी इन्डस्ट्रीज मे परिवर्तित होकर औद्योगिक क्षेत्र मे सुस्थापित, प्रतिष्ठित हो इनके गतिशील, चुम्बकीय, सफल व्यक्तित्व की कथा कह रही है।

समय की धारा एवं नब्ज पहचान कर साफल्य के सौपान हस्तगत करने वाले श्री दुगड प्रगतिशील विचारो के धनी है और युवा उद्योग रत्न रूप मे सम्मानित व समादृत है। 'दिया दूर नहीं जात' कथन का अनुसरण कर आपने अपनी जन्मभूमि देशनोक (राजस्थान) मे अनेक सस्थानो के उत्थान एव विकास मे प्रमुख भूमिका का निर्वहन किया है। आपके प्रभूत अनुदान से कपासन (उदयपुर) मे आचार्य नानेश रूप रेखा रामेश गौशाला की स्थापना हुई है तथा पी बी एम. हास्पिटल, बीकानेर मे वार्ड सरक्षण का सेवा सास्थानिक कार्य प्रगति पर है।

सरलता, सहजता, मिलनसारिता, विनम्रता एवं मधुस्मिता गुणो से समन्वित श्री सुन्दरलालजी दुगड का व्यक्तित्व प्रदर्शन, आडम्बर एव विज्ञापन से सर्वथा दूर सादगी, सेवा तथा उदारता का प्रतीक है। कोलकात्ता के जैन अजैन समाज मे आपको अत्यन्त लोकप्रियता प्राप्त है। अनेक राजनेताओ एव अति विशिष्ट महानुभावो से घनिष्ठ सम्बन्ध होने पर भी ये एक निरभिमानी, निष्काम, निस्वार्थ कर्मठ कार्यकर्त्ता के रूप मे जाने पहचाने जाते है। कोलकात्ता एव देशनोक का धर्म और सेवा क्षेत्रीय ऐसा कोई सस्थान तथा सगठन नही है जो इनके उदार सहयोग एव सक्रिय व्यक्तित्व से लाभान्वित नहीं होता हो।

आपके सुपुत्र श्री विनोद जी दुगड भी अपने धर्म-कर्त्तव्यनिष्ठ पितृ के पदचिह्नो पर चलकर समाज की सेवा मे अग्रणी एव उत्साहित रहते है।

ऐसे शासन समर्पित परिवार से सघ गौरवान्वित है। सत् साहित्य के प्रकाशन हेतु प्रदत्त आर्थिक सहयोग इस परिवार की प्रशस्त एव प्रगाढ धर्मभावना का प्रतीक है। एतदर्थ सघ का आभार व साधुवाद।

उदय नागोरी
सदस्य-साहित्य प्रकाशन समिति

आचार्य श्री नानेश
विशिष्ट जीवन तिथियाँ

जन्म स्थान	–	दांता जिला–चित्तौडगढ (राजस्थान)
जन्म तिथि	–	वि. सं १६७७, ज्येष्ठ शुक्ला द्वितीया
पिता	–	श्री मोडी लाल जी पोखरना
माता	–	श्रीमती श्रृंगारा बाई पोखरना
दीक्षा तिथि	–	वि सं १६६६
दीक्षा स्थान	–	कपासन (राजस्थान)
युवाचार्य पद स्थान	–	उदयपुर (राजस्थान)
युवाचार्य पद तिथि	–	वि सं २०१६ अश्विन शुक्ला द्वितीया
आचार्य पद स्थान	–	उदयपुर (राजस्थान)
आचार्य पद	–	वि स. २०१६ माघ कृष्णा द्वितीया
स्वर्गारोहण	–	२०५६ कार्तिक कृष्णा तृतीया दिनाक २७ १० ६६ (समय १० ४१ रात्रि)

आचार्य श्री नानेश के अव तक के चातुर्मारा रथल

सवत्	स्थान	सवत्	स्थान
१९९७	फलौदी	२०२७	वडी रगादडी
१९९८	बीकानेर	२०२८	ब्यावर
१९९९	ब्यावर	२०२९	जयपुर
२०००	बीकानेर	२०३०	वीकानेर
२००१	सरदारशहर	२०३१	सरदारशहर
२००२	बगडी	२०३२	देशनोक
२००३	ब्यावर	२०३३	नोखामण्डी
२००४	बडी सादडी	२०३४	गगाशहर–भीनासर
२००५	रतलाम	२०३५	जोधपुर
२००६	जयपुर	२०३६	अजमेर
२००७	दिल्ली	२०३७	राणावास
२००८	दिल्ली	२०३८	उदयपुर
२००९	उदयपुर	२०३९	अहमदावाद
२०१०	जोधपुर	२०४०	भावनगर
२०११	कुचेरा	२०४१	बोरीवली (बम्वई)
२०१२	बीकानेर	२०४२	घाटकोपर (बम्वई)
२०१३	गोगोलाव	२०४३	जलगॉव
२०१४	कानोड	२०४४	इन्दौर
२०१५	जावरा	२०४५	रतलाम
२०१६	उदयपुर	२०४६	कानोड
२०१७	उदयपुर	२०४७	चित्तौडगढ
२०१८	उदयपुर	२०४८	पिपलिया कला
२०१९	उदयपुर	२०४९	उदयरामसर
२०२०	(आ पद) रतलाम	२०५०	देशनोक
२०२१	इन्दौर	२०५१	नोखामडी
२०२२	रायपुर	२०५२	बीकानेर
२०२३	राजनादगाव	२०५३	भीनासर
२०२४	दुर्ग	२०५४	ब्यावर
२०२५	अमरावती	२०५५	उदयपुर
२०२६	मन्दसौर	२०५६	उदयपुर

आचार्य श्री नानेश,–एक परिचय

वीर भूमि मेवाड़

सभ्यता एवं संस्कृति के प्रतीक भारतवर्ष के राजस्थान प्रान्त में मेवाड़ भूमि के मानवों की वीरता सुप्रसिद्ध है। मेवाड़ी बांकुरे अपनी आन–बान–शान के लिए कुर्बान हो जाते है। अप्रतिम शक्ति के धनी वे वीर सिंह के समान युद्ध में घोर गर्जना करने वाले होते है । वे शत्रुओं के सामने कभी भी पीठ दिखलाना नहीं जानते हैं । मेवाडी वीरों की घटना से आज भी इतिहास गौरवान्वित है।

धर्मवीर और कर्मवीर

ऐसी वीरभूमि मेवाड में दो प्रकार के वीरों ने जन्म धारण किया, कर्मवीर और धर्मवीर। कर्मवीर में मुख्यता महाराणा प्रताप, शक्तिसिंह आदि प्रसिद्ध है । धर्मवीर में गणेशाचार्य और नानेशाचार्य के नाम इतिहास प्रसिद्ध हैं। महाराणा प्रताप ने मेवाड की सुरक्षा करने के लिए अपना सर्वस्व लुटा दिया था। कभी भी उन्होंने मेवाड पर शत्रुओं का आधिपत्य नहीं होने दिया।

जहाँ कर्मवीर सुरक्षा के लिए कवच और ढाल लगाकर मुकुट पहनकर, अस्त्र–शस्त्रादि से सज्जित होकर घोड़े पर सवार होकर युद्ध क्षेत्र में आ डटते हैं। वहाँ धर्मवीर आत्मा की सुरक्षा करने के लिये संयम का कवच, तपश्चर्या की ढाल लेकर महाव्रतों रूपी अस्त्र–शस्त्र से सुशोभित होकर मन

नोट · *पुस्तक का सकलन/लेखन आचार्य देव की विद्यमानता मे ही प्रारभ हो चुका था । यही कारण है कि कही–कही वर्तमान कालिक वाक्यो का प्रयोग किया गया है ।*

रूपी अश्व पर आरोहित हो काम क्रोधादि शत्रुओ को परास्त करने के लिए विश्व के विलक्षण युद्ध क्षेत्र पर आ डटते हैं ।

मेवाड़ के धर्मवीर आचार्य गणेश

वीर भूमि मेवाड़ के प्रमुख नगर, उदयपुर मे धर्मवीर गणेशाचार्य ने जन्म लिया था। ज्योतिर्धर आचार्य प्रवर श्री जवाहर के सान्निध्य में भागवती दीक्षा अंगीकार की थी, सतत साधना में तन्मय होकर संयमीय पथ पर आगे बढ़ते ही चले गये। आप श्री को घाणेराव सादडी मे हुए स्थानकवासी साधु सम्मेलन में सर्वानुमति से सर्व सत्तासम्पन्न उपाचार्य बनाया गया था। अतः आप (११००) से ऊपर साधु–साध्वियों के नायक बन गये थे। लेकिन कुछेक साधु–साध्वियों में संयमीय शिथिलता आने लगी, जिसे दूर करने के लिए बहुत प्रयास किया, किन्तु पक्षपात के कारण यह प्रवृत्ति बढ़ती गई जिस स्थिति को देखकर गणेशाचार्य ने अपनी संयमीय आन, बान, शान की सुरक्षा के लिए आपने आचार्यपद की कुर्बानी दे दी ।

दांता के दाता

इस भूमि मेवाड़ में एक छोटा–सा गाँव दांता हैं। जिसकी प्राकृतिक सुषमा भी विलक्षण प्रकार की हैं। पर्वतीय अंचल में बसा दांता रमणीक, प्राकृतिक शोभा से सिमटा हुआ है तथा बहुत ही चिताकर्षक प्रतीत होता हैं। जिस प्रकार अणु में भी विभु की सत्ता होती है, उसी प्रकार इस छोटे से गांव में एक विराट सत्ता का समावेश था। आज से ८० वर्ष पूर्व विराट सत्ता के प्रतीक एक लघु शिशु को माता श्रृंगारा ने जन्म दिया था। किसे मालूम था कि यह भविष्य में विराट वृक्ष का रूप ले लेगा । कौन जानता

था कि इस लघु–सी देहश्री मे कितनी तेजस्वी आत्मा विद्यमान है। यद्यपि जन्मगत शिशु का नाम *"गौवर्धन"* रखा गया था, किन्तु जिस आत्मा में अखिल विश्व की रक्षा जैसा अमित वात्सल्य भरा हो, उसका नाम *"गौवर्धन"* कैसे रहता ? सहज ही संयोग समझिये कि आप सभी से छोटे होने से आपको अपर नाम *"नाना"* से सम्बोधित किया जाने लगा । यह नाम ही आप श्री के गुणों का वास्तविक प्रतीक बना । आप श्री के अन्दर नानाविध ज्ञान है और नानाविध प्रकार से संघ संचालन की विधि में भी आप श्री कुशल हैं।

जवानी में भी निष्काम विचार

आप बाल्यकाल को पार करते हुए जब मदमाती जवानी की देहली पर पांव बढ़ा रहे थे, अंग प्रत्यंगों से जवानी का प्रस्फुटन हो रहा था। आश्चर्य का विषय है कि उस समय भी आपकी उन्मुक्त चिन्तन धारा निष्काम साधना की ओर प्रगतिशील थी। इस अमूल्य मानव जीवन को प्राप्त करके अब मुझे क्या करना है ? किस तरह स्वत्व को जागृत करना हैं ?

यह अनन्त आकाश जो मुझे अविरल उन्नति के लिए प्रेरक बना हुआ है, तो सपाट मैदान जीवन की सम रमणीयता की ओर इंगित कर रहा है: निश्चित ही मुझे जीवन का वास्तविक तथ्य और सत्य प्राप्त करना है । आपकी सारी ऊर्जा जीवन की अनन्त गहराइयों में प्रवाहित होने लगी। मस्तिष्क के सुषुप्त तंतु जागृत होने लगे अन्तर्पथ पर आपका तीव्रता से विचार–विहार चलने लगा ।

षष्ठ आरे का वर्णन–श्रवण

एकदा एक अणगार से आप श्री ने श्रवण किया –पाचवें आरे की पूर्णता पर छठा आरा प्रारम्भ होगा, उस समय का मानव धृति, बल, आयुष्य और कांति

से अत्यधिक हीन होगा, मानव की आयु घटते–घटते २० वर्ष ही रह जायेगी, देहमान एक हाथ प्रमाण रहेगा, अतृप्त आहार की इच्छा रहेगी, जो कितना भी कुछ खा लेने पर भी तृप्त नहीं हो सकती खान–पान मांसाहार होगा, मनुष्य की खोपडी में पानी लेकर पियेगे, उस समय के मानव दीन, हीन, दुर्बल, रोगिष्ट, नग्न, आचार–विचार हीन, मात–पिता, बहिन, पुत्री का भी विचार नहीं करने वाले होगें, छः वर्ष की स्त्री माता हो जायेगी । इनका निवास गुफाओ में पशुतुल्य होगा । यह स्थिति २१००० वर्ष तक चलती रहेगी।

अन्त संवेदन

यह वर्णन सुनने के अनन्तर अश्वारोहित हो आप अपने गांव की ओर प्रयाण कर रहे थे, मध्य में विचारों की प्रखरता बढने लगी, मैंने चार गति, चौरासी लाख, जीव योनियों में दुर्लभ यह मानव तन पाया है, आत्मिक ज्योति को जागृत करने के लिए अब मुझे अविराम प्रगति के पथ पर बढते जाना है, आत्मशांति को पाना ही अब मेरा उद्देश्य हो, सभी बन्धनो से मुक्त होकर मुक्ति का विराट सुख प्राप्त करना ही मेरा अब लक्ष्य बने।

विचारों की ऊर्जस्वल धारा

विचारों की पवित्र धारा मन के शुभ पात्र में प्रवाहित होने लगी, अनागत में आने वाला षष्ट आरे का चित्र मस्तिष्क पर उभरने लगा, अहो कितनी दयनीय स्थिति होगी मानव का उस समय, कितना पतन हो जायेगा मानवीय संस्कृति का क्या होगा मेरा उस समय ? क्या मुझे भी ? ना ना ऐसा कभी नहीं हो सकता, मैं कभी भी अपने जीवन को उस दुःख द्वार पर जाने ही नहीं दूंगा, मुझे अपने सत्पुरुषार्थ से भव पार उतारने वाला संबल, शक्ति प्राप्त करनी है, जो शक्ति बाह्य तत्त्वों से प्राप्त नहीं हो सकती । शक्ति का प्रयोग अंतर में

करना होगा। विचारों की गतिशीलता संसार से विरागता की ओर बढने लगी। कीचड़ में जिस प्रकार कमल की निर्लिप्तता बनी रहती हैं, वैसे ही आपके जीवन की पवित्रा वृद्धिगत होती चली गई। संसार विरागता का बीज – वपन उसी अरण्य बीच पीपल वृक्ष के नीचे हुआ था । यहाँ से जीवन की धारा में एक विलक्षण प्रकार का मोड़ आ गया।

आगार से अनगार का निश्चय

आगार से अनगार बनने का, रोगी से निरोगी बनने का, गृहस्थी से सन्यासी बनने का निर्णय भी आप श्री का इसी अरण्य बीच हुआ था। आप श्री ने विचारा दुःख–विमुक्ति और शाश्वत सुख की अवाप्ति के लिए राग से विराग की ओर बढना है । अर्थात् आगारी से अनगारी बनना है। साधना रूप सलिल से स्नान करने पर ही आत्मशुद्धि हो सकती है । सम्यक् ध्यान द्वारा ही मेरी बुद्धि का सम्यक् विकास हो सकता है ।

गुरु की खोज में

आत्मशुद्धि द्वारा मुक्तिपथ पर अग्रसर होने के लिए सहीपथ प्रदर्शक की आवश्यकता होती है। वे प्रदर्शक ही "गुरु" पद के अधिकारी होते हैं। सच्चे गुरु के बिना यथार्थ प्राप्त नहीं हो सकता। आप विचारों की ऊर्जस्वल धारा, पवित्र चिन्तन, संयमीय निर्णय के साथ सच्चे गुरु की खोज में घर से निकल पडे ।

साध्य की प्राप्ति

जिस किसी लक्ष्य को लेकर जब व्यक्ति उसे प्राप्त करने के लिए निरन्तर तन्मयतापूर्वक खोज करना प्रारम्भ करता है तो निश्चित ही उसे एक

दिन उस लक्ष्य की प्राप्ति हो जाती है। आप श्री गुरु की खोज में इधर– उधर घूमने लगे। स्थान–स्थान पर पहुँचे। संत मुनिराजो द्वारा सुनहले आकर्षण मिलने लगे। जिसके लिए आप श्री की आत्मा कतई तैयार नहीं थी। आपको तो सच्चे गुरु की खोज थी, जो निस्पृह साधक आपका सच्चा पथ–प्रदर्शक बन सके । इस खोज मे घूमते–घूमते आप श्री राजस्थान के मुख्य नगर कोटा पहुँच गये । उस समय वहाँ पर विराजमान शासन के जाज्वल्यमान नक्षत्र, हुक्मगच्छ के सप्तम युवाचार्य शास्त्रज्ञ श्री गणेशीलाल जी म.सा. की सौम्य मुखमुद्रा के दर्शन कर आप श्री ने वन्दना–अभिवन्दना की।

गुरु का अमिताभ तेज

युवाचार्य श्री के मुखमण्डल पर अमिताम तेज था। ब्रह्मचर्य की अनुपम शोभा थी। ऐसे सौम्य मुखमण्डल को देखकर आप अभिभूत हो गये, उनके प्रति आकर्षित हो गये । मन में विचार उठने लगे । वास्तव में इनकी देहश्री ही बताती है कि ये सच्चे साधक है । आचार और विचार के धनी है। इन्हीं के द्वारा सच्ची शांति मिल सकती है। इनकी विलक्षण प्रतिमा को देखते हुए लगता है कि इनसी प्रतिभा अन्यरूप में होना असंभव सा है ।

शिष्य का प्रकटीकरण

युवाचार्य श्री के व्यक्तित्व को देखकर अभिभूत हुए आपने विचारों का प्रकटीकरण किया – हे प्रभों ! मैं आपका शिष्य हूँ। मुझे स्वीकार कर मेरी डूबती हुई इस नैया को भवसागर से पार लगावें। ज्ञान दान देकर मुझे इस संसार–कीचसे उबार दो। लेकिन जो निस्पृह साधक होते हैं, उन्हें कभी भी शिष्य लोभ नहीं होता। वे निपट अपनी साधना में ही तन्मय रहने वाले

होते हैं। चाहे वे एक हों या समूह के साथ, शहर मे हो या अरण्य मे उनकी साधना निरन्तर आत्म–शुद्धि के लिए ही प्रवाहित होती रहती है।

गुरु का स्पष्टीकरण

आप श्री के विचारों को सुनकर महायोगी गणेशाचार्य ने संक्षिप्त में किन्तु सारगर्भित उत्तर दिया–देखो भाई अभी साधु जीवन की बात जाने दो। पहले गृहस्थ जीवन में ही रहकर अभ्यास करो। आगार से अनगार बनने का निर्णय आवेश में करना अच्छा नहीं है। साधु जीवन कोई साधारण बात नहीं है, जो ऐसे ही अपनाया जा सके। कभी–कभी तो साधु जीवन तलवार की तीक्ष्ण धार पर चलने से भी अधिक कठिन बन जाता हैं। पांच महाव्रतों का पालन करना, परिषह–जय, इन्द्रिय दमन कोई साधारण बात नहीं है।

तारणहार गुरु गणेशाचार्य

गणेशाचार्य के निस्पृह किन्तु सटीक विचारों को सुनकर आप श्री बहुत प्रभावित हुए। "गु" शब्द स्त्वंधकारे "रू" शब्द स्तन्निरोधक। "गु" शब्द अंध ाकार का प्रतीक है "रू" शब्द उसका विरोध करने वाला है। जो प्राणियों के अंधकार को दूर करने वाला है, वही सच्चा गुरु है। आप सच्चे गुरु हैं। आत्मा का सच्चा बोध आपके द्वारा ही प्राप्त होगा। गुरु ही तारणहार होते हैं। आपके पास न तो किसी प्रकार का आकर्षण है और न शिष्य लोभ ही। सभी ओर से निस्पृह होकर आप सदा आत्म साधना में लीन रहते हैं। जिसको किसी प्रकार की स्पृहा या लोभ नहीं हो, वह अन्य भव्य पुरुषों का सही पथ प्रदर्शक बन सकता है। निःसंदेह आपकी साधना सच्ची है। आपके ज्ञान–दीपक के

द्वारा मेरा ज्ञान–दीपक प्रज्वलित हो राकेगा। इरा प्रकार रो गणेशाचार्य के प्रति आपका आकर्षण बढने लगा।

विरक्ति के पथ पर

आप श्री गणेशाचार्य के सुखद सान्निध्य की प्राप्ति कर बहुत प्रसन्न हुए। विरक्तानुगामी साधना आप श्री की निन्तर वृद्धिगत होती चली गई। ज्ञान–ध्यान की आराधना में आप सदा तन्मय रहते। मुझे लक्ष्यानुरूप गति करने के लिए पथ प्रशस्त बनाना है, जिस पथ पर चलकर मैं अपनी आत्मा का शुद्धिकरण कर सकूं। मन–वचन–काय की शुद्धि के साथ आत्मीय विशुद्धि करने वाला संयमीय जीवन ही सारभूत जीवन है।

सच्चा स्वर्ण

आप श्री की वैराग्य भावना निरन्तर प्रबल से प्रबलतर होती चली जा रही थी। आप श्री का प्रत्येक कार्य विवेक और यतना के साथ होता था। गणेशाचार्य स्वयं भी आप श्री के वैराग्यमय जीवन का परीक्षण करते रहते थे। अनेक सुज्ञ श्रावकों ने भी आपकी अनेक बार परीक्षा ली थी। आप सदा परीक्षा में उत्तीर्ण ही रहते। कई श्रावकों ने गणेशाचार्य से कहा–आपके पास जो वैरागी है, वह वास्तव में हीरा है, भविष्य में यह बड़ा महापुरुष बनेगा। हमने परीक्षा करने के लिए इनको अनेकों अनेक प्रलोभन दिये, किन्तु यह सभी ओर से निस्पृह है। वास्तव में सच्चे स्वर्ण के लिए कसौटी क्या कर सकती है, कुछ नहीं। सच्चे स्वर्ण को कसौटी पर कितना भी कसा जाय, उसमें कोई फर्क पड़ने वालानहीं है, बल्कि उसमें तो और अधिक निखार ही आयेगा।

कपासन में भागवती दीक्षा

विरक्तानुगामी साधना में जब आप श्री ने परिपक्वता प्राप्त कर ली, तब संयमी जीवन अंगीकार करने के लिए प्रयत्न करने लगे । इसके लिए पारिवारिक सदस्यों की आज्ञा होना आवश्यक होता है । आप मातुश्री एवं भाईयों से आज्ञा-पत्र लेने के लिए दांता गाँव पहुँचे । बहुत प्रयत्न करने पर भी जब आपको आज्ञापत्र प्राप्त नही हुआ, तब आप अष्टम (तेले) तप की आराधना में तल्लीन हो गये । जब तक आज्ञा नही मिलेगी पारणा नहीं करूंगा । आपकी इस भीष्म प्रतिज्ञा के सामने सब नतमस्तक हो गये और आपको आज्ञापत्र प्राप्त हो गया। दीक्षा स्थान दांता के पास ही कपासन रखा गया । गांव के बाहर आम्र वृक्षों की शीतल छाया में गणेशाचार्य ने आपको दीक्षा के प्रत्याख्यान करवाये । हजारों-हजार पुरुष आप श्री के चरणों में नतमस्तक होते हुए जय-जयकार कर उठे ।

सुयोग्य गुरु के सुयोग्य शिष्य

सुयोग्य गुरु को सुयोग्य शिष्य मिलना मुश्किल होता है। कहीं सुयोग्य गुरु होते हैं तो शिष्य योग्य नहीं होता और कहीं योग्य शिष्य होता है तो गुरु योग्य नहीं मिलते। किन्तु यहाँ सुयोग्य गुरु को सुयोग्य शिष्य प्राप्त हुआ। मुक्ति रूप साध्य भी आपका सुयोग्य है। रत्नत्रय रूप -साधना भी सुयोग्य है। इस त्रिपुटी का दुर्लभ संगम आप श्री के जीवन में सहज था। संयमी जीवन में आप विशेषतः प्रायः अप्रमत साधना में तन्मय रहते। साधु जीवन में कोई दोष लगने की संभावना हो, ऐसा कोई कार्य नहीं करते। आपकी प्रतिभा सदा आगम-मंथन में लगी रहती थी।

सर्वतोमुखी अध्ययन

आप श्री की तीक्ष्ण प्रतिभा आगमों के गूढ रहस्यों को जानने में सतत प्रयत्नशील बनी रहती थी। आपने शास्त्रीय अध्ययन के साथ ही न्याय, भाष्य, टीका, चूर्णि आदि का भी गम्भीर अध्ययन किया। षड्दर्शनों का भी आपने तलस्पर्शी अध्ययन किया था। वेदान्त, गीता, महाभारत, कुरान आदि अनेक भाषाओं के ऊपर आपने अधिकार प्राप्त कर लिया। संक्षिप्त में कहा जाय तो आप श्री ने सर्वतोमुखी अध्ययन किया था ।

संयमी जीवन

आपश्री अत्यन्त विनम्र थे। गुरुदेव के इंगितानुसार आचरण करने वाले थे। आप अपने गुरुदेव के प्रति ही नहीं, अपने सभी ज्येष्ठ गुरु भ्राताओं के प्रति भी विनम्रशील और उदार थे। आपश्री सदा रत्नत्रय– सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शन सम्यक्चारित्र की आराधना में तन्मय रहते थे। परीषह एवं उपसर्गो को आपश्री समभाव पूर्वक सहन करते थे।

मिट्टी का कलश

जब मिट्टी अपने को कुम्भकार के हाथों में अपना समर्पण कर देती है, तब कुम्भकार मिट्टी में पानी मिलाकर उसे रौंद डालता है और लौदा बनाकर, चाक पर चढ़ाकर उसे घट रूप दे देता है। आग में पका कर उसे परिपक्व बना देता है। तभी वह घट वनिताओं के सिर पर चढ पाता है। ठीक उसी प्रकार आपश्री ने भी अपना जीवन सर्वतोभावेन गुरु के चरणों में समर्पित कर दिया था। आपकी समर्पणा साधना बहुत ही विलक्षण प्रकार की थी। दीक्षा अंगीकार करने के बाद स्वास्थ्य को लेकर आपने एक दो चातुर्मास अलग

किये, बाकी सभी वर्षावास गुरुदेव की सेवा में ही किये। गणेशाचार्य ने आपश्री के समर्पित जीवन को बहुत ही तन्मयता के साथ निर्मित किया। परिणामस्वरूप आज भी आप हजारों के मस्तक पर चढ़े हुए है ।

गुरुदेव की सेवा में गुरुदेव

स्वर्गीय गुरुदेव गणेशाचार्य जब उदयपुर में स्थिरवास के रूप में विराजे हुए थे, तब आप भी वहीं रहकर गुरुदेव की तन्मयता के साथ सेवा करते थे। गणेशाचार्य के सर्वतोमुखी जीवन से सारा जैन समाज अच्छी तरह परिचित था। आप श्री की संयमनिष्ठा एवं सिद्धान्तों का अनुपालन बेजोड़ था। जनता ने जब गणेशाचार्य के स्थिरवास के विषय में सुना तो वह उनके दर्शन के लिए उमड़ पडी। दर्शनार्थियों का प्रायः तांता–सा लगा रहता था।

आचार्य श्री गणेश की सत्य अभिव्यक्ति

गणेशाचार्य के स्वास्थ्य में दिन–प्रतिदिन गिरावट देखकर श्रावक लोग चिंतन करने लगे–भविष्य में संघ को संभालने वाला कौन सुयोग्य शासक होगा ? उस समय आप श्री (नानेशाचार्य) जन–सम्पर्क से प्रायः निर्लिप्त थे, आपकी साधना अन्तर्मुखी ही अधिक बनी हुई थी, संघ के अनुयायी आपकी योग्यता का यथेष्ट अंकन नहीं कर पाये थे, इसलिये वे एक दिन इसी विचारणा में गणेशाचार्य की सेवा में पहुंच ही गये और अपनी अन्तः संवेदना अभिव्यक्त कर डाली, तब गणेशाचार्य ने स्मित के साथ कहा कि–आप लोगों को चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं हैं, मैं ऐसा गुदड़ी का लाल दूंगा, जिसे देखकर आप आश्चर्य करेगें, उसके द्वारा शासन प्रभावना देखकर तो कहीं तुम मुझे भी भूल जाओगे।

युवाचार्य पद पर

संवत् २०१६ आसोज सुदी दूज, उदयपुर के राजमहलो में लगभग ३०–३५ हजार जनता के बीच आपश्री को गणेशाचार्य ने चादर प्रदान की, चादर प्रदान करने से पूर्व तक सूर्य घटाटोप बादलों से आच्छादित था, किन्तु जिस समय आपको युवाचार्य पद की चादर दी गई, उसी क्षण सूर्य बादलों को चीरता हुआ बाहर आ गया, वह इसी बात का प्रतीक था कि जिस प्रकार बादलों को हटाकर सूर्य प्रकाशमान हो रहा है, उसी प्रकार आपश्री भी सभी आगत विपत्तियो को हटाते हुए भू–मण्डल मे प्रकाशित होंगे। उस विलक्षण छटा को देखकर संघ के अधिकारियो को यह विश्वास हो गया कि वास्तव में आप संघ के जाज्वल्यमान नक्षत्र होंगे।

आचार्य पद पर

माघ कृष्णा दूज को गणेशाचार्य जब संथारापूर्वक पंडितमरण को प्राप्त हो गये, तब आपश्री आचार्य पद पर आसीन हुए। उस समय संघ एक विकट मोड़ पर खड़ा था। श्रमण संघ से गणेशाचार्य के विलग हो जाने से प्रायः श्रमणसंघ इस साधुमार्गी संघ से विपरीत हो गया था। स्थान–स्थान पर ऐसा प्रचार–प्रसार किया जाने लगा कि आचार्य श्री को ठहरने के लिए स्थान नहीं देना, आहार पानी नहीं बहराना, व्याख्यान नहीं सुनना आदि। लेकिन सूर्य की प्रचण्ड रश्मियों के सामने अंधकार कितने समय तक रूक सकता है। आखिर उसे भागना ही पड़ता है। उसी प्रकार आप श्री के विशुद्ध संयम प्रखर प्रतिभा, विलक्षण विद्वता एवं अपरिमेय पुण्य के समक्ष कुप्रचारकों का अंधकार हटता चला गया। प्रचण्ड सूर्य के प्रकाश की भाँति आपका गौरव बढता ही चला गया।

विश्व-शांति का उपाय-समतादर्शन

जब आप आचार्य पद पर आसीन हुए तब आप श्री को एक विचार आया कि मैं तो अपनी साधना कर ही रहा हूं, किन्तु मानव जगत् के लिए कौन-सी ऐसी व्यवस्था दी जाय, जिससे वे भी शांति के वातावरण मे जी सकें। इस ज्वलन्त प्रश्न का समाधान पाने के लिए आप विचारों की गहराइयों में उतरे आखिर आपने समाधान खोज ही लिया। वह था-समता दर्शन और व्यवहार। समता के धरातल पर अगर व्यक्ति से लेकर विश्व तक की व्यवस्था की जाय तो शांति का सुखद वातावरण फैल सकता है । विषमता की धू-धू करती आग शांत हो सकती है।

अनेक दार्शनिकों ने विश्व की समस्या पर बहुत विचार किया। कुछेक समस्याओं को जनता के समक्ष रखा भी सही किन्तु उसका समाधान क्या हो सकता है ? इसके लिए बहुत कम लोगों ने अपने विचार व्यक्त किये। किन्तु आचार्य प्रवर ने विश्व की विषम समस्याओं को रखते हुए समता का सचोट एवं व्यावहारिक समाधान भी जनता के समक्ष रखा। समता सिद्धान्त के द्वारा विश्व की विषमताओं, समस्याओं का समाधान भी किया जा सकता है। इस सिद्धान्त की इतनी अधिक व्यापक विवेचना है कि अन्य सभी उपायों का इसी में समावेश हो जाता है। समता सिद्धान्त के धरातल पर यदि व्यक्ति, परिवार, समाज गांव, नगर, प्रान्त, राष्ट्र एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर व्यवस्था की जाय तो सर्वत्र शांति का प्रसार हो सकता है । आचार्य प्रवर ने समता-दर्शन को मुख्यतया चार विभागों में विभक्त किया है – (१) समता सिद्धान्त-दर्शन (२) समता जीवन दर्शन (३) समता आत्म-दर्शन (४) समता परमात्म-दर्शन।

पहले के दो दर्शन तो जीवन की शुद्धि के मूल हेतु हैं, जहा सिद्धान्त दर्शन द्वारा व्यक्तियो के विचार शुद्ध और परिष्कृत किये जाते है, वहा जीवन–दर्शन उनके आचरण मे शुद्धिलाता है। आत्मदर्शन और परमात्मदर्शन जीवन शुद्धि की ओर अधिक आगे बढाते हुए शाश्वत शांति–प्रदायक बनते हैं।

दुर्गम पथ पर अविराम गमन

विश्व की विषमता भरी विकट समस्या की समाहिति समतादर्शन के द्वारा अच्छी तरह की जा सकती है। दार्शनिक जगत मे आचार्य प्रवर की यह एक अपूर्व देन रही है। इसी कारण आपश्री को समता–दर्शनप्रणेता की सार्थक उपाधि से विभूषित किया गया।

साधना और संयम के दुर्गम पथ पर

आप निरन्तर आगे बढते ही चले गये। भंयकर परिस्थिति का भी आपने समता के धरातल पर धैर्य के साथ सामना किया। किसी भी परिस्थिति में घबराना क्या होता है, मानो यह तो आप जानते ही नहीं हैं। आचार्यप्रवर का उपदेश आगमिक धरातल पर वैज्ञानिक, संयुक्तिक एवं व्यवहारिक रीति के साथ संसार के यथार्थ स्वरूप की अभिव्यक्ति करने वाला है।

भागवती दीक्षाएँ

आपको आचार्य पद प्राप्त किये हुए अब तक ३८ वर्ष हो चुके हैं। इस ३८ वर्ष के अल्पकाल में आपश्री ने शासन की अत्यधिक प्रभावना की है। अब तक ३५० के लगभग आत्माओं को प्रव्रजित कर आगार से अनगार धर्म में प्रवेश दिया है। एक साथ ६, ६, २, २, ५, १५, २१, २५ दीक्षाएं भी आचार्य प्रवर ने प्रदान की है। जो कि गत सैकडों वर्षों में भी स्थानकावासी समाज में

इसका उत्तर दिया– किं जीवनम् ?

"सम्यक् निर्णायकम् समतामयन्च यत् तज्जीवनम्"

सम्यक् निर्णायक और जो समतामय हो, वही राच्चा जीवन है। आपश्री ने इसी एक सूत्र की विवेचना पूरे वर्षावास मे फरमाई थी। प्रवचनों का संकलन *"पावस प्रवचन"* के नाम से कई भागो मे प्रकाशित पुस्तकों में मिलता है।

ध्याता–विधाता समीक्षण ध्यान के

आज के युग में ध्यान की बहुत चर्चा है। जनता के सामने विविध प्रकार की ध्यान प्रक्रियायें सामने आ रही हैं। लेकिन उन ध्यान–प्रक्रियाओं में जनता को पर्याप्त संतोष नहीं हो पाया। आप श्री महान् ध्यानयोगी हैं। आप श्री की ध्यान–साधना अत्यन्त गहराइयों में उतरने वाली होती है। आप श्री से कई प्रबुद्ध वर्ग ने ध्यान के विषय में चर्चा रखी तो आपश्री ने तनावमुक्ति के साथ आत्मशांति देने वाले *"समीक्षण ध्यान"* की अभिनव विवेचना जनता के सामने रखी। समीक्षण अर्थात् सम्यग् ईक्षण देखना । सम्यग्–समता–पूर्वक अखिल जगत् का ईक्षण देखना। जब यथार्थता के परिप्रेक्ष्य में देखने की स्थिति हमारी बनेगी, तभी तनावमुक्ति एवं आत्मशांति हमें मिल सकती है। इस प्रकार आप श्री की वृत्ति नये–नये रहस्यों का अवधान खोज करने की रही है।

विहारचर्या

आपश्री का अब तक विशेषतः विचरण मेवाड़, मारवाड़, मालवा, राजस्थान, गुजरात, सौराष्ट्र, महाराष्ट्र, उड़ीसा, दिल्ली, हरियाणा, उत्तर प्रदेश आदि प्रान्तों में हुआ है। आपश्री की गुण–गरिमा का विस्तार बहुत व्यापक रूप से भू–मण्डल पर हो रहा है। जिस प्रकार अनन्त आकाश के कोई बंधन नहीं होता, उसी प्रकार आपश्री के गुणसौरम के प्रसंग में किसी प्रकार का बंधन नहीं हैं।

साहित्य की दिशा में

आचार्य देव का व्यक्तित्व जितना विशुद्ध रूप से निखरा है, तो कृतित्व भी उतना ही विशुद्ध रूप से निखरा है। विश्व की विषाक्त विषमता का विनिवारण करने के लिए *"समतादर्शन और व्यवहार"* नामक पुस्तक में आचार्य देव का मौलिक चिंतन अन्तस्तल की गहराइयों से प्रादुर्भूत हैं, साथ ही मानसिक टेन्सन को समाप्त कर शांति देने वाला समीक्षणध्यान भी आचार्य देव की अन्तश्चेतना का ही स्फुलिंग है। इसके अतिरिक्त आचार्यप्रवर के तत्वाधान में *"कर्मप्रकृति"* जैसे गहन ग्रंथ का संपादन–अनुवादन हुआ है। स्वयं आचार्य प्रवर ने आचारांग सूत्र, भगवती सूत्र, अन्तदृशांग सूत्र, कल्प सूत्र, आदि अनेक शास्त्रों पर आगम सम्मत हृदयस्पर्शी अभिनव विवेचना प्रस्तुत की है। गहरीपर्त के हस्ताक्षर आपश्री के चिन्तन की मौलिक कृति है। समीक्षण धारा, पर्दे के पीछे, क्रोध समीक्षण, मानसमीक्षण, मायासमीक्षण, लोभसमीक्षण, आत्मसमीक्षण से जीयें, आदि ध्यान और समीक्षण संबंधी महत्वपूर्ण साहित्य है। इसके अतिरिक्त सिद्धान्त दक्षता को उजागर करने वाला आप श्री का अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रन्थ है – जिण धम्मो। मानव मात्र के विचारों को परिष्कृत

करने में समर्थ है। आपश्री की कृति आचार्य श्री नानेश विचार दर्शन आप ही के द्वारा परिष्कृत एवं सत्सान्निध्य मे रचित "जवाहराचार्य यशोविजय महाकाव्यम्" भी संस्कृत के महाकाव्यों की दिशा मे एक महत्वपूर्ण कृति है। कथाओं के रूप में आपश्री के प्रवचनो से संकलित नल–दमयन्ती दो भाग, लक्ष्यवेध कुंकुम के पगलिये महत्वपूर्ण कृतियां है। प्रवचन साहित्य भी विविध रूप मे प्रकाशित हो चुका है। आचार्य प्रवर के कृतित्व जीवन का निखार भी सर्वतोमुखी हुआ है। अनेक महत्वपूर्ण ग्रंथों का प्रणयन हो चुका है। आचार्य प्रवर की यह अनुपम देन मानव मात्र के लिए अत्यन्त उपयोगी है।

सैद्धान्तिक एकता के हिमायती

आचार्य प्रवर को मंचस्थ एकता कभी नहीं भाई। अर्थात् एक मंच पर बैठकर भाषण दे देना और बाद मे परस्पर एक दूसरे की निंदा करना अभीष्ट नहीं रहा है। वे सदा सैद्धान्तिक एकता के पक्षधर रहे हैं। स्व. इतिहास मार्तण्ड, आचार्य श्री हस्तीमल जी म.सा. से भी सैद्धान्तिक धरातल पर एकता हुई है।

जैन धर्म का सर्वाधिक महान् पर्व संवत्सरी एक करने के लिए भी आचार्य प्रवर के विचार स्पष्ट रहे हैं कि सारी जैन समाज या श्वेताम्बर समाज एक होकर जो भी तिथि दें, मैं उस दिन संवत्सरी मनाने के लिए तैयार हूं। इस प्रकार का उदार दृष्टिकोण अन्यों मे न आने से अभी तक संवत्सरी एक नहीं हो पाई है।

युवाचार्य की नियुक्ति

आप श्री ने आज से ८ वर्ष पूर्व साधुमार्गी संघ का उत्तरदायित्व, तरूण तपस्वी, सेवाभावी शास्त्रज्ञ श्री रामलालजी म.सा. के कंधों पर दे दिया है। उन्हें संघ का युवाचार्य बना दिया गया है। इसके कोई ४ वर्ष बाद कुछ मत भेद को लेकर संघ में कतिपय साधु–साध्वियों का निष्कासन/बहिर्गमन हुआ है। उस समय संघ में भारी ऊहापोह होना, सहज था। उस विकट समय में इस वृद्धावस्था के होते हुए भी आचार्य प्रवर ने अपूर्व साहस एवं विशिष्ट समता का परिचय देकर संघ को सुस्थिरता प्रदान की है। शरीर के रूग्ण होने पर भी बीकानेर से उदयपुर तक विहार करके संघ संगठन एवं जनजागरण का शंखनाद कर सुषुप्त चेतना जगाई है। उस समय किडनी, ब्लड प्रशेर आदि अनेक व्याधियों के होते हुए भी सहनशीलता का अनूठा परिचय दिया। बल्कि जीवैषणा, लौकेषणा से जिनकी चेतना ऊपर उठ चुकी है। दवा आदि बाह्य उपचारों से जो परे हट चुके है। डाइलेसिस करने की स्पष्ट इन्कारी कर दी। यहां तक कह दिया। जब भी ऐसा समय आएगा। मैं संथारा ग्रहण कर लूंगा। लगता है वे भौतिक देह में रहकर भी अभौतिक साधना में लगे है। आत्मशक्ति के जागरण की अपूर्व साधना कर रहे हैं। ऐसी महाशक्तिशाली आत्मा को श्रद्धा समन्वित अगणित प्रणित वन्दन–वन्दन–वन्दन।

कुछ उपयोगी घटनाएँ

१. आचार्य प्रवर साधु जीवन मे गी बहुत ही कम बोलते थे। आवश्यक वात को भी सीमित शब्दो में प्रस्तुत करना आप की खासियत रही हैं। एक महाराज श्री सदा फरमाया करते थे कि नानालाल जी तो घडी के घंटे की तरह टाइम पर बोलते हैं, जो सभी सुनना चाहते है।

२. इस विशाल संघ के संचालन में ऊंची–नीची स्थिति जब तब आती रही है। उस समय भी आप चिंता से सदा दूर रहे। प्रखर चिंतन से गूंथी सुलझाते रहे।

३. आपका यह सिद्धान्त रहा है– बहुत कुछ सम्यक् विचार पूर्वक, सम्यक् लक्ष्य के लिए सत्पुरुषार्थ करते हुए भी कभी काम बिगड़ भी जाय तो मत घबराइये। वह भी अच्छे के लिए हुआ। उसका भविष्य अच्छा है।

४. आचार्य को किसी की सेवा करना अनिवार्य नहीं होता। परन्तु आप सदा सेवा करने में अग्रणी रहे हैं। आपने गुरु की तो सर्वात्मभावों से सेवा की ही थी पर अपने शिष्यों की भी लगन से सेवा करते रहे हैं। इसके पचासों उदाहरण मिल जाएंगें । एक संत को रात को उल्टी दस्ते कई बार हुई, पर किसी अन्य संत को नहीं जगाकर खुद ही सब कुछ साफ करते रहे। किसी को रात में पेट दर्द हो गया तो अपना ध्यान छोड़कर घंटों उसके पेट पर हाथ फेरते रहे। दिन में भी किसी की दवा के लिए तो किसी की आहार के लिए सेवा करने हेतु तत्पर रहते रहे हैं। बहुत कुछ मना करने पर भी वे सेवा करना नहीं छोड़ते हैं। आज भी वे अपनी तबयित ठीक न होने के बावजूद भी दूसरों की सेवा करनी हो तो तैयार रहते हैं। अभी ३ वर्ष पहले बीकानेर हास्पिटल में आचार्य प्रवर के आँख

का ऑपरेशन हुआ। मैं भी वहीं था। इसी बीच मुझ (ज्ञानमुनि) को बुखार आ गया। तो सेवा की तत्परता देखिये । आँख पर पट्टी बंधी है तथापि किसी भी संत को बताए बिना अकेले ही एक भाई को साथ ले जाकर गृहस्थ के घर से दूध लेकर मेरे पास पधार गए कि लो दवा ले लो, यह दूध है। इससे आचार्य प्रवर की सेवाभावना का सहज अंदाज लगाया जा सकता है ।

५. संघ में किसी भी संत–सती वर्ग के द्वारा कुछ भी अविनय या अनियमित काम हो जाने पर भी आचार्य प्रवर कभी गुस्सा नहीं करते। उसे प्रेम से समझाकर उसकी मानसिकता को धोने का प्रयास करते हैं। आचार्य प्रवर की यह धारणा रही है कि किसी को गुस्से से दबाया जा सकता है, बदला नहीं जा सकता। इसलिए वे सभी को प्रेम से ही समझाते रहे हैं। यही कारण है कि आचार्य प्रवर ने संघ पर अनुशासन दबाव से नहीं दिल पर चलाया हैं।

६. आज जैन समाज के बहुत बड़े बल्कि सबसे बड़े कह दूं, तब भी अतिशयोक्ति नहीं होगी। इतने बडे आचार्य होने के बावजूद भी अंहकार से दूर रहे हैं । जब भी अपने परिचय देने की बात आती तब यही फरमाते, मैं तो नाना हूं। (बच्चा हूं) नाना का अर्थ बच्चा ही होता है। अपने शिष्य – शिष्याओं का इतना विशाल परिसर होने के बावजूद भी यही फरमाते रहे है यह मेरे भाई–बहिन हैं। आप सब इस संघ के अंगभूत है। मैं भी एक सदस्य हूं ।

७. अपने पर्सनल काम के लिए किसी को भी कम ही संकेत करते हैं। प्यासे रह जाते हैं पर आदेश देकर पानी नहीं मंगवाते। स्वयं जाकर

पानी पी लेंगे। वैसे तो संत महापुरुष समय के साथ पानी लेकर पहुच जाते है। पर कभी यदि ध्यान न रहे तो अखर ने वाली तो बात ही नहीं। बल्कि स्वयं ही पानी पी लेते है । अतः किसी को काम करने के लिए कहते भी नहीं है और कोई करता है तो उसका मन रखने के लिए निषेध भी नही करते। कभी सेवा की और कभी किसी ने नहीं भी की तो भी आक्रोश नहीं कि तुम समय के साथ काम नहीं करते हो। तुमसे काम नहीं कराऊँगा। ऐसा कुछ नहीं, समता को कहा ही नहीं जीवन मे रमाया है।

८. आचार्य प्रवर किसी भी घोषणा के करने में "अन्तरात्मा की" छूट रखते है। अर्थात् आज कोई घोषणा करी और भविष्य मे अन्तरात्मा को नहीं जंची तो बदल सकता हूं। वे अन्तरात्मा की आवाज को महत्व देते रहे हैं। अन्तरात्मा की आवाज महत्वपूर्ण होती है। वह कभी गलत नहीं जाती। उन्होंने भव्यों को संकेत दिया है कि वे भी अन्तरात्मा की आवाज को पहचाने। उसके अनुसार चलने वाला आदमी कभी धोखा नहीं खाता।

९. छोटे से छोटे साधु का वे पूरा सम्मान रखते है। यदि किसी कारण वश छोटा सा साधु भी आहार न करें तो आचार्य प्रवर स्वयं खाना छोड़ देते हैं। पहले उसका समाधान कर उसे खाना खिलाएंगे फिर खाना खाएंगे। यह उनका स्वभाव रहा है।

१०. किसी को पातरे पोंछने में, किसी के कपडे धोने में सहयोग करने में भी तत्पर रहते हैं। फिर भी यह नहीं जतलाते कि मैं सहयोग कर रहा हूं। बल्कि यह फरमाते हैं कि नहीं मैं तो अपने लिए कर रहा हूं।

हाथ–पैर हिलाने से शरीर स्वस्थ रहता है। इसलिए काम करना चाहता हूं। काम भी करना, जतलाना भी नहीं, यही महानता हैं।

११. यदि कोई साधु आलसी या प्रमादी भी है तो उसे बारबार कहकर नहीं, अपितु उसका काम स्वयं करके उसकी अन्तश्चेतना को जगाने का काम करते हैं। आचार्य प्रवर को सत्पुरुषार्थ करते देख सामने वाला स्वतः सक्रिय हो जाता है ।

१२. अत्यन्त प्रभावशाली आचार्य होने से भक्तों की भीड़ हर वक्त बनी रहती है। भीड़ भरे माहौल में रहकर भी एकाकी साधना करने के अभ्यासी रहे हैं। माहौल के बीच भी एकान्त साधना आश्चर्य का विषय है।

१३. साधु जीवन में जो भी भोजन लाया जाता है। सारा उसे खाना होता है। बाहर डालने पर प्रायश्चित आता है। एक बार दूध फट गया। उस समय उपस्थित कोई साधु खाने को तैयार नहीं था, तो किसी को कहने के बजाय, आचार्य प्रवर स्वयं सारा फटा दूध पी गए। धर्मरूचि की तरह।

१४. एक बार किसी बात को लेकर किसी दिन साधु–साध्वियों की सभा में भारी विवाद हो गया। आचार्य प्रवर भी विराज रहे थे। वे शांति के साथ सुन रहे थे। उन्होंने किसी को भी कुछ कहने की बजाय इतना ही कहा कि मैं अपने तप संयम में कमी समझता हूं कि मुझे यह सब देखने को मिल रहा है। इतना सुनते ही सभी साधु–साध्वी भाव विह्वल हो उठे और वातावरण शांत–प्रशांत समरस हो गया।

१५. आप श्री तृतीय पद के अधिकारी महान् आचार्य होने के बावजूद भी अपने में दीक्षा पर्याय में बडे साधु को वन्दन व्यवहार आदि से पूरा सम्मान करते रहे हैं। प्रवचन में भी पाट पर विराजने के बाद मे भी कोई आ जाते तो तुरन्त खडे होकर उसका सम्मान देते रहे हैं। विनय धर्म को जीवन में बहुत बड़ा स्थान दिया है।

१६. आप श्री सारे संघर्ष एवं विरोध को समता के साथ समाहित करते रहे हैं। रायपुर चातुर्मास में आपके नाम का पर्दा बाजार में लगाया था। जिसे मुस्लिम जुलूस में किन्ही कट्टर पथियो द्वारा फाड़ देने से दंगा भड़कने की स्थिति आने लगी। वहां के मौलवी नया पर्दा बनवाकर आचार्य प्रवर को भेंट करने आए। पर आचार्य प्रवर ने स्पष्ट फरमाया कि पर्दा फट जाने मात्र से कोई अपमान नहीं हो जाता । वैसे भी हम तो पर्दा लगाने के लिए कहते भी नहीं हैं। आचार्य प्रवर के उदार विचारों को सुनकर सभी प्रभावित हुए।

१७. चाहे कोई कितना ही सेवाभावी हो या फिर विद्वान् शिष्य हो या सामान्य साधु हों कोई भी संयम से विपरीत जाता है तो उन्हें मंजूर नहीं। वे उसके दोष का परिमार्जन अवश्य करते हैं। यह बात अलग है कि उनका तरीका बडा विलक्षण व विचक्षण होता है।

१८. आचार्य प्रवर ने आचार्य पद के बाद भी वर्षो तक घर-धर पधार गौचरी करते रहे। जिससे लाखों लोगों का मन जीता है। यही नहीं छोटे बडे सभी से स्नेह पूर्ण बात करना आपका नैसर्गिक गुण रहा है।

१६. निर्णय के प्रति दृढ रहना भी आपका विलक्षण गुण है। चाहे कितना ही अवरोध /विरोध होता रहे पर सत्य के प्रति समर्पित होकर आगे

बढ़ने की विशिष्ट क्षमता रही है। इसलिए विरोधी भी प्रशसंक बनते चले गए हैं।

२०. आपका जीवन चमत्कारों से भरा रहा है। साधु स्वयं कोई चमत्कार करता नहीं वह तो उसके जीवन से स्वतः हो जाता है जो भी इनके द्वार पर कुछ पाने आया है वह आपके पावन दर्शन पा निहाल हो उठा। अंधे को आंखें मिल गई तो डूबते को पतवार मिल गया। मरते को जिन्दगी मिल गई तो निर्धन भी धनवान बन गया ।

२१. आपको मानों वचन सिद्धि प्राप्त है। जो भी एक बार मुख से अचानक निकल गया, वह होकर रहा है। यह सत्य है कि साधु कमी भी भविष्य की घोषणा नहीं करते और यदि अचानक मुंह से कोई बात निकल जाय तो फिर वह होकर रहेगी। यदि घोषणा फलवान न हो तो समझो अभी साधुता में कमी है ।आचार्य प्रवर के मुंह से निकलने वाली बातें सत्य साबित हुई है। सैकड़ों संस्मरण हैं जो कि हमें जिन्दगी को सही तरीके से जीने की प्रबल प्रेरणा देते रहे हैं।

२२. आपके संयमित मर्यादित उपदेशों से देश के विभिन्न प्रान्तों में जन कल्याण के बडे–बड़े रचनात्मक कार्य आपके भक्तों ने सपन्न किये हैं। कर रहे हैं। कई स्कूलें चल रही है तो कहीं हॉस्पीटल चला रहे हैं। कहीं क्या तो कहीं क्या। पर आप श्री किसी भी संस्था में जरा भी लिप्त नहीं है पूरी तरह निष्परिग्रही रहे हैं।

आचार्य श्री नानेश का महाप्रयाण

आचार्य देव ने सघ एव समाज की हर उन्नत अवनत परिस्थितियो के बीच भी समता रखकर एक अनूठा आदर्श दुनिया के सामने प्रस्तुत किया था। प्रभु महावीर ने फरमाया है–

लामालामे सुहे दुक्खे, जीवए मरणे तहा ।
समोनिंदा पंससासु, तहा माणावमाणओ ।

साधक को लाभ–अलाभ, सुख–दु ख जीवन–मरण, निदा–प्रशसा, मान–अपमान मे समभाव रखना चाहिये।

आचार्य प्रवर ने अपने जीवन मे वीतराग देव के सदेशो को साकार कर दिखाया था। आचार्य देव की आत्मा तप–सयम, ज्ञान–ध्यान की एक जाजवल्यमान प्रकाश पुज थी। इस भौतिक पिण्ड मे रह कर हम सबको प्रकाश दे रही थी । पर तन की विनश्वरता शाश्वत है । उसे एक न एक दिन पंचतत्व मे विलीन होना होता है । उन महान् आत्मा को अपने महाप्रयाण का महीनो पूर्व आभास हो चुका था । यही कारण था कि महाप्रयाण से महीनो पहले, आहार–पानी लेना कम कर दिया । दवाइयां बद कर दी थी। डॉक्टर से चेकअप कराना बद कर दिया। यही नही सामाजिक, सघीय व्यवस्थाओ से भी वे ऊपर उठ चुके थे। उनकी आत्मा भौतिक पिण्ड मे रहकर भी अभौतिक साधन में लग चुकी है। ऐसा लगता था कि वे सथारा से पूर्व संलेखना प्रारभ कर चुके है । यह हजारो प्रत्यक्ष दृष्टा भक्तगण जानते है। अन्त मे **२७ अक्टूबर १६६६ बुधवार, कार्तिक कृष्ण तीज** को आचार्य प्रवर के पूर्ण जागरूकता–सजगता–सतर्कता मे उनके द्वारा संथारा मागने पर उन्हे सवेरे **६.४५ मिनिट** पर तिविहार सथारा करा दिया गया और शाम को **५.३५ मिनिट** पर चौविहार सथारा करा दिया गया । उसी रात्रि को **१०.४१ मिनिट** पर गुरुदेव की पावन आत्मा पूर्ण समाधि भावो के साथ इस भौतिक देह का परित्याग करके महाप्रयाण कर गई। महाप्रयाण का वह क्षण अलौकिक था। ऑखो में एक विशिष्ट तेज उभरा और

विलीन हो गया। ऐसी महान् आत्मा सदियो मे कभी–कभी पैदा होती है।

आचार्य श्री नानेश सच्चे युग पुरुष थे। युगानुगामी तो सभी होते है। पर युग को मोडने की क्षमता विरल महापुरुषो मे होती है। उनमे से एक विरल महापुरुष आचार्य देव रहे है ।

आज भले वे भौतिक देह की दृष्टि से इस दुनिया मे नही है। पर आध्यात्मिकता की दृष्टि, वैचारिक कान्ति की दृष्टि से उनके द्वारा दिये निर्देशो की दृष्टि से आज भी जीवित है।

आचार्य प्रवर ने व्यक्ति से लेकर विश्व तक शाति का प्रसारण करने के लिए विचारामृत का जो अवदान किया है, वह युगो–युगो तक भव्यात्माओ को पथ प्रशस्त करता रहेगा। यह विश्वास है।

आचार्य प्रवर के विराजते– विराजते ही उनके उपदेश, चिन्तन एव निर्देशो का संकलन प्रारभ कर दिया गया था। लेकिन समय की गति बलवान है। आज आचार्य देव भौतिक पिण्ड से विद्यमान नही लेकिन उनकी अन्तरात्मा के विशुद्ध विचारो से आज भी विद्यमान है।

हम सब विचारो का यथाशक्य अनुसरण–अनुगमन करेगे तो आचार्य देव एक–एक व्यक्ति के साथ सदा–सदा रहेगे। और एक न एक दिन हम भी उस चरम लक्ष्य को प्राप्त कर सकेगे।

प्रस्तुत है –

आचार्य श्री नानेश : जीवित हैं।

मुनि ज्ञान
उदयपुर

इस भूमण्डल पर जैसा मेरा अस्तित्व
है, वैसा सभी का अस्तित्व स्वीकार्य हैं, अतः
उनके साथ हर समय सद्व्यवहार रखना चाहिए।
भय करने कराने सरीखी कोई वात नही हैं। निर्भयता पूर्वक धैर्य के
साथ शक्ति-निर्माण में सदा यत्नवान् होना चाहिये। जो कुछ प्राप्त
है, वह अनायास मिला हुआ है, उसका सदुपयोग करने का एक
तरीका सही शक्ति-निर्माण का है। उसमें कर्त्तव्य-निष्ठा पूर्वक सदा
मस्त होकर लगे रहना चाहिए, ताकि वस्तुतः सही जीवन की स्थिति
प्राप्त करने के साथ-ही-साथ आत्मनिर्भर वन
सके और अनायास को स्वायत्त कर सके।

{दिनाकं २५.७.६५ का चिन्तन}

{3}

दृढ संकल्प के
साथ जीवन का मोड
किया जा सकता है। यह जीवन
मोड की मुख्य चावी है, अन्य सव साधन दृढ
संकल्प पूर्वक ही पुष्ट वनने
के साथ कार्य- सम्पादन करने
में समर्थ हो सकते हैं।

{दिनांक २६.७.६५ का चिन्तन}

{4}

पवित्र आत्मीय विचारों का प्रवाह
जड पदार्थ पर भी पडता हैं। उनके पर्यायों
में परिवर्तन आता है। उनकी अवस्था आत्मीय विचारों के
अनुरूप ढल जाती है। अतः जिन भी पदार्थो को जिस रूप में
मोडना हो, उस रूप में वे विचार पूर्वक योग्य संयोगों में मोडे जा
सकते हैं। यह असंदिग्ध विषय हैं। आत्मीय विचार शांत एवं
अमृततुल्य हैं, तो उन विचारों का निरन्तर व्यवस्थित संयोग जिन
परमाणु स्कन्धों को मिलेगा, वे परमाणु स्कंध शांत सुधारस
एवं अमृततुल्य अवश्य बन जायेंगे।

{दिनांक १७.७.७३ का चिन्तन}

{5}

{6}

जीवन की साधना मस्ती में हैं। विराट् विश्व में
समग्र वस्तुएँ सहायक के रूप में ली जा सकती है।
सहायक अनुकूल साधन में एवं बाधक प्रतिकूल सहायक
के रूप में हैं। कार्य-सिद्धि में अनुकूल-प्रतिकूल दोनों सामग्री अपेक्षित हैं।
अनुकूल में अधिक सावधानी तब रहेगी, जबकि प्रतिकूल सामने होगा।
साधक सोचेगा कि यदि मैंने अनुकूल सामग्री का सही प्रयोग नही किया तो
यह सामग्री प्रतिपक्षी के साथ में चली जायेगी या नष्ट हो जायेगी। ऐसी
भावना प्रतिकूल तत्त्वों की उपस्थिति में विशेष बनेगी। अतः प्रतिकूल भी
सुन्दर कार्य-सम्पादन में सहायक हुआ। इसलिए प्रतिकूल से कभी भय नही
खाकर उसे साधन रूप में मानना चाहिए। इस दृष्टि से सोचा जाय, तो
समग्र विश्व सहायक है। तब किस बात का भय तथा किसके लिए ? अतः
सदा सर्वत्र भय और चिन्ता से मुक्त होकर प्रसन्नता पूर्वक जीवन
निर्माण में लगना चाहिए।

{दिनांक १७.८.७२ का चिन्तन}

{7}

मानव ! तू मन में सोच, मुझे क्या अधिकार कि
मैं अन्य पर द्वेष करूँ, मुझे क्या हक कि मैं अन्य
पर क्रोधादि करूँ, मुझे क्या अधिकार कि मैं पर प्राणियों का
प्राणवध करूँ ! मुझे स्वयं को जो कार्य पसंद नही वह अन्य
के साथ करना कतई योग्य नही। यह अनाधिकार चेष्टा है। मैं
यदि मानव हूँ, और मुझे मानवता का सात्विक गौरव है, तो सब
के साथ समता का बर्ताव करना है यानि यथायोग्य व्यक्ति के साथ
यथास्थान व्यवहार रखते हुए स्व-पर के विकास का ध्यान
रखना है और मान-अपमान की भाषा में कभी नही सोचना हैं। जो कुछ
सोचना, विश्व-कल्याण के साथ आत्मशुद्धि का सोचना मेरा जन्मसिद्ध
अधिकार है। यह किसी भी अवस्था में, कभी नही भूलना हैं।
कोई कितना भी कुछ कहे, दबाव दें, तंग करे, सतावें। यहाँ तक कि
प्राणान्त कष्ट तक का प्रसंग आ जावे,
पर मुझे अपने जन्मसिद्ध अधिकार से अपने मन को जरा
भी नही खिसकने देना है। यही दृढ संकल्प है।

{दिनांक २.७.६८ का चिन्तन}

यदि पापो को छिपाता रहता है,
तो एक ही साथ उनका विस्फोट होता है।
किसी भी वस्तु के अतिमात्रा में एकत्रित होने
पर उभार आता ही है। प्रारम्भ से ही पापों का आहिस्ते-आहिस्ते
शमन करता रहे, यथावसर बाहर भी निष्कासित करता रहे, तो
उससे हल्का होगा तथा कभी भी विस्फोट का प्रसंग नही बन
पायेगा। व्यक्ति जीवन, परिवार, समाज, राष्ट्र तथा विश्व के समस्त
स्वरूपों का प्रायः यह अवस्थान बनता रहता है।

{दिनांक २१.८.७२ का चिन्तन}

{8}

योग साधना के कई प्रकार
और विभिन्न मत संसार में प्रचलित
है। लेकिन सहजिक योग की पद्धति प्रायः
नही के बराबर है। अतः सहजिक योग के आधार
की स्थिति को सामने रखकर पहले शरीर रचना
की आन्तरिक स्थिति में चक्र, आदि का कुछ संकेत
लेना आवश्यक है।

{दिनांक ६.१२.६७ का चिन्तन}

{9}

आज प्रातः काल एक बच्ची जोर से
रो रही थी, मानो वह असहाय हो। उसको इस
बात का ज्ञान नही कि मेरी माता ऊपर दर्शन करने
गई हैं, अभी आ जायेंगी। मैं धैर्य रखूं। यही दशा
अधिकांश प्राणियों की है। वे भी किसी सहायक के चल बसने पर
रोते हैं। उनको इस बात का ज्ञान नही कि मैं सृष्टि के मध्य में बैठा
हूँ। चिंता किस बात की ! अमुक व्यक्ति गया, तो क्या हुआ !
उसकी आत्मा का स्वरूप तो कही-न-कही विद्यमान है। समय पर
पुनः मिल सकता है। मुझे धैर्य रखना चाहिये ।

{दिनांक २३.७.६५ का चिन्तन}

{10}

{11}

जीवन में अनेक उतार-चढाव आते
रहते हैं। जिस समय मन के प्रतिकूल परिस्थिति
आये, उस वक्त धैर्य की नितान्त आवश्यकता रहती है,
क्योंकि सही मार्ग पर चलने पर भी जब विपरीत कार्य बनने लगता है तब
स्वाभाविक तौर पर मन अटपटा महसूस करने लगता है तथा उस कार्य से
पिण्ड छुडाने का सोचने लगता है। पर मेधावी पुरुषों को ऐसे प्रसंग को ही
मेधा की परीक्षा का अवसर समझना चाहिए एवं परीक्षा देने में कभी पीछे
नही हटना चाहिये। ऐसे प्रसंग जब भी आयें, तब अधिक उल्लास के
साथ उस कार्य का संपादन करना चाहिए। ऐसे
प्रसंग में जीवनी-शक्ति की वृद्धि होती हैं,
जो कि उसी के लिए हितावह है।

{दिनांक १८.८.७२ का चिन्तन}

{12}

ईर्ष्या पतन का भयंकर रास्ता है। यह
अमूल्य जीवन की धुन है। यह वह जहर हैं जो
कि जीवन को श्मशान तक शीघ्र ही पहुँचा देता है। यह
ईर्ष्या एक जीवन को नही, अनेक जीवन को नष्ट करती
है। अन्य को कम, स्वयं (ईर्ष्या करने वाले) को अधिक नष्ट करती है।
अन्य यदि अपने मन में ईर्ष्या नही लाता है, तो उसका विशेष कुछ नही
बिगडता। यत्किंचित् तद्ग्राह्यभाग पर असर होकर यथावस्थित बन जाता
है। अतः विचक्षण मानव को ईर्ष्या के चक्कर में कभी भूल कर नही आना
चाहिए। क्योंकि इससे एक तरह का विष निर्मित होता है, जो
कि किसी भी दृष्टि से हितकर नही हैं।
अतः सावधान रहना चाहिए।

{दिनांक १.८.६५ का चिन्तन}

आत्मन् ! जैसा तुम बनना पसंद
करते हो, वैसा ही प्रत्येक व्यक्ति को
देखा। तुम ईश्वर बनाना चाहो, तो हर व्यक्ति
को ईश्वर के रूप में देखो। तुम्हारे साथ कोई नीचता
का व्यवहार करता हैं, तो तुम उसकी नीचता को नीचता रूप में मत
देखो, अपितु उसको विकास की शक्ति के रूप में देखों। कोई
अच्छा कहे या बुरा, इसका
ख्याल मत करो, बल्कि पवित्र हृदय क्या
कहता है, उस पर विशेष ध्यान दो।

{13}

{14}

तुम अपने जीवन का एक
लक्ष्य निर्धारित कर लो और उसी
लक्ष्य का ध्यान रखते हुए कर्तव्य (कर्म) करते रहो,
सफलता अवश्य मिलेगी । सभी प्राणियों को
अपनी-अपनी योग्यतानुसार समानाधिकार प्राप्त है।
अतः अपनी स्वार्थपूर्ति हेतु दूसरों के अधिकारों
का हनन मत करो।

नियमित निरंतर अभ्यास एक स्वभाव-सा बन
जाता है। उसी अभ्यास में यदि विवेकपूर्वक खोज का
ध्यान रखा जाय, तो कार्मणिकी बुद्धि के साथ अत्यधिक प्रगति की
जा सकती है। पौद्गलिक आसक्ति संबंधी जितने भी भाव परिलक्षित
हो रहे हैं, वे सब कृत्रिम हैं। लेकिन लम्बे काल से निरन्तर
अभ्यासवश वे स्वाभाविक से भासित होने लगते हैं। तथा जो
स्वाभाविक भाव थे, वे कृत्रिम से लगने लगते हैं। क्योंकि दीर्घकाल
से उनका वास्तविक अभ्यास प्रायः छूट-सा गया है। सावधानीपूर्वक
वास्तविक स्वभाव को अभिव्यक्त करने के लिए विवेकपूर्वक निरन्तर
नियमित अभ्यास पुनः चालू करना अत्यावश्यक है।
{दिनांक २०.८.७२ का चिन्तन}

{15}

{16}

जन्म के साथ ही अनुकूल और प्रतिकूल दो प्रकृतियों का प्रादुर्भाव होता है, किन्तु इसका अनुभव युवावस्था में स्पष्ट रूप से होता है। उस समय प्रतिकूल प्रकृति घातक व विनाशकारी समझी जाती है और अनुकूल प्रकृति जीवन में विकास रूप से देखी जाती है। अनुकूलता की ओर झुकाव होता है, अतएव उसी को स्वाभाविक आकर्षण मानकर जीवन को ठप्प कर दिया जाता है और प्रतिकूलता को अस्वाभाविक एवं कृत्रिम मानकर उससे मुंह मोड़ लिया जाता है, किन्तु विचार किये बिना ही अनुकूल प्रकृति के प्रति आकर्षण और प्रतिकूल प्रकृति के प्रति उदासीनता कहां तक उचित है ? क्या यह जड़ता अथवा संकल्प–शून्यता नहीं है ? सहसा किसी भी प्रकृति के चक्कर में आ जाना खतरनाक है। अतः विवेकपूर्वक दोनों प्रकृतियों से संघर्ष करता हुआ प्रगतिशील मनुष्य ही पूर्ण विकास कर सकता है। अतः संघर्ष सजीवता का द्योतक है।

{17}

जो इष्ट देव का स्मरण करता है–वह अपनी आस्था का परिचायक होता है। यह आस्था जितनी सुदृढ़ होती है, पथिक का साहस उतना ही सुदृढ़ बनता है और यह आस्था जब अटल बन जाती है तो पथिक भी अजेय हो जाता है, तब वह आपत्तियों को जीत लेता है– आपत्तियां उसे पराजित नहीं कर पाती है। जब संकल्प शिथिल होने लगता है और पुरुषार्थ मंद बन कर साहस टूटने लगता है, तब अमिट आस्था का सम्बल उस हारे पथिक का पल्ला थाम लेता है। वह फिर सन्नद्ध हो जाता है आगे बढ़ने के लिये और हिम्मत के साथ आगे चल पड़ता है क्योंकि उसे अनुभूति मिल जाती है प्रभु के दर्शन की एवं अपनी ही आन्तरिक शक्ति की। उसकी अटल आस्था तब उसे आत्म–विकास के पथ से डिगने नहीं देती है।

वर्तमान मानव ने भौतिक सुख सुविधाओं के क्षेत्र मे कितनी ही प्रगति की हो, किन्तु इन सुख सुविधाओ की चन्द लोगों के लिये सुलभता और बहुसंख्यक के लिये दुर्लभता होने के कारण मनुष्य में जो उद्यम लालसाएं एवं वितृष्णाएं जागी है, उनके कुप्रभाव से वह दयनीय पतनावस्था की ओर आगे से आगे कगार तक बढ़ता ही जा रहा है। आज उसका जीवन विषमताओं से भरा है, क्लेश पूर्ण है तथा विकृतियों से अशांत बना हुआ है।

{18}

{19}

जितना कुछ आज का मानव अपने आप को सभ्य संस्कारों में बढा–चढा मानता है, भौतिक विज्ञान के संबंध में अत्यधिक उच्च स्तर की बात करता है, उतना ही उसका आन्तरिक जीवन ठीक इसके विपरीत ज्ञात होता है।

धैर्य कभी नहीं छोडना चाहिये। कर्तव्य निष्ठा से सत्य कर्म करने वाले को आपत्तियां आने पर भी सफलता अवश्य मिलती है। निष्काम भाव से कर्तव्य पालन करने वाले को सर्वतोमुखी फल अवश्य मिलता है, जिससे वह उन्नति के शिखर पर पहुंच सकता है। 'अमुक कार्य करूं, पर मेरे पास साधन नहीं है, ऐसा चिंतन उसके मन की अपरिपक्तवता का द्योतक है। अगर वह सच्चे दिल से कार्य में लग जाय, तो सभी प्रकार के साधन, मिठास पर चींटियों की तरह सहज ही उसके पास आ जायेंगे।

{20}

{21}

पशु–पक्षियों में भी समाज–व्यवस्था देखी
जाती है। उनमें किसी को अपराध करने पर
सामूहिक या व्यक्तिगत दण्ड मिलता है। पशु–पक्षियों
में जैसे भी अनुकूल या प्रतिकूल साधन होते हैं, उसका
वे यथावसर उपयोग करते हैं। जब कभी विजातीय
आक्रमण होता है, तो स्वजातीय अपराधों को गौण कर
वे सामूहिक एकता से प्रत्याक्रमण करते हैं। उनमें भी
साम्राज्यवृत्ति और समाजवादवृत्ति दोनों ही पाई जाती
है। अनुशासन–व्यवस्था इनमें अच्छी होती हैं। उनमें
ईमानदारी अधिक होती है, बेईमानी बहुत कम। उनमें
प्रेम या मुग्धता भी अपेक्षाकृत अच्छी होती है। उनकी
अपनी सांकेतिक भाषा होती है। आज का मानव
जरा तुलना करे अपने आप से इसकी।

{22}

प्रिय और अप्रिय का व्यवहार काल्पनिक
है। वस्तुत: प्रिय और अप्रिय नाम की कोई वस्तु
ही नहीं है। एक ही वस्तु एक को प्रिय और दूसरे को
अप्रिय, किसी तीसरे को न प्रिय और न अप्रिय हो सकती
है। एक ही वस्तु विभिन्न भावनाओं का निमित्त बनकर
विभिन्न भावनाओं के अनुसार उपस्थित होती है। उसमें
केवल प्रियत्व मान बैठना वस्तु स्वरूप के ज्ञान से दूर जाना है।
एक ही व्यक्ति जिस वस्तु के साथ प्रियत्व की
कल्पना कर कुछ समय के लिए सद्व्यवहार करता है,
वहीं व्यक्ति समय परिवर्तन के बाद उसी वस्तु के साथ
अप्रियत्व की कल्पना से दुर्व्यवहार करने लग जाता
है। अतः प्रियत्व और अप्रियत्व के काल्पनिक
स्वरूप को समझना चाहिए।

मामूली–सी वैभव पाकर आपे से
बाहर होना क्षुद्र मन का काम है। मन
को शिक्षा से अनुशासित करना चाहिए। शिक्षा
का वास्तविक ध्येय, विज्ञानपूर्वक शरीर का उपयोग
होना चाहिए। अक्षरीय ज्ञान की ऊंची–से–ऊंची डिग्रियां
प्राप्त कर लेने के बावजूद जो जीवन का विवेकपूर्वक
उपयोग नही कर पाता, वह जडबुद्धि कहा जा सकता है।
अक्षरीय ज्ञान विशेष नही होने पर भी जो विवेकपूर्वक
जीवन का उपयोग करता है, वह वास्तविक
शिक्षाविद कहा जा सकता है।

{23}

{24}

इंसान की बुद्धि नदी के
पानी की तरह प्राय अपने दायरे
में घूमा करती है। कभी–कभी तूफान
आने पर नदी का पानी इधर–उधर फैलकर
नई नदी भी तैयार करता है। वैसे ही
मनुष्य की बुद्धि भी कभी–कभी
नया रास्ता एवं नई वस्तु का
निर्माण भी करती है।

संसार दर्शन से हटकर जो आत्म–दर्शन
की ओर सम्पूर्ण निष्ठा से आगे बढ़ता है, उसका
सम्बल होता है परमात्म दर्शन। परमात्म स्वरूप के
चिंतन से इस आत्मा को उसका सही लक्ष्य प्राप्त होता
है और आत्म–दर्शन की सच्ची अभिलाषा बनती है। सच्ची
अभिलाषा के साथ उग्र पुरुषार्थ जागता है तथा उग्र
पुरुषार्थ के बल से आत्मा की मलिनता दूर की जाती है।
स्वच्छ आत्मा की अर्न्तदृष्टि दिव्य बन जाती है और वही
दिव्य दृष्टि परमात्म स्वरूप की होती है। दर्शन की
सच्ची अभिलाषा कभी अपूर्ण नहीं रहती।

{25}

{26}

आज के दिन भारतीयों के हाथ में राजसत्ता आई। अतएव आज का दिन स्वतन्त्रता–दिवस के रूप में मनाया जा रहा है। यह स्वतन्त्रता नाम मात्र के लिए कही जा सकती है, वास्तविक नहीं। क्योंकि, वास्तविक स्वतन्त्रता की ओर अभी तक अधिकांश भारतीयों का लक्ष्य ही पूरा नहीं बना है और जब तक लक्ष्य पूरा नहीं बनता, तब तक उसके लिए उत्सव मनाकर वास्तविक स्वतन्त्रता प्राप्त करने का प्रयास किया जा रहा है–यह भी एक कथनमात्र है। क्योंकि बिना लक्ष्य का प्रयास पागलों का होता है, इंसानों का नहीं। इंसानों का लक्ष्यपूर्वक प्रयास होता है, उसके लक्ष्य में स्वार्थ की तिलांजलि होती है। गुटबंदी या संकुचित दायरे का नामो, निशान तक नहीं रहता। विचार स्वातन्त्रय और एकत्व एकांगी भाव से रहते हैं। विद्वेष, ईर्ष्या व कलह का अत्यन्ताभाव रहता है। सभी के समान विकास की भावना का प्राबल्य रहता है। गुलामी व हीनता के भावों के बीज तक का वपन नहीं होता और जिसमें चरम विकास का अन्तिम लक्ष्य भी पूर्ण मात्रा में विद्यमान रहता है, वही वास्तविक लक्ष्य कहा जा सकता है और उसी के लिए प्रयास, मानवीय जीवन का प्रयास कहा जा सकता है।

{27}

जंगल के एक कोने से सुगन्धित पुष्प खिलकर विकसित होता है। वह बिना किसी की प्रेरणा के अपने आपको सुगन्धित गुणों से परिपूर्ण कर लेता है। उसकी सुगन्ध समस्त विश्व के लिए होती है, न कि व्यक्ति विशेष के लिए। वह यह इच्छा नहीं करता है कि मेरी सुगन्ध विश्व के प्राणी आकर लें ताकि मैं उनके द्वारा विश्व–प्रसिद्ध होऊं और न वह यह चिंता ही करता है कि अगर विश्व के प्राणी न आये और मेरी सुवास न लें तो मेरा इस संसार में पैदा होकर विकसित होना व्यर्थ चला जायेगा तथा मैं संसार का कोई उपकार न कर सकूंगा। जिन सुगन्धित गुणों का विकास हुआ है, वे कभी व्यर्थ जाने के नहीं। संसार के प्राणी उन गुणों को पहचान सकें या नहीं, यह बात दूसरी है। किन्तु वे गुण समान रूप से संसार के कौने–कौने में फैलकर विश्व का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से उपकार ही करते हैं, वे अंशमात्र भी व्यर्थ नहीं जाते।

व्यक्ति-स्वातन्त्रय जीवन का
स्वाभाविक अधिकर है इस पर प्रतिवन्ध
कही पर नही होना चाहिए, मगर समाज के
सामान्य नियमों से व्यक्ति को अलग भी नही होना चाहिए।
व्यक्ति-समूह ही समाज है। विकास व साधन
की दृष्टि से उसकी परमावश्यकता है। मगर
वह प्रामाणिक व्यक्तियों का समाज हैं
"प्रामाणिकता सद् आचरण से आ सकती
है, कहने मात्र से नही।

{28}

{29}

यदि इंसान शांत मस्तिष्क
से दृढ संकल्पूर्वक क्रियात्मक रूप
से कार्य मे लग जाय तो संसार की कोई भी ताकत
उसे असफल नही कर सकती। फल को देखने
वाला आगे नही बढ सकता। कर्तव्य को देखने
वाला ही आगे वढ सकता है।

संघर्ष ही जीवन है। संघर्ष के बिना
जीवन जडतुल्य कहा जा सकता है। प्राणी का
विकास संघर्ष से ही हुआ और होता रहेगा। एक मनुष्य किले के
अन्दर रहकर ही युद्ध करता है, दूसरा मैदान
में आकर। अन्दर वाला कम शक्ति होते हुए भी अधिक कामयाब हो
सकता है बजाय् मैदान वाले के। मगर इसका यह मतलब नही कि
वह मैदान में आये ही नही। मैदान में आये बिना उसको पूर्ण
सफलता नही मिल सकती। किले के अन्दर रहकर आत्मशक्तियों को
मजबूत व पूर्णतः अधीनस्थ कर ले। इसके बाद वह
मैदान में उतरे तो कहीं पर भी उसको
असफलता नही मिल सकती ।

{30}

{31}

आज की युवा पीढी अपने स्वस्थ विकास
के लिये चिन्तित है। उसकी प्रतिभा विकसित हो
रही है, उसके अन्दर उमंग है, उत्साह है तथा वे युवक
अपनी जिन्दगी मे कुछ कर गुजरना चाहते हैं। उनकी अपनी जिज्ञासाएँ
हैं, परन्तु इसके साथ ही उनको सही मार्गदर्शन की आवश्यकता हैं।
उनको श्रेष्ठ सहयोगी मिले तथा उनको श्रेष्ठ ग्रंथ उपलब्ध करायें जायें,
फिर उनको स्वाध्याय की ओर मोडा जाय ताकि वे ही स्वयं अध्ययन और
चिन्तन करके अपने विकास की दिशा का निर्णय करें। यदि युवा पीढी
अपने स्वस्थ विकास का -अपने आन्तरिक संशोधन का आध्यात्मिक मार्ग
पकड लेती है तो फिर सारे राष्ट्र का तथा राष्ट्र के भविष्य का श्रेष्ठ
निर्माण करने में कोई बाधा नही रहेगी। इसलिये श्रेष्ठ एवं निपुण बुद्धि के
विकास के लिये स्वाध्याय की नियमित्त वृत्ति सभी को बनानी चाहिये तथा
युवा पीढी को स्वाध्याय के
प्रति विशेष आकर्षित किया जाना चाहिये।

{32}

वह मेरा सत्कार करेगा, मुझे नमस्कार करेगा,
मेरी प्रशंसा करेगा, अतः मैं उसे प्रेम की दृष्टि से देखूँ,
मधुर शब्दो से बातचीत करूं, जो ऐसा विचार कर ऐसा ही आचरण करता
है और अपने-आपको महात्मा समझता है, तो यह उसका आत्म-पतन है।
वह व्यर्थ में समय और शक्ति बर्बाद करता है। महात्मा का प्रेम निष्काम
और निर्मल होता है। वह किसी आकांक्षा से किसी को नही देखता और न
मधुर शब्दों मे वार्तालाप ही करता है। उसकी दृष्टि सहज स्वाभाविक रूप
से किसी पर पड जाती है, तो उसको आत्मीय रूप से देख लेता है। फिर
वह प्राणी कोई भी हो, उसकी दृष्टि में जाति का, ऊँच-नीच का, पापी-धर्मी
का भेदभाव व घृणा नही होती। वह प्राणी हित की दृष्टि से समय आने पर
सभी से बातचीत करेगा। बिना अवसर किसी से बातचीत नही करेगा।
उसकी समय-शक्ति व्यर्थ नही जाती। वह मनुष्यों की निगाह से अपने को
नही देखता, अपितु स्वयं की
पवित्र निगाह से अपने आपको देखता है।

यदि किसी वस्तुविशेष पर कोई
व्यक्ति अपना आधिपत्य जगाना चाहता है
तो वह गलती करता है। कोई भी वस्तु किसी व्यक्तिविशेष की हो ही
नही सकती। किसी भी वस्तु का प्रवाह किसी भी व्यक्ति के पास
आए तो उस व्यक्ति का यह कर्तव्य है कि वास्तविक
आवश्यकतानुसार उसका उपयोग लेकर आगे बढाए, न कि अपने
संकुचित दायरे में उसे अवरूद्ध करे। अगर वह ऐसा नही करता है
तो वह हिंसकवृत्ति का भागी बनता है, जो
कि सृष्टि के विपरीत कार्य है।

{32}

देशकाल, ऋतु के परिवर्तन के
साथ वातावरण और वायुमण्डल का भी परिवर्तन
होता है। इसके साथ जो इन्सान अपने जीवन का
परिवर्तन करता रहता है, वह सदा विजयी रहता है
और जो सभी अवस्थाओं में समयानुसार परिवर्तन
करने मे असमर्थ रहता है, वह सदा पश्चाताप
करता हुआ ह्रास की ओर अग्रसर होता है,
प्रगति की ओर नहीं।

{33}

समाज का विकास व्यक्ति–विकास में
अत्यधिक सहायक है। यद्यपि व्यक्ति का विकास
भी उपेक्षणीय नहीं है, तथापि सामूहिक विकास के समक्ष उसे गौण
माना जा सकता है। वैसे ये दोनों अन्योन्याश्रित हैं, एक–दूसरे के
पूरक है, फिर भी अपेक्षाकृत दृष्टि से समाज को प्रधानता देनी
होगी। समाज के लिए व्यक्भािव को समर्पित किया जा सकता है।
समाज व्यापक है। व्यक्ति व्याप्य है। समाज अंगी है, तो व्यक्ति अंग
है। अंगी की रक्षा के लिए अंग को बलिवेदी पर चढाया जा सकता
है, पर होना चाहिए वास्तविक अंगी।

{34}

{35}

प्राणी का विकास या
ह्रास उसके मन पर आधारित है।
इसमें बाह्य वातावरण अथवा परम्परागत
संस्कार भी निमित्त बन सकते हैं, परन्तु यह
कमजोर मन की अवस्था है। शक्तिशाली मन
वाले व्यक्ति को संसार के कोई भी पदार्थ
गिराने में समर्थ नही हो सकते। मन को
शक्तिशाली बनाने के लिए दृढ सकंल्पूर्वक
लक्ष्य प्राप्ति
में लग जाना चाहिए।

{36}

यह आत्मा
इस संसार रूपी भंवर
में अनादिकाल से चक्कर काट
रही है कि उसको उसमें से
निकालना ही दुष्कर हो रहा है।
उसको इस भंवर में से निकालने
का कोई साधन है तो यह मनुष्य
तन ही है।

{37}

दुनियॉ क्या देख
रही है ? इस पर
विचार मत करो। तुम क्या देख
रहे हो, इसी का विचार करो। इस
काम से दुनिया क्या कहेगी, यह
न सोचकर, मेरी पवित्रात्मा क्या
कहेगी, यह सोचो।

{38}

एक बार में
किसी कार्य में सफलता
न मिले तो हतोत्साह नही होना
चाहिए। अपितु उसी कार्य को
उसी उत्साह के साथ निरन्तर
करते रहने पर अवश्य सफलता
मिलती है।

{39}

प्रतिष्ठा का भय
जीवन को स्वाभाविकता
से दूर हटाता है। मेरी प्रतिष्ठा
कैसे रहे, यह धुन आत्मविकास
में बाधक है। मैं सत्य कैसे
प्राप्त करूं, यह धुन आत्मा को
ऊपर उठाने वाली है।

{40}

जीवन को किसी पवित्र कार्य
में लगा देना चाहिए। कार्य की पवित्रता लक्ष्य
के अनुसार आंकी जा सकती है। अर्थात् लक्ष्य
पवित्र है तो उसे प्राप्त करने के लिए साधन
रूप कार्य भी पवित्र है। अगर लक्ष्य अच्छा
नही है तो उसे प्राप्त करने के लिए ऊपर से
अच्छे मालूम होने वाले साधन रूप कार्य भी
पवित्र नही कहे जा सकते।

मन मे जो वास्तविक प्रेम की धारा है,
वह सूर्य की किरणो से भी बढकर तेजस्विनी है।
उसी का विस्तार जीवन की विविध विचारधाराएँ है। निरन्तर विकास
पाकर वह धारा आकाश को भी मात कर, व्याप्त होती है, यदि
उसको संकुचित दायरे मे न
बांधा जाय। इसको कोई नष्ट नही कर सकता, जला नहीं सकता,
भिगो नही सकता, मगर अज्ञान का पर्दा डालकर अवरूद्ध कर
सकता है। एक कमरे में भी बन्द कर सकता है और दस–बीस कमरों
में भी फैला सकता है। पर जहां यह ठीक से पहुँच जाती है ओर
अपने परिवार को फैला देती है, वहां से इसको फिर हटाना
अशक्य नही तो दुःशक्य अवश्य हो जाता है।

{41}

{42}

इस नमस्कार मंत्र के प्रति अटल
आस्था को अपनावें तो आपत्तियों का अस्तित्व
ही नही रहेगा–न बाहर और न भीतर। तब मन की
गति स्वस्थ भी हो जायेगी तथा निराबाध भी। तब न
संकल्प डगमगायेगा, न पुरुषार्थ टूटेगा और न
साहस ही छूटेगा। अटल आस्था सभी आत्मिक गुणों
को सन्तुलित बनायें रख कर आत्मा को विजय
के पथ पर अग्रसर बना देगी।

यदि मनुष्य जीवन में अटल
आस्था को अपनालें तथा उसकी महत्ता
को हृदयंगम करले तो नमस्कार मंत्र का अपूर्व चमत्कार भी
वह देख सकता है। इस मंत्र को सिद्ध करने वाले के सामने
देवी देवता भी चरणों में नतमस्तक हो जाते है। इस मंत्र के
साधक के सामने इस लोक से सम्बन्धित या परलोक से
सम्बन्धित कितनी ही आपत्तियाँ क्यों न
आवें–वे अपने आप छंट जाती है।

{43}

{44}

किसी भी कार्य की आत्मा
में तन्मय होने पर ही उस कार्य
में सफलता मिल सकती है। तन्मयता में दो
दृष्टियॉ है-आसक्ति और अन्वेषण। आसक्त
प्राणी उसी में विलीन हो जाता है।अन्वेषक
उसमें से शक्ति- संपादन कर उन्नति के शिखर
पर पहुँच जाता है। विवेक पूर्ण तन्मयता से
विकास हो सकता है। पर अविवेक से हास
परिस्थिति से विचार बनते हैं, पर विचारों से
भी परिस्थिति बनती है।

{45}

आज मनुष्य
कितने जंजालों में
डोल रहा है कि उसकी गति
या तो विगति बन रही है या
वह अगति बन रही है। क्या
आज की अपनी दूषित वृत्तियों
से वह पुनः मानव जन्म प्राप्त
कर सकेगा।

{46}

भौतिकता
स्थूल साधन है जबकि
आध्यात्मिक वह सूक्ष्म
साधना है जिसके द्वारा आत्मा
अपने सम्पूर्ण बंधनों से मुक्त
होकर मोक्ष की प्राप्ति कर
सकती है।

{47}

भौतिक
उपलब्धियों में मानव
कितना ही ऊँचा क्यों न पहुँच
जाय, आन्तरिक शक्ति एवं शांति
के अभाव में वह दिशाहीन और
गतिहीन ही बना हुआ है।

{48}

दृढ निश्चय
एवं तद्नुसार आचरण
ही सफलता की कुञ्जी
है। किसी भी तरह की आपत्ति
से लेशमात्र भी नही घबराना
चाहिए। आपत्ति को आपत्ति न
मानकर जीवन- विकास की
साधना-सहचरी
मानना चाहिए।

{49}

इंसान जब तक बाहरी
ज्ञान को ही सब कुछ समझता
है, तब तक वह आन्तरिकता से अनभिज्ञ ही
बना रहता है। लेकिन जब कभी किसी शुभ
संयोग से अन्दर में भरे हुए ज्ञान की झलक पा
लेता है तो फिर उसे उसकी जिज्ञासा लग
जाती है। तब वह अपनी आंतरिकता की खोज
करने लगता है और एक दिन उस स्थल पर
पहुँच जाता है जिसे
अन्तरात्मा कहा जाता है।

मनुष्य शरीर मे अनेक तत्त्व प्रवेश
करते हैं। वे यथावसर यथा समय पुन.
मार्ग पाकर या मार्ग बनाकर निकलते रहते हे।
अन्दर के विकारों से प्रभावित वचनवर्गणाओ के पुद्गल भी
प्राणीवर्ग के मस्तिष्क मे, संस्कार–केन्द्र मे प्रविष्ट होकर
यथासमय विकास के साथ ग्लेण्ड्स कोषो मे रासायनिक पुट
लगने वाले तत्वो मे परिणित होते हुए अपने सजातीय तत्वों को
तैयार कर शरीर मे
यथास्थान यथावकाश अपना–अपना कार्य
करते हुए शरीर से निकलते हैं।

{50}

{51}

एक व्यक्ति को खजाना
पाने की इच्छा तो है लेकिन
वह उसको खोजने के लिये बाहर
ही बाहर घूमता रहे लेकिन अपने ही घर के गहरे
स्थानों में खजाने की खोज नही करे जबकि
हकीकत में वहॉ बहुत बड़ा खजाना छिपा हुआ हो
तो उस व्यक्ति को क्या कहेंगे ?

मैंने इस विश्व में जन्म लिया
है। मानवोचित पदार्थों पर सबका
स्वाभाविक जन्मसिद्ध अधिकार है। अत. मैं
किसी की गुलामी या चापलूसी क्यों करूं ? मुझे
अपने कर्तव्य को ध्यान में रखकर विवेकपूर्वक पुरुषार्थ करते रहना
चाहिये। आवश्यकता की पूर्ति अवश्य होगी। आत्म–ग्लानि कभी नहीं
होनी चाहिए। अनावश्यक एवं व्यर्थ चिंतन को दूर कर सदा
प्रसन्नचित्त रहना चाहिए। बाह्य प्रवृत्तियों में समय–समय पर रूपान्तर
होने पर भी आवश्यक कार्य किसी–न–किसी
रूप में होते ही रहते हैं।

{52}

{53}

जिन आत्माओं ने
महामंत्र नवकार को सिद्ध
किया, उनकी साधना की अवस्था
में चाहे उनके शरीर की चमडी
उधेडी गई, सिर पर धधकते हुए अंगारे
रखे गये या कि अन्य प्रकार के संकट
आये, लेकिन वे साधक अपनी साधना में
तनिक भी विचलित नही हुए। यह उनकी
अटल आस्था का ही सुपरिणाम था।

{54}

भ्रम-भ्रान्ति भी
मनुष्य को किंकर्त्तव्यविमूढ बना
देती है। वह न यह कर सकता
है, न वह कर सकता है। उसकी
दशा त्रिशंकु जैसी हो जाती है।
मद में मनुष्य अनिर्णय करता है,
लेकिन भ्रान्ति में वह अनिर्णय की
स्थिति में हो जाता है।

{55}

जिन आत्माओं
को नरक में जाने के
बाद वहॉ की यातनाएॅ सहने के
कारण विगत में अपने किये हुए
पापों का भान हो जाता है, तो
फिर वे अपने आपको सुधारने
का प्रयत्न करती हैं।

{56}

नेत्रप्रेम और
नेत्रमोह दोनों में महान् अन्तर
है। नेत्रप्रेम भ्रातृ-भाव और
विश्ववात्सल्य से ओत- प्रोत
होता है। जबकि नेत्रमोह में
व्यक्तिभाव, शत्रुभाव और
व्यक्तिक वात्सल्य
रहता है।

{57}

प्रत्येक मनुष्य का
सामान्य लक्ष्य समाज
का सर्वाङ्गीण विकास होना
चाहिए। उसकी पृष्ठभूमि के लिये
सर्वप्रथम प्रत्येक मनुष्य को
आर्थिक एवं शैक्षणिक समानता
की आवश्यकता है। उसकी पूर्ति
के लिए प्रत्येक प्राणी को
तन-मन-धन से प्रयत्न करना
चाहिए।

{58}

यह शारीरिक सम्पदा जीव को
कुदरत से प्राप्त हुई है। इसमें खजान्ची
के तौर पर मन है और आत्मा अध्यक्ष है।
अतः आत्मा का यह कर्तव्य हो जाता है कि मन
पर पूरा अंकुश रखे। यह सम्पत्ति व्यर्थ या
अनावश्यक कार्यो में व्यय न हो और न इस पर
साम्राज्य वृत्ति ही आने पावे। अगर ऐसा
ध्यान नही रखा गया तो इस सम्पत्ति से कुछ भी
सत्कार्य नही होगा। यह व्यर्थ ही
नष्ट-भ्रष्ट हो जायेगी।

आज्ञा का पालन तभी संभव बनता है जब
आज्ञा के प्रति आत्मा में समग्र रूप से अर्पणा
का भाव जागृत बन जाता है। आज्ञा का पालन ही मेरे
लिये सर्वोच्च है—यह अनुभाव तीव्रतम बन जाना चाहिये। एक
सैनिक को यह देखने का कभी प्रशिक्षण नहीं मिलता है कि
दी हुई आज्ञा कैसी है ? जैसी भी आज्ञा है, उसको उसका
पालन करना होता है। इसे ही सैनिक अनुशासन कहते हैं।
प्रभु की आज्ञा के सम्बन्ध में आत्मा पर भी ऐसा ही सैनिक
अनुशासन लागू किया जाना चाहिये। आध्यात्मिक क्षेत्र में तो
आज्ञा का अनुशासन पूर्ण रूप से स्वैच्छिक होता है और जो
इस दिशा में जीवन का समर्पण करता है, वह
अनुकरणीय आदर्श उपस्थित करता है।

{59}

{60}

पंचमकाल भी अभी एक प्रकार के पागलपन
का चल रहा है। संसार के विषयों में अधिकांश
लोग पागल बने हुए हैं और जो हकीकत मे पागल नही हैं, वे
भी पागलों के साथ पागलपन का ढोंग नही करे तो उनके साथ
उपेक्षा का व्यवहार किया जाता है। इस पंचमकाल के रूपक
का जितना वर्णन किया जाय, कम है। यह काल विचित्रताओं
से ही नही, विसंगतियों से भी भरा पड़ा है।

कर्तव्य कर्म का भान न होने
से प्राणी अनेक चिन्ताओं को दिल में
स्थान दे देता है। इससे वह स्वयं दुःखी होता
है। उन्ही चिन्ताओं का प्रतिबिम्ब जब उसे चारों ओर
से दिखाई देता है, तो वह सहसा भय—भ्रान्त होकर अनुभव करता है
कि मैं महान् दुःखी हूँ और अमुक जन मेरे दुश्मन हैं, ये मुझे चारों
ओर से कष्ट पहुँचा रहे हैं, मगर यह असंस्कारित मन का नमूना
है, अतएव संस्कारित मन बनाना साधक
का प्रथम कर्त्तव्य होना चाहिए।

{61}

{62}

हे आत्मन् ! सारा संसार
भी यदि तुम्हारी निन्दा-भर्त्सना व
तिरस्कार करें, तो तू लेशमात्र भी उत्तेजना व उदासीनता
मत ला, बल्कि इसके विपरीत यह चिन्तन कर कि यह सब
किस कारण से हो रहा है ? अगर उसमें कोई वास्तविक
कारण मालूम हो जाय, तो उस को दूर करने
की कोशिश कर और निन्दा आदि
को सहायक रूप में देख।

{63}

जिसका लक्ष्य
अन्तर्मुखी बन जाता
है, उसकी लिप्तता भी समाप्त हो
जाती है। उसका जीवन निर्लिप्त
बन जाता है और निर्लिप्त बनता
है तो पूर्णतया निश्चिंत भी
बन जाता है।

{64}

निर्लिप्तता आत्मा
को आत्मस्थ बना देती
है और आत्मस्थ हो जाने से वह
स्वस्थ हो जाती है। स्वस्थ
आत्मा ही अपने परिणामों की
सर्वोच्चता के साथ परमात्म
स्वरूप का वरण करती है।

प्राणी के विकास में भय सबसे
अधिक बाधक है। इस पर विजय पाना
सामान्य काम नही है। यह हर समय प्राणी को गिराता रहता
है। उदासीनता एवं मलीनता इसी की सहचरी है। निर्भय प्राणी
कभी हतोत्साह नही होता। उसके मन पर कभी ग्लानि या
सुस्ती नही आती। सत्यपालन में निर्भय व्यक्ति ही सफल हो
सकता है। जीवन का विकास या नवीन खोज निर्भय व्यक्ति ही
कर सकता है और वही वास्तविक प्रामाणिक
पुरुषों की श्रेणी में गिना जा सकता है।

{65}

क्रोधी अपने गुणों को ही नही जलाता, अपने
रक्त को भी जलाता है तथा अपने क्रोधी स्वभाव और
व्यवहार से दूसरे लोगों को भी बुरी तरह से जलाता है। सबसे
ज्यादा बुरी बात तो यह होती है कि क्रोधी की क्रिया से क्रिया और
प्रतिक्रिया की जटिल श्रृंखला बन जाती है जिसका अन्त कठिनता
से ही आता है। यह श्रृंखला कितनी अनीति, अत्याचार, कदाचार
और पापपूर्ण हिंसा तक पहुंच सकती है,
उस पतन की संभवतः सीमा नही है।

{66}

जिस तरह के धरातल पर खडे होंगे,
उसक अनुरूप ही दृष्टि दौडेगी और धारणा बनेगी।
बहिरात्मा जब शरीर के धरातल पर खडी होकर दृष्टि
और मन को दौडती हैं तो वैसी ही दृश्य दिखाई देते हैं।
जीवन को तब शरीर में सीमित करके ही देखा जाता है।
शरीर है तो जीवन है और शरीर गया तो जीवन भी चला
गया ऐसा समझ में आता है। यह धरातल का असर होता
है। जिस प्रकार के आधार को मानकर देखा और सोचा
जाता है, तब दृष्टि और मन उन्ही सीमाओं के अनुसार
चलते हैं। इसलिये जीवन को सही रूप से समझने के
लिये धरातल को बदलना होगा। तब शरीर का
आधार छोडकर आत्मा के आधार का पकडना
और गहराई से समझना होगा।

{67}

सजग व्यक्तियों को चाहिए कि वे रूढियों के गुलाम
न रहकर उन कार्यो को त्यागें, जो अनुचित, हानिप्रद और
निरर्थक है। रूढियॉ प्राणहीन ही होती है मृत शरीरों की तरह-
जिनमें फिर से प्राण नही डाले जा सकते हैं । इस कारण प्राणहीन
रूढियों का केवल त्याग ही करना होगा। प्राणहीन रूढियों की गुलामी
किसी भी रूप में बुद्धिमानी या सद्‌बुद्धि का परिचय
नही देती। अतः इन रूढियों को जल्दी से जल्दी छोड कर
अपनी चाल और समाज के चलन को शुद्ध बनाइये।

{68}

{69}

कहाँ तो जमीन पर रहते
हुए पत्थर फैकने का प्रसंग और
कहाँ आकाश में उड़ते हुए अणुबम
गिराने का प्रसंग ? यह मानव का
विकास है या पतन। भौतिक विज्ञान,
सर्जन के लिए विनाश के लिए
घुड दौड लगा रहा है।

{70}

आत्म-गर्व
विकास के लिए
होना चाहिए, न कि
दूसरे को नीचा दिखाने के
लिए।

{71}

प्रत्येक कार्य
में स्वालम्बी एवं स्वतंत्र
इंसान ही कुछ कर सकता
है। जनहितकारी मौलिक
विचार ही सच्चे रूप में
जनता का प्रतिनिधित्व
कर सकते हैं।

{72}

इस मानव जीवन का
सदुपयोग यह होगा कि इसमें
आत्मशुद्धि को विकसित बनाकर
पुण्यवानी की जमा पूंजी में और
बढोतरी करे तथा समूचे कर्मबंध
का क्षयोपशम करते हुए मोक्ष
मार्ग पर अग्रगामी बने।

{73}

साधु के त्यागमय
सम्पर्क से एक व्यक्ति के
मन में आत्मोन्नति का अंकुर फूटता
है तो संतों की प्रतिबोध सहायता से
वही छोटा सा अंकुर विशाल वृक्ष
का रूप धारण कर लेता है।

{74}

यदि बच्चों
को संस्कारित
करना है तो, पहले
स्वयं को संस्कारित
बनना होगा।

{75}

व्यसन ग्रस्त
व्यक्ति द्वारा संतान
को व्यसन, युक्त
बनाने की कल्पना
केवल कल्पना
ही है।

{76}

जिन आत्माओं को नरक
मे जाने के बाद वहाँ की यातनाएँ
सहने के कारण विगत में अपने किये
हुए पापों का भान हो जाता है, तो
फिर वे अपने आपको सुधारने
का प्रयत्न करती हैं।

स्वच्छ मन एव शान्त मस्तिष्क से
प्रकट किये गये विचार अमूल्य एवं कल्याणप्रद
होते हैं। स्वानुभूति पूर्वक प्रयुक्त सीधे-सादे वाक्य
जितने असरकारक होते हैं, उतने ही इधर-उधर
से लिए हुए पाण्डित्यपूर्ण वाक्य नही। वचन एक
दर्पण है। चतुर पुरुष वचनों के अन्दर इन्सान
का आन्तरिक प्रतिविम्ब देख सकते हैं।

{77}

पैनी निगाह से देखा जाय तो
वर्तमान प्रचलित परीक्षापयोगी साहित्य
साम्प्रदायिक मनोवृत्ति से ओत-प्रोत ही मिलेगा।
ऐसे साहित्य से विद्यार्थी विकास की प्रकाशमय किरणों
को छोडकर अन्धकार में भटकता रहता हे। क्योंकि
बचपन में ही वह अंधपरम्परा को कोल्हू का वेल वना
दिया जाता है। फिर वह आगे केसे वढ सकता हे ?
रूढिपूर्ण विनाशकारी परम्पराओं को सामान्य मनुष्य नही
हटा सकता। उसे हटाने में वास्तविक ज्ञान व साहस
की अत्यधिक आवश्यकता होती है, अनुवादित
पदार्थ का उतना महत्व नही, जितना
आविष्कृत पदार्थो का हैं।

{78}

इन्सान प्रतिकूल वातावरण एवं संतप्त
स्थान से हटने की कोशिश करता है। वह
सोचता है कि यह मेरी प्रगति में बाधक है। ऐसा
व्यक्ति सच्ची और ठोस प्रगति तभी संभव हैं, जबकि
प्रतिकूल वातावरण में प्रसन्नचित होकर प्रगति की जायें।
संसार के सभी प्राणी प्रायः बिना अपराध किसी को
नही सताते। यह प्रकृति का नियम-सा है कि
आघात होने पर प्रत्याघात होता है।

{79}

{80}

जिसमें जितनी सजावट होगी, उसमें उतना ही नकलीपन होगा। आडम्बर दम्भता का द्योतक है। जिसको वस्तुस्वरूप का ज्ञान नही होता, वही आडम्बर को पसन्द करता है।

{81}

धृति-सहित कृति कला का रूप ले लेती है। जबकि धृति-रहित कृति निर्जीव परिश्रम मात्र है।

{82}

प्रत्येक प्राणी अपने बचाव का उपाय अपने आप सोचता है, इसी से वह विकास की ओर बढता है।

{83}

पूर्ण ब्रह्मचारी ही वास्तविक जीवन जी सकता है। नियमित, संयमित सात्विक आहार- विहार इसमें बहुत सहायक सिद्ध होता है। सादगी जीवन को पुष्ट करती है निर्भयता ही जीवन विकास की प्रथम भूमिका है।

{84}

किसी भी वस्तु को स्वपुरुषार्थ से प्राप्त करना चाहिए। प्राकृतिक साधनों से प्राप्त वस्तु चिरस्थायी एवं सुखप्रद होती है। परपौरुष और अप्राकृतिक साधनों से प्राप्त (सम्पादित) वस्तु चिरस्थायी एवं पूर्ण सुखप्रद नही होती।

{85}

जिस प्रेम से शक्तिसंचय होता है, वही वस्तुतः सच्चा प्रेम है। जिससे शक्तियों का नाश होता है, वह प्रेम नही है।

{86}

मृत्यु प्रत्येक देहधारी की वृत्ति है। इस पर विजय पाना मृत्यु को परास्त करना है।

{87}

मनुष्य जीवन संसार के सभी जीवनों में सर्वश्रेष्ठ जीवन है और यही एक मात्र ऐसा जीवन है जिसमें यदि ज्ञान, श्रद्धा, संयम और पुरुषार्थ का सम्यक् संयोग बिठा ले तो वह मनुष्य अपने चरम लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है।

डरावनी वन-घाटियो मे जव प्रवेश
करना हो तो संकल्प एवं पुरुषार्थ के साथ
श्रद्धा का संगम करा लो आर अपने इष्ट का स्मरण
करते हुए वढ चलो। अरिहंत देवों ने इन घाती कर्मा को हटाया
हे ओर नष्ट किया है। वे इस प्रकार
वन-घाटियों को लांघ गये ओर उन्होंने
केवल-ज्ञान प्राप्त कर लिया।

{88}

आज का मानव समाज प्राय: गुलाम मनोवृत्ति से चल रहा है।
रूढि तथा परम्परा मानो जीवन की संगिनी वन गई है। वुद्धि काम
-सम्राट के किले मे वन्द-सी मालूम होती हे। साहित्कार, कलाकार, अध्यापक,
पत्र-सम्पादक आदि में से अधिकाश लोगो ने अपने जीवन का चरम लक्ष्य प्रेम
के नाम पर मोह का सम्पादन ही मान रखा हे। उनको वही साहित्य, वही कला, वही
कहानी, वही समालोचना पसन्द आयेगी, जिसमें पशुवृत्ति से भी निदिन्त
प्रणय प्रसंगो का रोचक वृतान्त पाया जाता हो। इस वृत्तान्त का जो व्यक्ति
अधिक रोचक ढंग से सम्पादन करता हे,उसी को सर्वश्रेष्ठ साहित्कार माना जाता है।
पुरस्कार भी उसी को अधिक मिलता है। यह युग का सृष्टा-सा समझा जाने लगता हे।
ऐसी अवस्था में कौन व्यक्ति ऐसे श्रेष्ठ पद को पाने हेतु लालायित
नही होगा? प्रत्येक व्यक्ति येन-केन-प्रकारेण इसी पद को पाने के लिए आकाश मे उडने
की कोशिश करता है। वैसा ही साहित्य,वेसी ही गोष्ठी,वेसी ही सोसायटी ओर वेसे ही
वायुमण्डल में वह अपने को धन्य समझता है। उसकी वुद्धि उसी दायरे के अन्दर
चक्कर काटती है। उस घेरे से बाहर रह जाने पर वह अपने को अभागा, पुण्यहीन
समझता है और यह दावा करता हैकि मे विकास कर रहा
हू। यही अवस्था अधिकांश व्यष्टि एवं समष्टि मे वनी हुई है। इसको
आधुनिक मानव समाज की गुलामी न कहे तो क्या कहें ?

{89}

घबराओ मत । आत्मा की अनन्न
शक्तियों को प्रकट करना चाहते हो तो
अपनी आत्मा को ही मित्र और साथी मानो तथा
आत्मस्थ बनने का अभ्यास करो। आत्मा का इस
कठिन यात्रा मे कोई प्रधान सम्बल है तो
वह है अटल श्रद्धा इसे न भूले।

{90}

{91}

हार-जीत की दृष्टि से किया हुआ विचार-विमर्श कभी भी निर्दोष नही हो सकता, क्योंकि उसमें बुद्धि स्वच्छ एवं निष्पक्ष नही रह सकती। जिस विचार से हिंसक वृत्ति की प्रधानता का उद्‌गम होने लगता है, वह विचार इंसानियत के विपरीत है।

{92}

जो मनुष्य अपने जीवन में लोगों की निःस्वार्थ भलाई करते है तथा पीडित मानवता की सेवा करते हैं, वे पुनः मनुष्य योनि को प्राप्त करते हैं।

{93}

अतीत, अवस्था का स्मरण,वर्तमान का अनुभव,भविष्य का चित्रण सामने रखकर प्रवृत्ति करने वाला व्यक्ति जीवन मे सफलता का अनुभव करता है।

{94}

मैं किसी के साथ द्वैत भाव क्यों रखूं ? क्यों न प्रत्येक प्राणी को स्व-स्वरूप की तरह देखूं। यह बात उपदेश रूप न होकर अनुभूति रूप हो।

{95}

इन्सान के विचारों का प्रभाव प्रकृति पर पडता है और प्रकृति का प्रभाव इन्सान के ऊपर। मगर इन्सान सही रास्ते पर चले तो, प्रकृति को भी बदल सकता है। प्रशस्त वायुमण्डल तैयार कर इच्छानुसार प्रगति की जा सकती है।

{96}

सामूहिक शक्ति से सम्पन्न कार्य सस्ता, सहज एवं सफल होता है।

{97}

सूक्ष्म निरीक्षण दूरदर्शिता का द्योतक है। वह इन्सान को आपत्तियों से बचा लेता है।

{98}

कृत्रिमता स्वाभाविकता से विपरीत नही आती, तब तक कोई भी व्यक्ति वास्तविक विकास की दिशा में स्वयं प्रगति न कर सकता है और न अन्य को करवा सकता है।

हम अवपर ही आत्मा को जानें,
उसको उस के मूल स्वरूप से पहिचानें तथा
भीतर गहरे उतर कर आत्म-दर्शन करें- यह हमारी
समग्र कर्मठता का प्रेरक लक्ष्य वन जाना चाहिये। यह ऐसा कार्य
है कि जसके लिये कही वाहर भागने दोडने की आवश्यकता नही
है, न ही इधर-उधर कष्ट करना हे। इसके लिये तो आत्म दर्शन
की भावना ही वलवती वन जानी चाहिये।

{99}

अन्तःकरण में आत्म-दर्शन की तीव्रता
जाग उठे। इतनी तीव्रता कि प्राण जाय पर
प्रण नही जाय। जो जीवन-उत्थान का संकल्प लिया
जावें, उस पर सुदेव, सुगुरु, सुधर्म में पूर्ण श्रद्धान रखकर अटल-अडोल
रहा जाय। भयंकर से भयंकर विपत्ति आ जावें - कोई शरीर की त्वचा
भी उतारने लगे, शरीर के टुकडे-टुकडे भी करने लगे तव भी संकल्प के
अनुसरण में दुर्बलता नही आवें और वीतराग में आस्था तथा आत्मा-
परमात्मा में निष्ठा दृढतर बनती जावें। इस प्रकार की दृढता मानव
जीवन में व्याप्त होती हैं तब वह मानव इस जीवन
में भी निहाल हो जाता है।

{100}

दिव्य दृष्टि एवं आन्तरिक ज्ञानमयता
इसी आत्मा से उद्भूत होती हैं। इन शक्तियों
के सजृन करने का सामर्थ्य इसी आत्मा में है। यही आत्म स्वरूप
जब विशुद्धता एवं विराटता की अवस्था
को प्राप्त होता जाता है तो इसी स्वरूप में
से ये शक्तियॉं प्रस्फुटित होती है।

{101}

{102}

बाह्य जीवन, मुख्य
रूप से भीतरी जीवन
की प्रेरणा से चलता है अतः
शक्ति का मूल स्थान बाहर
नही, भीतर होता है।

{103}

आत्म दर्शन
अब तब तक नही होगा,
जब तक संसार दर्शन से
अलग
नही हटेगें।

{104}

एक अपूर्ण
वयिक्त न तो पूर्ण
पुरुष की तरह सत्य को
देख सकता है, न सत्य
का कथन कर सकता है।

{105}

बाह्य दृश्यों में ही
रमण करते हुए जीवन
को समाप्त कर देना - यह
मानव जीवन के प्रति सबसे
बडा अन्याय है।

{106}

बह्मचार्य जीवन का मूल है।
इसी से जीवन की सारी रौनक
है। आधुनिकता के भुलावें में आकर
इसकी उपेक्षा नही करनी चाहिए।
इसकी उपेक्षा करना सारे जीवन की
महत्ता को तिलांजलि देना है।

{107}

दिल के विचारों
से देह का निर्माण
होता है। जैस दिल वैसी
देह। बुद्धि संस्कार पैदा
होते है और संस्कारों से
बुद्धि का निर्माण
कदाचित्।

{108}

आवेश दिल
की कमजोरी का सूचक
है। आवेश में आकर किया
जाने वाला कार्य त्रुटिपूर्ण
होता है। अतः सत्यान्वेषक
को आवेश से दूर
रहना चाहिए।

{109}

बुद्धिमान् मनुष्य वही है जो
अपने जीवन से दुनिया को नई
प्रेरणा देकर नवीन वस्तु की ओर आकर्षित
करें। आन्तरिक द्वन्द्व को शान्त करने की कला
जिसको आ गई,
वह वाहर के द्वन्द्व को सहज
ही शान्त कर सकता है।

जो व्यापार के तौर पर उपदेश
देता है, वह उसे जीवन में बहुत कम
उतारता है, क्योंकि उसका लक्ष्य उपदेश द्वारा यश
अथवा सम्पति कमाना होता है। जो व्यापार के तौर पर नही,
अपितु स्वानुभूति को जिज्ञासुओं के समक्ष रखता है, वह अपने
जीवन में अधिक आचरण करने वाला होता है, क्योंकि उसका
लक्ष्य जीवन सुधार का
होता है, न कि प्रशंसा प्राप्ति का।

{110}

सुख ओर सम्मान के लिए लालायित
मत रहो। अपमान ओर दुःख से दूर मत
भागो। जहॉ अपमान होता हो, चित को दुःख व
संक्लेश पैदा करने वाले उत्तेजात्मक वर्ताव हो, वहां
जाओं और अपने मन-मस्तिष्क की परीक्षा करो कि ऐसी
अवस्था में तुम्हारा मस्तिष्क कितना शान्त रहता हें ?
तुम्हारे मन में कितनी पवित्रता बनी रहती हैं ? उस समय
यदि तुम्हारा मस्तिष्क शान्त रहे, मन में अपवित्रता न आये
और कर्तव्य कर्म पर मजबूत रह सको तो समझ
लो कि तुमने कुछ इन्सान्यित प्राप्त की ।

{111}

मन और मस्तिष्क से किये जाने
वाले विवेक युक्त ज्ञान से ही जीवन में
परिवर्तन आता है। मात्र दिमागी ज्ञान फोनोग्राफ
की चूडी के समान है। उससे इच्छित लाभ नही हो
सकता। केवल मन के ज्ञान से स्वहित कुछ अंश में
हो सकता है, मगर व्यापक जनहित नही हो
सकता। वह एक प्रकार से पंगु है ।

{112}

{113}

जो भव्य आत्माएँ
अपना कल्याण करना
चाहती है, उन्हें भगवान् के इन
चरणों के प्रति अपने आपको समर्पित
कर देना चाहिए—श्रुत धर्म एवं चारित्र
धर्म को अपने आचरण में
रमा लेना चाहिए।

{114}

श्रेष्ठ सन्तों
के समागम का
सत्प्रभाव अतुलनीय
होता है।

{115}

श्रेष्ठ सहयोगी
का विकल्प केवल
श्रेष्ठ ग्रंथ ही हो
सकते हैं।

{116}

जिधर प्रभु का संकेत
हो उधर ही गमन—करना इस
प्रकार की भावना ही जीवन को
उज्ज्वलमत बनाने वाली होती है।
वैसे अत्यन्त भाग्यशाली आत्माएँ
अपने जीवन में उच्चा आदर्श
उपस्थित करती है।

{117}

आत्मा समग्र रूप
से आज्ञा के प्रति अपिर्तत हो
जाती है, तभी आज्ञा का पालन होता
है जब आज्ञा का पालन होता है तो
उसका सुफल भी सामने
आकर रहता है।

{118}

आत्मा शुद्धि
के लिये आध्यात्मिक
ग्रंथों का ही विशेष
रूप से अध्ययन एवं
मनन किया जाना
चाहिए।

{119}

आज सभी
क्षेत्रों में जो विषमता
व्याप्त हो रही है, उसके
मूल में आध्यात्मिक
साधना का ही
अभाव है।

{120}

अर्न्तजगत् कर सृष्टि का
जब आपको ज्ञान होगा, तो आप
आनन्द विभोर हो जायेंगे, एक वक्त
भी दृष्टि अन्दर की ओर चली गई तो
फिर बाहर का दीवानापन खत्म हो
जायेगा और अन्दर में ही गहरी
अभिरुचि लग जायेगी।

सकल्प सिद्धि के मार्ग मे कितनी
ही आपत्तियॉ क्यों ने आवें- वह आत्मा अपने
लक्ष्य से किसी भी रूप में विचलित नही होती हं
क्योंकि उसे अपनी अटल आस्था का पूर्ण सम्वल होता
है। श्रेष्ठ संकल्प, अटल आस्था एवं प्रवल पुरुपार्थ की
त्रिपुटी मिल जाये तव आपत्तियॉ पर विजय
पाना कठिन नही रहता है।

{121}

कुछ व्यक्ति यह कहा करते हं कि हमने अमुक कार्य के
लिए बहुत प्रयत्न किये, मगर उसमें सफलता नही मिली। क्या करें ?
हमारे भाग्य अच्छे नही हैं और जव तक भाग्य अनुकूल नही होता, तव तक
प्रयत्न करना व्यर्थ है। देखिये, न पहले लोग मेरी कितनी इज्जत करते थे और
अब मुझे घृणा की दृष्टि से देखते हैं। वही मं हूं, जो पहले था और वही मेरा
कार्य है, जो पहले था। फिर भी यह अवस्था जो हुई, यह सव भाग्य का
चमत्कार है।पर वे सब बातें अन्तर का सूक्ष्म निरीक्षण नही होने से कही जाती
है। वस्तुतः देखा जाय तो विफलता का कारण अपनी वृत्तियों के प्रति सतत्
जागरूक नही रहता है। इंसान कुछ भी सत्कार्य प्रारम्भ करता हे, उस समय
उसकी उस कार्य में तल्लीनता रहती है और उसी समय प्रारम्भिक सफलता
की रौनक उसके सामने आती है। उस रौनक को देखकर वह अपने आप पर
काबू नही रख सकता। वह यह अनुभव करने लगता है कि मैं ही इस संसार में
सब कुछ हूं, मेरे सामने कौन व्यक्ति ठहर सकता है। मैं सभी दृष्टियों से
परिपूर्ण हो चुका हूं आदि। ये ही विचार उसके विफलता के कारण
बनते हैं और उसी समय से वह हास की ओर चल पडता है।

{122}

चाहे ऊपरी शान कितनी ही क्यों
न हो- लेकिन जब तक भीतरी जीवन
उलझा हुआ रहता है, तब तक न तो आन्तरिक
शक्ति का विकास होता है और न ही आन्तरिक शांति
मिलती है। ये दोनों नही है तो दिशा और गति भी
नही है। वहॉ विकास की भावना का
भी हास होने लगता है।

{123}

{124}

यह मानव जीवन
आन्तरिकता की गहराइयों को
छूने के लिये है। यह जीवन अन्तरात्मा
में बैठकर आत्मिक शक्तियों को पाने के लिये
है एवं विषम स्थितियों का समानीकरण करके
सदा के लिये
सुखी बनने के लिये है।

{125}

कोई भी
व्यक्ति तब तक
सही ज्ञान प्राप्त नही कर
सकता, जब तक
वह हटवाद से मुक्त
नही होता।

{126}

तर्क को
छैनी या टांकी
के रूप में मान सकते है
जो अनगढ पत्थर को
सुघड़ बना
देती है।

{127}

सच्चे सन्तों के समागम
में जावें, उनके सामने व्यर्थ का
अपना अंह भाव बनाये न रखें तथा
सन्तों से जो तत्त्व मिले, उसे अपने
जीवन में ग्रहण करके आत्मोन्नति
का मार्ग प्रशस्त बनावें।

{128}

जो सच्चे मन से साधु
के सम्पर्क में पहुँचता है और
साधुता के स्वरूप को परख कर
अपने जीवन में परिवर्तन लाता है,
वह अवश्य ही साधुता की ओर
प्रयाण कर देता है।

{129}

आत्मा की
विकास यात्रा की
बाधाएँ भी इस नमस्कार
मंत्र के सामने नही ठहर
सकती है।

{130}

मनुष्य चमत्कार
तो देखना चाहता है लेकिन
वह श्रद्धा करना और
साधना करना
नही सीखता है।

{131}

अनैतिकता को
समाप्त करनी है तथा
सर्वत्र नैतिकता पनपानी है
तो सद्बुद्धि को जागृत बनाने
के सिवाय अन्य कोई
मार्ग नही है।

मै स्वय गिरा हुआ हूं, इसान को ऐसा
अध्यवसाय कभी नही लाना चाहिये। मगर जो
गलती उससे हो गई हो, उसको साफ जाहिर कर
देना चाहिए। भविष्य मे जेसा आन्तरिक वर्ताव हो, वेसा
ही वेश और वैसा ही व्यवहार होना चाहिए। आन्तरिक
भावना के अनुरूप वेश एवं व्यवहार नही रखना अपने
आपको और जनता को धोखा देना हे और स्वयं
को हैवान से भी नीचे स्तर पर ले जाना है।

{132}

आत्मा जो अपने निज के स्वरूप में
रमण नही करती हैं– बल्कि बाहर ही बाहर
पौद्‌गलिक संसार में परिभ्रमण करती हैं– यह उसकी
स्वस्थ गति नही होती, बल्कि उसका भटकाव होता हे। इस
बाहर के भटकाव की वजह से उसका बर्हि स्वरूप है। बहिरात्मा का स्वभाव
हो जाता है कि वह बाह्य पदार्थों की ममता में उलझती रहती है।
वास्तविक रूप से इसे आत्मा का विभाव कहना चाहिये क्योंकि मूल आत्मा
का जो स्वभाव होता है, वही उसका अपना भाव कहला सकता है।जो बातें
अपने मूल स्वभाव के विपरीत आत्मा पकड़ लेती है अपनी भटकाव की
दशा में– वे उसकी स्वभाव रूप नही होकर विभाव रूप होती है।
स्वभाव के विपरीत को विभाव कहते हैं और जितना
आत्मा का विभाव में चलना होता है, वह
सब आत्मा का भटकाव कहलाता है।

{133}

मन का अर्न्तजगत् के साथ सम्बन्ध है।
जिस मन में जितना अधिक आकर्षण होगा, उतना
ही वह अर्न्तजगत् को अपनी ओर आकर्षित कर सकेगा।
आकर्षण शक्ति किसी–किसी में नैसर्गिक होती हैं। पर
उसको अधिक महत्त्व नही दिया जा सकता, क्योंकि वह रह
भी सकती है और चली भी जाती है। अत· ज्ञानपूर्वक प्राप्त
की गई आकर्षण शक्ति को ही अधिक महत्व दिया
जाना चाहिए, क्योंकि वह स्वाधीन होती है।

{134}

{135}

जीवन के परिपूर्ण विकास
की दृष्टि से साध्य और साधन
दोनों की आवश्यकता होती है। आत्म
शुद्धि स्थायी रूप में सदा काल के लिये
बनी रहे– यह साध्य है। इस शुद्धि के
लिये जिन उपायों को सफलतापूर्वक
जीवन के साथ संबंधित किया
जाता है – वे साधन है।

{136}

विभिन्न
विचाराधाराओं का
समन्वयक समाज ही
हितकर एवं प्रगतिशील,
हो सकता है।

{137}

धर्म
रहित जीवन,
बिना डोर के उड़ने
वाली पंतग
के समान
है।

{138}

जैसे भीषण गर्मी से तपा
हुआ व्यक्ति शीतल सरोवर के समीप
पहुँच कर शांति का अनुभव करता है, उसी
प्रकार संसार के कष्टों से व्यथित बना हुआ
भव्य प्राणी जब सद्गुरु की सेवा में पहुँचता
है–उनके समागम में
आता है तो उसे अनुपम आत्मिक
शांति की अनुभूति होती है।

{139}

संसार दर्शन में विमुग्ध बनने
वाले प्राणी जड़ भक्त हो जाते हैं
और जड़ पदार्थों के लोभ में कुछ का
कुछ कर डालते हैं और यही वितृष्णा
आत्म–दर्शन के पथ में सबसे बड़ी बाधा बन
कर खड़ी हो जाती है, तथा चेतना शक्ति
को पराजित कर देती है।

{140}

अहिंसा, समता
से ही विश्वगत
प्राणी की सुरक्षा
संभव है।

{141}

विषतमा का
विषाक्त विष समता के
सोमरस से ही
समाप्त किया जा
सकता है।

{142}

अपनी आत्मा के मूल
स्वरूप के प्रति अटल आस्था
रखते हैं, उनकी छोटी–छोटी क्या
बड़ी–बड़ी आपत्तियाँ भी दूर हो जाती
है तथा छोटे–छोटे चमत्कार
उन्हें दिखाई देता है।

अनन्त इच्छाओं की वितृष्णा में मनुष्य जीवन की अधिकांश प्रक्रियाएँ संचालित होती है। वहिरात्मा का हर्ष अथवा विषाद इन्ही इच्छाओं की पूर्ति अथवा आपूर्ति पर आधारित होता है लेकिन हकीकत में वहिरात्मा विषाद में ही ज्यादा डूवी रहती है। तृष्णा का आरपार नही होता उससे पहले ही अन्यान्य इच्छाओं के पूरी न हो पाने का विषाद उसे घेर लेता है। कोई भी इच्छा पूरी नही होती है। तो वहिरात्मा रोती चिल्लाती है। {143}

वहिरात्माओं की दृष्टि वारह ही वाहर दौडती है तथा वाहरी पदार्थों की अवस्था पर ही उनका हर्ष और विषाद निर्भर करता हे। धन ओर परिजन की जहॉ क्षति होती हैं, वहॉ वे शोकातुर वन जाती हं। धन की क्षति चोर लुटेरों से भी हो सकती है तो सरकार के अंकुश से भी। धन के चले जाने पर मनुष्य कितना आर्त्तध्यान में डूवता है, कितना विषाद करता हैं तथा कितना रोता चिल्लाता है बल्कि इससे उसके शरीर पर भी भारी बुरा असर पडता हैं। चिन्ता के ऐसे समय में धन का मोह शरीर मोह से भी अधिक हो जाता है। धन खोने पर या न पा सकने पर भूख प्यास गायब हो जाती है, आकृति कुम्हला जाती है और भारी शोक संताप में कभी-कभी मनुष्य इतना रोगी बन जाता है कि संसार से ही चल बसता है। इतना उसका आकर्षण धन के प्रति होता है। {144}

जीवन बाहर दिखाई देने वाला इंजिन ही नही होता है, बल्कि उसके भीतर बैठा हुआ बाहर से नही दिखाई देने वाला ड्राइवर होता है। इंजिन को चलता फिरता इसीलिये देख सकते हैं कि उसका ड्राइवर उसको चला रहा है। उसी प्रकार जब इस शरीर के ड्राइवर को भी समझने की चेष्टा की जाती है, तब इस शरीर के ड्राइवर को भी समझने की चेष्टा की जाती है, तब मानना चाहिये कि धरातल बदलने लगा है और बहिरात्मा अपने बर्हि रूप को मन्द बना कर अपने ही स्वरूप की गहराई में उतरने का यत्न करने लगी है। {145}

{146}

जिस आत्मा के ऊपर
मोह और मद का चश्मा चढ
जाता है, उसकी आन्तरिक वृत्तियों
में नशा सा छा जाता है और एक
तरह का गहरा पागलपन
पैदा हो जाता है।

{147}

जो वस्तुतः
जिस रूप में
नही हैं, उसमें उस रूप
की प्रतीति ही मिथ्यात्व
है।

{148}

सूक्ष्म दृष्टि
और पैनी विचार
शक्ति को अपनाइयें
ताकि आपकी बुद्धि भी
अर्न्तरात्मा की
तरफ मुडे।

{149}

आत्मा विकास यात्रा
का लक्ष्य हैं यह सिद्ध शिला,
जहॉ पहुँचने के बीच में कर्मबंध की
भयावह आपत्तियॉ खडी हुई हैं। जिन्हें
पराजित करना अटल आस्था
से ही संभव होता है।

{150}

जिस व्यक्ति के
जीवन में चेतनता नही,
आत्म दर्शन की भावना नही तो
समझिये कि उसके पतन की
भी कोई सीमा नही।

{151}

सद्वृत्ति
मनुष्य स्वयं से
भी पहले दूसरों की
भलाई के लिये
सोचता है।

{152}

मूल स्वरूप
के प्रकट होने का
ही अर्थ आत्मिक गुणों एवं
शक्तियों का जागृत बन
जाना।

{153}

नमस्कार मंत्र के
तुल्य अन्य कोई मंत्र
नही है, लेकिन परम्परा से
जिनको यह मंत्र मिला है, वे ही
लोग इस मंत्र के महत्त्व
को कम जानते है।

वस्तुतः अनुशासन का अर्थ ही आज्ञा धर्म होता है।
किसी भी स्वस्थ शासन के 'अनु' याने पीछे-पीछे चलना ही
अनुशासन कहलाता हैं। शर्त यह है कि वह शासन स्व में स्थ होना
चाहिये, अर्थात् आत्म प्रेरित होना है। आत्म प्रेरित शासन वही होता
है जो सर्वात्म-कल्याण का अनुमोदक होता है। जो अनुशासन में
चलता है,वह आज्ञा धर्म का अनुकरण करता है तथा आज्ञा धर्म का
निष्ठापूर्वक अनुकरण करने वाला ही चरण - आदर्श याने
आचरण का आदर्श प्रस्तुत कर सकता है।

{154}

मनुष्य कुछ गुणाभ्यास प्राप्त कर
सोचने लगता है कि मैं कितना गुणवान हूँ।
मेरी इस संसार में कोई कीमत नहीं करता, मेरा
जीवन ऐसे ही व्यर्थ चला जायगा, आदि अनेक कल्पानाओं
से दुःखी होकर अपने आपको प्रसिद्ध करने के लिए अनेक तरीके
अपनाता है। मगर ये सब उसके प्रच्छन्न विकास यानि दोष हैं। ऐसा
व्यक्ति अपने या अन्य के लिए विशेष हितकर नही हो सकता । प्रथम तो
ऐसे व्यक्तियों में वास्तविक गुण आने असम्भव नही तो कठिन अवश्य हैं
और यदि किसी में आये भी तो वे जहर-मिश्रित
दूध के समान होने से हानिकारक
ही सिद्ध होते हैं।

{155}

श्रदावनत होकर कल्याण कामना से कोई
व्यक्ति सद्‌गुरु के समीप में पहुँचता है तो अनायास रूप
से उनके त्याग का सत्प्रभाव उस व्यक्ति के हृदय पर गिरने लगता
है। वह भीतर ही भीतर अपने को गुरु के शुक्ल प्रभाव से प्रभावित
अनुभव करता है तथा उस प्रभाव के कारण उसकी भावनाओं में
परिवर्तन आने लगता है। उस समय जो उज्ज्वलता आती है,
उससे बुरे पाप कर्म स्वतः हटते जाती हैं और आत्म जागृति
का स्वरूप उज्ज्वलतर होता जाता है।

{156}

{157}

कुतर्क में जानने की
जिज्ञासा नही होती, केवल अपनी अंहवृत्ति का
पोषण होता है। तर्क को जब 'सु' का रूप दे
दिया जाता है तो नयवाद उसकी ज्ञान प्राप्ति
का सुदृढ सम्बल बन जाता है।

{158}

वस्तु स्वरूप
को उसके यथार्थ रूप
में देख सकने की दृष्टि
प्राप्त होती है। यह दृष्टि
सम्यक्त्व की दृष्टि
होती है।

{159}

जो निर्लिप्त
है, वह निर्विकार है
और निर्विकार आत्मा
परमात्मा होती है।

{160}

आत्मा की आन्तरिक गति का
सुप्रभाव तभी परिलक्षित हो सकता है
कि जब माता-पिता स्वयं सन्तों की सेवा
में पहुँचें, अपने संस्कारों का परिष्कार करें तथा
धार्मिक क्रियाओं में अपने को
नियोजित बनावें। उनके परिवर्तन पर ही
उनकी सन्तानों का सही परिवर्तन
अधिकांशतः निर्भर करेगा।

{161}

पहले अपने संकल्प को स्पष्ट
बनावें कि आप अपने घर के इस
खजाने को खोजना चाहते हैं अथवा नही ?
क्योंकि सही जिज्ञासा और अभिरूचि के बिना
कोई सम्पन्न नही होता है। इस खजाने को
खोजने के लिये घर
के अन्दर गहरे होगा और
केन्द्रिय बनना पडेगा।

{162}

विपत्ति में
घबराने वाले इंसान
की बुद्धि कुंठित हो
जाती है और धैर्य रखने
वाले इंसान को अवरोधों
के बीच भी रास्ता
मिल जाता है।

{163}

जो दुर्गति-
दुर्गुणों से बचाये,
साथ ही हमारे विचारों को
क्रिया कलापों को, सम्यग्
दिशा दें,
वह धर्म है।

{164}

शरीर के सहयोग से जब
धर्म साधना परिपूर्ण बनती है
तो आत्मा भी अधिकांश रूप में निजत्त्व पर
आरूढ हो जाती है। निजत्त्व का
भान होना ही आत्म शुद्धि का
मूल कारण वनता है।

कस्तुरी मृग के समान वाहर
ही वाहर भटकना वुद्धिमानी नही हें।
बहुमूल्य कस्तुरी का खजाना मृग की अपनी नाभि में होता हें,
लेकिन उसको इस तथ्य की संज्ञा नही होती हे आर वह वाहर ही
वाहर भटकता रहता है कि उसको कस्तुरी का खजाना मिल जाय।
कभी-कभी उस खजाने की खोज में दोडते-दोडते वह अपने
प्राण भी त्याग देता हे।

{165}

प्रत्येक कार्य के लिए कुछ-न-कुछ
निमित्त अवश्य होता हे। निमित्त के विना
प्रायः प्रवृत्ति होनी असम्भव हे। निमित्त को प्राणी
जान सके या न जान सके, यह वात दूसरी हे।
जिस वातावरण के वायुमण्डल में प्राणी रहता हे,
उसी अनुसार बाह्य एवं आभ्यन्तर प्रवृत्ति होती है-
यह सामान्य नियम है। विशिष्ट आत्मा विशेष निमित्त पाकर सारे
वायुमण्डल में आश्चर्यजनक परिवर्तन ला सकता है। प्रत्येक पदार्थ के
गुण व अवगुण प्रस्फुटित होकर वायुमण्डल में मिलते रहते हैं। जिस
वस्तु में जिस गुण को आकर्षित करने की शक्ति
होती है,वह वस्तु उसी को खींच कर
अपने में मिला लेती है।

{166}

चन्दन को काटने की कुल्हाडी धूप में पडी
रहने से भले ही गरम हो रही हो लेकिन जब वह
चन्दन की लकडी को छुएगी तो वह शीतल भी हो जायगी तथा
सुगन्धित भी बन जायगी। सन्तजनों का शीतल और शान्ति -
दायक परिचय क्रूर से क्रेर हृदय
को भी शीतल और शांत बनाा देता है। किसी भव्य प्राणी की
उन्नति में प्राप्त सन्त सहायता उसे शीघ्र ही
उन्नति के उच्च शिखर पर पहुँचा देती है।

{167}

{168}

आदेशानुगामी जनता को
तत्त्वनिर्णय की बात कही गई तो
गलती होगी, क्योंकि तत्त्वनिर्णायक ही तत्त्व का
निर्णय कर सकता है। स्वाभीष्ट तत्त्व के प्रचार
में ही अधिक समय का व्यय होना चाहिए
इधर-उधर की बातों में समय का अपव्यय
करना उचित नही हैं।

{169}

समभाव की
साधना के लिए अंह
का विसर्जन
आवश्यक है।

{170}

साधना के
विराट स्वरूप को प्राप्त
करने का प्रथम सोपान
है-समभाव

{171}

कोई भी व्यक्ति
कैसा भी विचार क्यों न
करें, उसकी प्रतिक्रिया उसके मानस
पर एवं उसके आसपास के वायुमण्डल
पर अंकित हुए बिना नही रहती है।

{172}

विचारों का शुभ
और अशुभ दोनों प्रकार का प्रभाव
मानव मस्तिष्क पर पडता है।अतः शुभ
विचारों से शुभ
वायुमण्डल बनाने का
प्रयत्न करें।

{173}

अंहकार का
भुजंग जब तक फुफकारता
रहेगा, तब तक व्यक्ति
विनम्र नही बन सकता।

{174}

अंहकार के
घोडे पर बैठकर
साधक समत्व की
साधना नही कर
सकता।

{175}

जो आत्म-प्रतीति से
आत्मानुभूति तक पहुँच जाता है, वह अपनी
आत्मा के स्वरूप को सर्वागतः पहचान जाता हे।
यही नही,वह अन्यान्य आत्माओं के स्वरूप को
भी देखने लगता है। ऐसा अन्तर्मुखी व्यक्ति एक
प्रकार से अन्तर्यामी बन जाता है।

अन्तरात्मा के इसी स्वरूप में जब अवगाहन होने लगता है तो इस जीवन की उपाधियां हट जाती हैं। इन उपाधियों का तात्पर्य है कि वे विशेषण जो बाह्य पदार्थों के सम्बन्धों की वजह से लगते हैं। जैसे मकान मालिक की उपाधि, अमुक संस्था के अध्यक्ष, पदाधिकारी आदि । वस्तुतः बाह्य सम्पत्ति का स्वामित्त्व भी एक उपाधि ही है। जिसके पीछे चिन्ता का ऐसा क्रम लगता है कि मनुष्य अपनी आन्तरिकता से सम्बन्ध ही नहीं जोड पाता है।

{176}

बाहर की सारी उपाधियों को छोडते हुए जब अन्दर में प्रवेश किया जाता है तो उससे पहले पांचों इन्द्रियों तथा शरीर की उपाधि का भी परित्याग करना होता है क्योंकि मूल में ये उपाधियाँ ही सबसे बडी हैं, जिन में आत्मा उलझी रहती है। यदि आन्तरिक जीवन को सर्वथा उपाधि रहित बना लेते हैं तो तब परमानन्द की अनुभूति होने लगती है। वह आनन्दानुभूति तब जीवन में समग्र रूप से व्याप्त हो जाती है। अतीन्द्रिय गुण भी अखूट होता है। कहते हैं कुबेर का खजाना अखूट होता है लेकिन कदाचित् वह भी खूट जाय पर अतीन्द्रिय गुणों का ख्वाजना कभी कभी नहीं खूट सकता है। आत्मा की यह उपब्धि महान् होती है। यह खजना तभी मिलता है जब आत्मा का स्वरूप अन्तर्मुखी बन जाता है। अन्तर्मुखी वृत्ति से ही आत्मलक्ष्मी की प्राप्ति होती है तो आत्म दीप का आलोक बिखरता है।

{177}

आत्मा की इस विकास यात्रा में बाहर दूर नही, भीतर गहरे जाना है। मन की गतिविधियों को इन्द्रिय सुख में से निकाल कर उसकी गतिशीलता को आन्तरिकता में प्रवेश कराना है। यही आत्म साधना है और यही मन को आत्मस्थ बनाने का अभ्यास हैं क्योंकि इसी साधना और इसी अभ्यास की सहायता से आत्मा अपने लक्ष्य तक पहुँच सकेगी-सिद्ध स्थिति को प्राप्त कर सकेगी। आप अपने आप के अन्दर भव्य स्वरूप को देखने की कोशिश करेंगे तो वही पर प्रभु के दर्शन होंगे।

{178}

{179}

इस विश्व की विचित्रता
का सही पता लगाना सुसाध्य
नहीं। कुछ मानव इसकी गवेषणा में लगे
हुए हैं। उन्होंने कुछ अंश में सफलता भी
पाई हैं, किन्तु उसका अनुकरण दुष्कर हैं।

{180}

किसी मानव
के प्रति कैसे भी
विचार किये जाये, वे विचार
सामने वाले के मानस से
अवश्य टकराते हैं।

{181}

आज की
दुनियॉ विषमता
के महासमुद्र में गोते लगा
रही है। ऐसे विकट समय
में समता आचरण की
नितान्त
आवश्यकता है।

{182}

आत्मा–प्रीतीति से आत्मानुभूति तक
पहुँचना कठिन नही होता है। आत्मानुभूति
हुई तो अन्तर्मुखी वृत्ति भी बन जाती है। तब
अन्तर्मुखी वृत्ति ही प्रबलता ग्रहण करती हुई
आत्मा को निर्लिप्तता की पवित्र अवस्था में ले
जाती है। अन्तरात्मा की गतित निर्लिप्तता
दिशा में ही अग्रसर बनती है।

{183}

सच्चे महात्मा कभी
अपने आपको प्रकट नही करते,
मान–प्रतिष्ठा एवं पूजा के लिए कभी
अपनी जिव्हा को नही हिलातेऔर न मन
में ही इस प्रकार का संकल्प आने देते हैं।
उनका ध्यान सदा वास्तविक
कर्तव्य कर्म में रहता है।

{184}

सामायिक
साधना, विधि पूर्वक
निरन्तर की जाय तो
उससे हमारा आवृत
आत्म–स्वरूप अनावृत हो
सकता है।

{185}

तीर्थंकरों
का नाम स्मरण भी
अलौकिक चमत्कार पैदा
करता है, होना चाहिए
श्रद्धा के
साथ ।

{186}

नमस्कार मंत्र के
पंचपदों में साधनारत एवं साध्य प्राप्त
समस्त गुणवान आत्माओं का समावेश
हो गया है। इसलिए वह सर्वाधिक
उपादेय है।

आप अटल सम्यक् आस्था को अपना लेते है तो
मान लीजिये कि अन्तिम विजय आपकी होगी। कोई
बाधा नही टिकेगी जो आपको पराजित कर सके– आप को अपने
विकास पथ से विचलित बना सके। नमस्कार मंत्र के प्रति अटल
आस्था का अर्थ है परमात्मा मे अटल आस्था होना और परमात्मा
में अटल आस्था होगी तो वह अपने ही आत्म स्वरूप के प्रति
होगी। आत्मा के प्रति जो अटल आस्था होती हैं, वही
सर्वोच्च आत्म विकास का श्रेष्ठ सम्बल है।

{187}

जो परमात्मा के भक्त का वाना
पहनकर अपने भक्त तैयार करने के लिये
किसी की प्रशंसा करता है, किसी के कुटुम्ब–कुल–
परम्परा का वर्णन करता है, किसी के इष्टदेव की स्तुति करता है,
माता के अनुकूल विचार पुत्र के विषय में कहता है तो कभी पुत्र को
एकान्त में पाकर उसके अनुकूल विचार प्रकट करता है, कभी पति का
गुण–गान पत्नी के सामने तो कभी पत्नी का पति के सामने एवं
पिता–पुत्र, सम्प्रदाय– सिद्धान्त आदि के विषय में उनके मानने वाले के
अनुकूल विचार कहकर अपनी पूजा करना चाहता हैं, वह परमात्मा के
नाम पर वेश्यावृत्ति करता है। हां, इसका मतलब यह नहीं की किसी के
वास्तविक गुणों का वर्णन नही किया जाय। प्रसंग आने पर वस्तु
स्वरूप का वर्णन करना अवश्य चाहिये, किन्तु निष्काम–भाव से।

{188}

प्रत्येक व्यक्ति को अपनी शारीरिक
शक्ति का व्यय करने केपहले यह ध्यान
कर लेना चाहिए कि मैं जिस शक्ति को खर्च
करना चाहता हूँ, उसका क्या उपयोग होगा ? सार्थक होगा या
निरर्थक ? मेरे व समाज के लिए हितकर होगा या
अहितकर ? और वह व्यय
मेरे लिए शक्य है या अशक्य।

{189}

{190}

सामायिक-साधना वह
साधना है जिसका अनुष्ठान
करने पर अन्त[illegible] से भर उठे, [illegible]
लख जीव योनियों में परिभ्रमण करती हुई
आत्मा अपने शाश्वत अमर स्वरूप को प्राप्त
कर लेती है।

{191}

[illegible]
ध्यान करना है तो
[illegible]-शरीर का
ध्यान छोड़ना पड़ेगा।

{192}

शरीर का
एवं अन्य मूर्त
पदार्थों का ध्यान छोड़कर ही
साधक साधना के क्षेत्र में
प्रगति कर सकता है।

{193}

वीतराग भगवान्
रूपी वैद्य ने संसारी आत्माओं
को कर्मरोग से मुक्त होने के
लिए सामायिक रूपी जड़ी-बूटी
का तन्दुरुस्ती का नुस्खा
दिया है।

{194}

सामायिक साधना करने
के लिए वही स्थान उपयुक्त है
जहाँ बैठने से चित्त स्थिर रह सके। अधिक
से अधिक आत्मचिन्तन हो सके, समभाव
प्राप्त करने का अभ्यास किया जा सके।

{195}

अन्तरदीप
को जलाने के
लिए आन्तरिक विवेक
का उभरना आवश्यक
है।

{196}

मन का
असंतुलन किसी
भी कार्य में व्यक्ति की
प्रगति नहीं होने देता अतः
संतुलन कभी नहीं खोना
चाहिए।

{197}

अशुभ प्रवृति करने के विचार
सर्वप्रथम मन में उद्भूत होते हैं।
मन के विचार ही वचन का रूप धारण करते
हैं और वे ही विचार आचरण के द्वारा
तदनुरूप कार्य कर गुजरते हैं। अतः मनः
शुद्धि आवश्यक है।

आप अटल सम्यक् आस्था को अपना लेते हे तो
मान लीजिये कि अन्तिम विजय आपकी होगी। कोई
बाधा नही टिकेगी जो आपको पराजित कर सके– आप को अपने
विकास पथ से विचलित बना सके। नमस्कार मंत्र के प्रति अटल
आस्था का अर्थ हैं परमात्मा मे अटल आस्था होना और परमात्मा
में अटल आस्था होगी तो वह अपने ही आत्म स्वरूप के प्रति
होगी। आत्मा के प्रति जो अटल आस्था होती हें, वही
सर्वोच्च आत्म विकास का श्रेष्ठ सम्बल हे।

{187}

जो परमात्मा के भक्त का बाना
पहनकर अपने भक्त तेयार करने के लिये
किसी की प्रशंसा करता हे, किसी के कुटुम्ब–कुल–
परम्परा का वर्णन करता है, किसी के इष्टदेव की स्तुति करता हे,
माता के अनुकूल विचार पुत्र के विषय में कहता है तो कमी पुत्र को
एकान्त में पाकर उसके अनुकूल विचार प्रकट करता है, कमी पति का
गुण–गान पत्नी के सामने तो कभी पत्नी का पति के सामने एवं
पिता–पुत्र, सम्प्रदाय– सिद्धान्त आदि के विषय में उनके मानने वाले के
अनुकूल विचार कहकर अपनी पूजा करना चाहता हैं, वह परमात्मा के
नाम पर वेश्यावृत्ति करता है। हां, इसका मतलब यह नहीं की किसी के
वास्तविक गुणों का वर्णन नहीं किया जाय। प्रसंग आने पर वस्तु
स्वरूप का वर्णन करना अवश्य चाहिये, किन्तु निष्काम–भाव से।

{188}

प्रत्येक व्यक्ति को अपनी शारीरिक
शक्ति का व्यय करने केपहले यह ध्यान
कर लेना चाहिए कि मैं जिस शक्ति को खर्च
करना चाहता हूँ, उसका क्या उपयोग होगा ? सार्थक होगा या
निरर्थक ? मेरे व समाज के लिए हितकर होगा या
अहितकर ? और वह व्यय
मेरे लिए शक्य है या अशक्य।

{189}

{190}

सामायिक-समभाव वह रसायन है जिसका अनुपान करने पर अनादिकाल से चार गति, चौरासी लाख जीव योनियों में परिभ्रमण करती हुई आत्मा अपने शाश्वत अमर स्वरूप को प्राप्त कर लेती है।

{191}

अविनाशी ध्यान करना है तो विनाशी-शरीर का ध्यान छोड़ना पड़ेगा।

{192}

शरीर का एवं अन्य मूर्त पदार्थों का ध्यान छोड़कर ही साधक साधना के क्षेत्र में प्रगति कर सकता है।

{193}

वीतराग भगवान् रूपी वैद्य ने संसारी आत्माओं को कर्मरोग से मुक्त होने के लिए सामायिक रूपी जड़ी -बूटी का तन्दुरुस्ती का नुस्खा दिया है।

{194}

सामायिक साधना करने के लिए वही स्थन उपयुक्त है जहाँ बैठने से चित्त स्थिर रह सके। अधिक से अधिक आत्मचिन्तन हो सके, समभाव प्राप्त करने का अभ्यास किया जा सके।

{195}

अन्तरदीप को जलाने के लिए आन्तरिक विवेक का उभरना आवश्यक है।

{196}

मन का असंतुलन किसी भी कार्य में व्यक्ति की प्रगति नही होने देता अतः संतुलन कभी नही खोना चाहिए।

{197}

अशुभ प्रवृत्ति करने के विचार सर्वप्रथम मन में उद्‌भूत होते हैं। मन के विचार ही वचन का रूप धारण करत हैं और वे ही विचार आचरण के द्वारा तदनुरुप कार्य कर गुजरते हैं। अतः मनः शुद्धि आवश्यक है।

निपुण बुद्धि की पहली कसौटी यह मानी
जानी चाहिये कि वह अध्ययन -मनन के लिये
ग्रंथों का चुनाव करे जिनसे आत्म शुद्धि की दिशा में आगे बढने
की प्रेरणा मिलती हो। योग्य सहयोगी सहज मे उपलब्ध हो जाय
यह सरल नही हे, अतः यदि योग्य सहयोगी का अभाव रहता है
तो प्रेरक ग्रंथों का चुनाव ओर अधिक महत्त्वपूर्ण वन जाता है।

{198}

में यदि किसी से चालाकी से वात
करता हूं ओर मन में यह समझता हूँ
कि में वडा चतुर हूँ। उसको केसा चकमा दिया कि
वह समझ ही नही सका; यह मेरा भ्रम है, आत्मवच्चना
है और मुर्खता का नमूना है। यह ऊपर से किसी कारणवश न समझ
पाया हो किन्तु उसकी अन्तर आत्मा पर मेरे कुटिल भावों की छाप
अवश्य पडेगी, वह समय पाकर प्रतिक्रिया के रूप में सामने आयेगी
और उससे वायुमण्डल दूषित होगा, जो कि मेरे और विश्व के लिए
अहितकर है। अतएव जीवन में प्रत्येक बात का ध्यान रखना चाहिए
और ऐसा ही कार्य करना चाहिए
जिससे किसी का अहित न हो।

{199}

इस संसार में परिभ्रमण करते हुए
इस आत्मा ने बहुत विष पिया है और
बहुत विष बिखेरा है। यह विष की जलन से संतप्त है, फिर भी
अमृत की ओर यह नही मुड रही है- इसी का आश्चर्य है। इस
आत्मा को अब अमृत की आवश्यकता है। अमृत की उग्र प्यास
जगाइये ताकि यह आत्मा विष के योग व्यापार से अलग हट कर
अमृत योग की याणना की दिशा में गति कर सके। अन्तिम
लक्ष्य यही कि आत्मा अमृतमय हो जाये।

{200}

जिस स्थान पर बैठने से
मानसिक चंचलता बढ़ती हो
विचारधारा टूटती हो, विषय विकार के शब्द
कानों में पड़ते हो, दृष्टि में विकार पैदा होता
हो, ऐसे स्थान पर बैठकर सही रूप में
सामायिक साधना सधना मुश्किल है।

{202}

अगर सम्यग्
दर्शन विशुद्ध है तो
हमारी साधना उपासनाएँ
विशुद्ध होंगी।

{203}

सम्यग् दर्शन
की नींव पर ही सम्यग्
चारित्र का भव्य महल
टिक सकता है।

{204}

कायोत्सर्ग में दो शब्द
हैं, काय और उत्सर्ग अर्थात् काया
का उत्सर्ग करना कायोत्सर्ग है। काया के
उत्सर्ग का तात्पर्य है कि शरीर के साथ
मन—वचन की चंचल क्रियाओं
का त्याग करना।

{205}

सावद्य योगों का त्याग
करके बैठ जाने मात्र से ही
सामायिक हो गई मान लेना, अधूरा है।
सावद्य योगों का त्याग करना भी आवश्यक है
और उसके साथ
साधनात्मक पक्ष को अपनाना
भी आवश्यक है।

{206}

सम्यग् दर्शन
हमारी साधना— उपासना
का मूल आधार है।

{207}

समीक्षण
ध्यान, मन को
वश में करने का
महत्वपूर्ण उपाय
है।

{208}

जिन दिव्य पुरुषों ने
अनन्त कृपा करके आत्म कल्याण
के मार्ग को निरूपित किया, उन दिव्य पुरुषो
के प्रति कृतज्ञता के भाव प्रदर्शित करने के
लिए २४ तीर्थकरो का गुणकीर्तन रूप स्तुति
पाठ करना, आत्म जागरण का सेतु है।

कलापूर्ण कृति अधिक
आकर्षक होती है। उसमे भी प्राकृतिक
दृश्यों की कृतियां अपूर्व होती है। सारा विश्व कलापूर्ण कृतियों से
परिपूर्ण है। इन्सान भी उन कला-कृतियों का एक प्राकृतिक अपूर्व
प्रतीक है। इसको विश्व में जो स्थान प्राप्त है, वह सबसे श्रेष्ठ है।
इसको समझ कर इसका उपयोग करना इन्सान
के हाथ की बात है।

{209}

मुझे शान्त दिमाग से यह सोचना है
कि अन्य प्राणियों की तरह मैं भी एक प्राणी हूँ,
अन्य प्राणियों ने क्या विकास किया और मैंने क्या विकास किया? आप
मेरी आशक्ति धन, धान्य,अक्षरीज्ञान प्राप्त करने आदि बाह्य सीमित दायेर
में ही है, तो मुझे समझ लेना चाहिए कि मैंने जड़ता का विकास किया,
जीवन-रोशनी के मूल्य पर अंधकार प्राप्त किया, जीवन के दिव्य तेज को
मिट्टी के अन्दर मिला दिया, उत्कृष्ट विकास साधन से नीचा चला गया ।
इस समय भी अगर सम्भल गया, तो आगे बढ़ सकता हूँ। वरना निकृष्ट
प्राणियों से भी पीछे रह जाऊँगा।

{210}

आज के अधिकांश मानवों का
यह चिन्तन है कि धर्म पर लोक को सुधारने
वाला है, पर मैं आप लोगों को यह दावे के साथ कह सकता हूँ
कि धर्म परलोक की ही चीज नही वरन्, यह इस जीवन को भी
उतना ही भव्य एवं सुन्दर बनाता है, जितना कि परलोक को।
आवश्यकता है, धर्म को विधिवत् अपनाने की।

{211}

{212}

दृढ़ संकल्प बल से मन
को आज्ञा देकर मन की वृतियों
को केन्द्रित करने का प्रयास करें। आपके
ऊर्जस्वल संकल्प का यह प्रभाव पड़ेगा कि
आपका मन भटकना
बन्द कर आपके इशारे पर
नाचने लग जायेगा।

{213}

मन का भूत
सबको परेशान किये
हुए है। इस भूत को वश मे
करने के लिए सम्यग् साधना
रूपी मन्त्र अपनाया जाये।

{214}

संकल्प में
वह शक्ति है कि
जिसकी बदौलत
असम्भव कार्यों को भी संभव
कर दिखाया
जा सकता है।

{215}

मानव तन में रहकर ही
चेतना, साधना का विशिष्ट संबल
प्राप्त कर सकती है। आत्म ज्योति का पूर्ण
साक्षात्कार भी इसी
तन में कर सकती है।

{216}

स्वाध्याय अपने आपको
समझने का महत्वपूर्ण उपाय है।
आज आदमी अपने आपको भूल रहा हैं,
इसलिए दु.ख की गलियों
में भटक रहा है।

{217}

संकल्प यदि
कमजोर है तो
कोई काम नही बनेगा।

{218}

संकल्प बल को मजबूत
कर, मन को आदेश
देकर साधना के अगले
आयाम में गति करें।

{219}

जब हमारा संकल्प
बल मजबूत होगा, तमी उस
संकल्प की वज्रशिला पर साधना
का भव्य महल खड़ा
रह सकेगा।

वहते पानी की तरह अभ्यस्त विचारधाराओं को रोककर अनभ्यस्त नवीन कार्य की ओर ले जाना प्रगति का चिन्ह है। अभ्यस्त मार्ग से तो अन्धा, वच्चा, मूर्ख और सामान्यवुद्धि के अन्य प्राणी भी यन्त्रवत् चलते ही हैं, इसमें कोई विशेषता नही। अभ्यस्त मार्ग पर आपत्तियां नही के समान आती है मगर अनभ्यस्त मार्ग पर चलने पर अनेक आपत्तियां आती है और वे स्वाभाविक-सी भी मालूम होती है। किन्तु जो विवेक-पूर्वक उनका सामना करता हुआ आगे वढता रहता है, वह अवश्य सफल हो सकता है। वही वस्तुतः प्रगति कही जा सकती है।

{220}

किसी से प्रशंसा की अभिलाषा करना अथवा हृदय में किसी व्यक्ति का पूज्य स्थान नही होने पर भी इस भाव से उसकी प्रशंसा करना कि अगर मैं इस की तारीफ नही करूंगा तो इसके भक्त मेरा सत्कार या मेरी प्रशंसा नही करेगें, अथवा लोग कहेंगे कि इनमें द्वेषभाव हैं, अतः एक-दूसरे की प्रशंसा नही करते हैं, आदि विचारों से भय खाकर जो व्यक्ति ऊपर से प्रशंसा करता है, वह व्यक्ति अपनी प्रामाणिकता से गिरता है, अप्रामाणिकता का दूषित वायुमण्डल तैयार कर अन्य को भी अप्रामाणिकता बनाता है। ऐसे मुनष्य की कृतियॉ हानिप्रद होती है।

{221}

अमुक समाज या अमुक व्यक्ति मेरा सत्कार-समान कैसे करे, उनको मेरे अनुकूल कैसे बनाऊँ, जब तक ये मेरे अनुकूल नही बनेंगे, तब तक मेरी प्रतिष्ठा नही होगी, ऐसा विचार कर जो अपनी आत्मा के माप-दण्ड को गिराकर आचरण करता है, वह व्यक्ति अपने आपको विश्व के निम्नतम प्राणियों से भी नीचे स्तर पर ले जाता है । उसका उपदेश व आचरण कृत्रिम होता है।

{222}

संस्कार बीज
है, जीवन वृक्ष को
पल्लवित करने के लिये।

मानवता-विरूद्ध किसी वर्ग या जाति
का निर्माण करना ओर उसी को अपने जीवन
का ध्येय वना लेना विकारी मन का परिचय है। अशान्ति,
अराजकता एवं साम्प्रदायिकता तथा व्यक्तिवाद का वीजारोपण
इसी से पल्लवित होता है। ऐसी
विचार-धाराएँ ही इन्सान को इन्सानियत
से दूर हटाती हैं।

{231}

हे आत्मन् ! तू यह सोचता
हैं कि मैं अमुक स्थान पर जाकर
मेरे जीवन में उत्तम अवस्था प्राप्त करूं,
क्योंकि वह स्थान पवित्र हैं ; पर यह सोचना
एकांगीपन है। कारण कि हर स्थान पवित्र और
अपवित्र दोनों अवस्थाओं से परिपूर्ण है। कोई भी
स्थान ऐसा नही जहॉ केवल पवित्रता या अपवित्रता
हो, हॉ न्यूनाधिकता हो सकती है, किन्तु
सच्ची पवित्रता का प्रेमी हर स्थान में
पवित्रता प्राप्त कर सकता है।
चाहिए दृढ संकल्प।

{232}

कोई भी कार्य तब तक
सफल नही होता जब तक उसे विधिपूर्वक
न किया जाय। बीज को पुष्पित फलित होने में
जैसे बाह्य पृथ्वी, पानी, पवन की अनुकूल सामग्री
की अपेक्षा रहती है वैसे ही सामायिक
साधना के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव
की शुद्धियॉ भी आवश्यक है।

{233}

{234}

जो बात बीत चुकी, उसका
स्मरण कर ग्लानि लाने की आवश्यकता
नहीं। किन्तु नवीन उत्साह पैदा करने की
जरूरत है। वास्तविक लक्ष्य में तन्मय होकर
कर्त्तव्य कार्य में लग जाने पर कोई कार्य
असाध्य नही। व्यतीत अवस्था से भी अच्छी
अवस्था प्राप्त की जा सकती है।

{235}

इन्सान तभी खतरनाक
होता है, जब वह
स्वमस्तिष्क के नियंत्रण से
बाहर हो जाता है।

{236}

जितनी भी साम्प्रदायिकता
से अनुप्राणित संस्थाएँ हैं,
वे प्रायः साम्प्रदायिकता के
अलावा निर्लक्ष्य होती हैं।

{237}

प्रकृति के अन्दर सभी
शक्तियां विद्यमान हैं। इसका
स्वभाव ही बुराई को दूर कर अच्छाई की ओर
ले जाना है। यह किसी प्रकार की बुराई को
सहन नही करती
हैं, उसे साफ करने की
कोशिश करती हैं।

{238}

जनसाधारण
का आज जो लक्ष्य बना हुआ है, वही बना
रहेगा, यह कोई निश्चित नही। एक समय
ऐसा आयेगा जब उसका आज से बिलकुल
विपरीत लक्ष्य होगा।

{239}

जीवन का
संबंध केवल शरीर
तक ही सीमित नहीं हैं।
इसका संबंध न्यूनाधिक रूप
से सारे संसार
के साथ हैं।

{240}

किसी अभिलाषा
से किसी की प्रशंसा
करना इन्सानियत से
गिरना है।

{241}

आदेश का अन्य पर असर
तभी होता है जबकि आदेशकर्ता
के जीवन में वह यथाशक्ति उतर पाया हो।
जीवन में उतरे बिना आदेश का अन्य पर
विकृत असर होता है, जो कि आगे चलकर
दम्भ के रूप में समाने आता हैं।

स्वयं के आचरण के अनुसार किसी
वाक्य को तोड़–मरोड़ कर उसका अर्थ करना
और उसके वास्तविक अर्थ को छिपा देना कमजोर मानस का
काम हैं। ऐसी क्रिया भयभीत दिल का नमूना है। ऐसे दिलवाले
विशेष कार्य करने मे भी असमर्थ
रहते हैं। अतएव दिल को मजबूत बनाना चाहिए
और निर्भयता पूर्वक व्याख्या करने
में तत्पर रहना चाहिए।

{242}

संगठन दो प्रकार के हो सकते है–
पहले वे, जो ऊपर से गढे जाकर नीचे
तक जाते हैं या नही भी आते हैं– गुम्बद की
तरह ऊपर ही ऊपर से सुशोभित रहते हैं। दूसरा प्रकार
यह होता है कि संगठन नीचे से खड़ा हो और जड़ों में मजबूती पाता
हुआ ऊपर उठाता रहे– जैसे कि वट वृक्ष होता है जो नीचे जमीन के
भीतर तक अपनी जड़ों को
पक्की करके ऊपर तक उठता है लेकिन वह धरती से दूर नहीं रहता
और नई–नई जड़ों को धरती की ओर फैंकता रहता है जमकर
नये–नये आधार खड़े करने के लिये । इस प्रकार का सुदृढ़ आधार
और विस्तार ही किसी संगठन को सुव्यवस्थित, कार्य कुशल
एवं दीर्घजीवी बना सकता है।

{243}

कोई भी कार्य करे, किन्तु उसका बराबर
विचार रहे कि दान की भाव–शुद्धता का पूरा–पूरा
निर्वाह किया जाय। कोई भी सुकृत्य भावना खोकर रूढ
और प्राणहीन हो जाये उससे बढकर अन्य कोई हानि
नही। किसी भी उज्ज्वल स्वरूप को विकृत बनाना अक्षम्य
माना जाना चाहिये औश्र दान को व्यापार बनाना तो
दण्डनीय भी। कृपया दान को व्यापार न बनाएँ और
दान की भाव–शुद्धता का सर्वत्र निर्वाह करें।

{244}

{245}

तुम प्रसन्नचित रहो, चिन्ता करने की आवश्यकता नही, किन्तु स्वयं अपने जीवन में जिन-जिन बातों की त्रुटियां या कमजोरियॉं अनुभव करो, उनको शीघ्रातिशीघ्र दृढ संकल्प के साथ दूर कर दो। फिर तुमको कभी किसी विफलता के दर्शन नही होंगे।

{246}

शिशु जीवन में पडे सुन्दर या असुन्दर प्रभाव उसके पूरे जीवन को बनाने या बिगाडने के उतरदायी होते हैं।

{247}

संस्कार बीज है, जीवन वृक्ष को पल्लवित करने के लिये।

{248}

आजकाल अधिकांश मनुष्यों का केन्द्र-बिन्दु जड बना हुआ है। वह बाह्य भौतिक रूप को ही प्राप्त करने में अपना श्रेय समझते हैं। आज के इन्सान में वास्तविक प्रेम का संचार, केन्द्र-बिन्दु के परिवर्तन से ही हो सकता हैं, मगर वह शिक्षित एवं प्रतिष्ठित कहे जाने वालों के अधीन हैं।

{249}

जिस सद्विचारधारा का बीज वपन करते हो, उसको सावधानी के साथ विकसित एवं प्रफुल्लित करो। उसके अनुकूल वायुमण्डल से उसका सिंचन करो। उसकी देख- रेख तब तक पूर्ण शक्ति के साथ करे, जब तक कि वह परिपक्व एवं मजबूत न बन जाय, अन्यथा उसकी विपतरीत विचारधाराएँ उसको चूस लेगीं।

{250}

जो आत्मा एक बार भी सम्यक्त्व का स्पर्श कर लेता है। उसका अनन्त संसार परिभ्रमण परिमित हो जाता है।

{251}

जिनेश्वर भगवन्तों के वचन अन्यथा कदापि नही होते, ऐसी दृढ आस्था जिसको प्राप्त है, उसको सम्यक्त्व निश्चल है।

{252}

जिस समय विचारों का तूफान आता है, उस समय किसी भी कार्य को करना अनर्थकारी होता है। उस समय ज्ञान की मात्रा विलुप्त हो जाती है। कर्तव्या- कर्तव्य से विमूढ होकर कार्य किया जाता है। अतएव वह अज्ञानमूलक है और अज्ञानमूलक कार्य कभी हितकर नही कहा जा सकता।

जिस वस्तु में जिस स्वभाव की
अधिकता होगी, उस वस्तु से वही स्वभाव
दूसरे के सामने उपस्थित होगा। अगर दो वस्तुओं का
समान स्वभाव हें तो दोनों विना संघर्ष के मिल जायेंगी और उनकी
शक्ति दुगुनी हो जायगी। अगर स्वभाव विपरीत हं, तो दोनों में
संघर्ष होगा या जिसकी शक्ति प्रवल होगी, उस रूप में परिणत हो
जाएगी या संघर्ष से नवीन शक्ति पदा होगी और उसका
स्वभाव भी दोनों से विलक्षण होगा।

{253}

इन्सान की गलती को जानते
हुए भीउसके सामने स्पप्ट वात रखने में
संकोच करना, भय खाना ओर यह सोचना कि
स्पष्ट कहने से यह नाराज हो जायगा अथवा यह मेरी जो इज्जत
कर रहा हैं, उसमें फर्क पड जायगा या मेरी छिपी हुई गलती
प्रकट कर देगा, आदि बातों को लेकर जिस व्यक्ति को गलती
हो, उसके सामने उस का समाधान न कर, दूसरों के सामने
कहकर भ्रम फैलाना, कमजोर दिल के व्यक्तियों का कार्य है। वे
विचार स्वयं को ही अधिक हानि पहॅुचाते
हैं। ऐसे व्यक्तियों पर दया करना सामर्थ्य-
सम्पन्न इन्सानों का कर्त्तव्य है।

{254}

जैसे लोगों की दी हुई सत्कार संज्ञा
के लिएमेरा दिल लालायित रहता है, उसी तरह
लोगों के द्वारा दी गई तिरस्कार संज्ञा से भी रहना चाहिए।
एक से प्रसन्न और दूसरी से अप्रसन्न न होना चाहिए।
जब तक द्वैतभाव की कल्पना आचरण रूप में विद्यमान हैं,
तब तक स्वयं को इन्सानियत से दूर समझना चाहिए।
अगर जीवन सफल बनाना है
तो सर्वप्रथम इन्सानियत प्राप्त करो।

{255}

{256}

इन्सान व्यर्थ की चिन्ता से
परेशान होता है। सार्थक चिन्ता से हैरानी
नही आती, किन्तु उत्साह बढता है। कार्य
करने में तत्परता आती है और जीवन के
अमूल्य तत्वों का व्यर्थ अपव्यय नही होता।

{257}

'सम' लक्षण
जब अन्तर-चेतना
में विकसित हो जाता है तो
जीवन समुज्जवल बनते
कोई देरी
नही लगती।

{258}

आत्मा ड्राइवर
है, तन मन, वचन रूपी
गाडी हांकने
के लिये।

{259}

बिना सोचे-समझे कार्य करना
पाशविक वृति का परिचायक है।
साम्प्रदायिकता के नशे में निरपराधी प्राणी के
प्राणों का हरण करना अत्यन्त निकृष्ट कार्य
है। यह इन्सान के लिए भारी कालिमा का
धब्बा है। इस धब्बे से सदा दूर रहना
प्रत्येक इन्सान का प्रथम कर्तव्य है।

{260}

जो कार्य सोच-समझकर उत्साह
से किया जाता हैं, वह दुष्कर होने पर
भी आसान मालूम होता हैं और सहज ही किया
जा सकता है। मगर जो कार्य बिना सोच-समझे
उत्साह रहित रूढिपरम्परा से किया जाता हैं,
वह आसान होने पर भी दुष्कर
मालूम होता है। और सहज में नहीं
किया जा सकता।

{261}

सम्यक्त्व विहीन तपस्या
का कुछ भी महत्व नही
है।

{262}

जिसका आकार
मन में बसाया जाता है,
वह आदमी भी एक दिन
उसी रूप में बन
सकता हैं।

{263}

जिसमें ज्ञान नही, उपयोग
नही वह जड तत्व हैं, जो जड हैं, उसमे
चेतना नही होने से राग-द्वेष आदि कुछ भी
वृतियॉ नही होती हैं, राग-द्वेष संकल्प- विकल्प
शुद्ध-अशुद्ध आदि भावों की स्थितियां चेतन्य
में बनती हैं।

प्रकृति का रहस्य अभी अज्ञात हैं। इसको मालूम करने के लिए अत्यधिक तपश्चर्या की आवश्यकता है। तपश्चर्या केवल शारीरिक ही नही, किन्तु मन और बुद्धि को विशुद्ध करने के लिए निरन्तर प्रयास को ही वास्तविक तपश्चर्या कहा जा सकता है। इस तपश्चर्या से जो शक्ति प्राप्त होती हैं, वही शक्ति वास्तविक रहस्य को ज्ञात करा सकती है।

{264}

जो पवित्र दिल से सदा सबका हित चाहता हैं, कभी भी किसी के प्रति दुर्भाव नही आने देता और अगर कभी किसी के प्रति कुछ दुर्भाव आ भी गया हो तो तुरन्त उसको दूर करने की शक्ति रखता हैं, उस व्यक्ति के लिए सदा ही क्षमा-याचना का दिन समझना चाहिए। किन्तु जो व्यक्ति अधिकांश रूप से अपने दिल ओर दिमाग को बुरे विचारों में रखता हैं और यही सोचा करता हैं कि मैं कैसे सबसे श्रेष्ठ कहलाऊँ ? प्रायः इन्हीं विचारों को कार्यान्वित करने के लिए बाह्य दिखावे के तौर पर नम्र बनता है या क्षमा-याचना का उच्चारण करता हैं, वह क्षमा-याचना के संवत्सरी पर्व को भी लजाता हैं एवं कपट-क्रिया की वृद्धि करता है। ऐसे व्यक्ति आत्मशुद्धि से दूर रहते हैं।

{265}

सामान्य मनुष्य को, अबोद्य बच्चे को एवं साधक को उत्तम वातावरण में रहने की और प्रत्येक समय सुसंस्कारित जीवन को दृष्टि-पथ पर रखने की अत्यन्त आवश्यकता होती है। इसमें जरा-सी भी सावधानी नीचे स्तर पर ले जाने में कामयाब हो सकती है, क्योंकि विश्व में पिष्टपेषण एवं विकृत वायुमण्डल का प्राबल्य रहता है।

{266}

{267}

राग, द्वेष, आसक्ति, मोह
आदि जो आत्मा को मलिन बनाने
वाली विभाव वृत्तियाँ हैं, उनसे यह
आत्मा जितनी-जितनी परे हटती है- उतनी
उतनी अपने निज आनन्दमय स्वरूप की
अभिव्यक्ति प्राप्त करती है।

{268}

मन से गति
हो रही है, पर यह
विचारना है कि मन
की यह गति समभाव
से हो रही है या विषम
भाव से हो रही है।

{269}

जितनी-जितनी
त्याग वृति जीवन में
पनपती है, उतनी-उतनी
बन्धन से आत्मा मुक्त
होती है।

{270}

जीवन को उन्नत
बनाने के लिए प्रत्येक
आत्मा को अपना चरम लक्ष्य
सामने रखना चाहिये और लक्ष्य
के अनुरूप ही अपना आचरण
ढालना चाहिये।

{271}

विषमता एक संक्रामक
रोग है, जो तेजी से मानव जीवन
में व्याप्त होता जा रहा है। इस संक्रामक
रोग से मुक्त होने के
लिए, रोग के मूल का निदान
करना आवश्यक है।

{272}

यह चतुर्गति
रूप संसार एक
तरह से जेल ही है।
जहाँ यह जीवात्मा कर्म
बेडियों में बंधी विविध
यातनाएँ सहन कर
रही है।

{273}

आत्मिक
स्वतन्त्रता की प्राप्ति होने
पर देश की स्वतंत्रता प्राप्ति
भी सहज ही सार्थक
होगी।

{274}

याद रहे, जो व्यक्ति
अपने धर्म व संस्कृति के
प्रति निष्ठावान नही, वह परिवार, समाज
और राष्ट्र के प्रति भी निष्ठावान नही हैं।

इन्सान को सदा अपनी अवस्था को देखते
रहना चाहिए, किस समय क्या अवस्था है ? इस
समय मैं क्या कर रहा हूँ, मेरी विचार-धाराएं किस ओर वह रही हैं,
उसमें किस पदार्थ के प्रति आसक्ति है और किस के प्रति विरक्ति
है, प्रयत्न क्या चल रहा हैं, शारीरिक सामर्थ्य कैसा हैं ?
आदि अवस्थाओं में स्वकर्त्त का पता लगाकर उसके ऊपर
दृढता के साथ चलते रहना ही इन्सान की विशेषता है।

{275}

प्राणी प्रायः सुख और दुःख में स्वतन्त्र है,
मगर इसमें कुछ वातावरण भी साधक या बाधक
बनता हैं। इसकी जिम्मेदारी समाज पर ही विशेष रूप
से आधारित है। समाज जैसा वातावरण तैयार करता हैं,
उसी के अनुसार प्राणी अपने सुखी या दुःखी रूप में अनुभव करने
लगता हैं और जब वह अनुभव दृढ होकर अधिक समय तक रह जाता
है, उसमें ऊँच-नीच के भावों की सृष्टि होती है। वही सृष्टि अनेक वर्गो में
विभक्त होकर घृणा एवं पाशविक संघर्ष का कारण बनती है।
इससे इन्सान, इन्सानियत को भूलकर किसी अन्य मार्ग पर
चल पडता है। यही वृत्ति परतन्त्रता एवं
सुख-दुःख का कारण बनती है।

{276}

चिन्ता करने से कोई लाभ नही होता, बल्कि
हानि होती है। अगर कुछ करना है तो प्रसन्नतापूर्वक उसमें लग
जाना चाहिये। समय या मुर्हूत की अनावश्यक प्रतीक्षा नही करनी
चाहिये। कार्यारम्भ का वही समय या मुर्हूत अति उत्तम हैं, जिस
समय पूर्ण उत्साह हो। बिना उत्साह अच्छे मुहूर्त में आरम्भ
किया हुआ कार्य भी सफल नही हो पाता।

{277}

{278}

जो वस्तुस्वरूप का प्रायः बौद्धिक ज्ञान होता है, वह जीवन का साधक भी हो सकता है और बाधक भी। वस्तुस्वरूप का ज्ञान क्या है और क्यों हैं, इस बात का जब तक अनुभूतिमूलक ज्ञान नही होता, तब तक वह बाधक रूप में रहता है। अनुभूति होने पर वह साधक रूप हो जाता है।

{279}

जिसका आधार मन में बसाया जाता है, वह आदमी भी एक दिन उसी रूप में बन सकता है।

{280}

आत्मा को साफ करने के लिए सामायिक का स्नान करिये। ध्यान का साबुन लगाइये। यह स्नान महत्वपूर्ण है।

{281}

समता के मंगलमय दिव्य वातावरण का सृजन करने और विषमता के विषमय वातावरण को समाज और राष्ट्र के जीवन से जड-मूल सहित उखाड फेंकने के लिए देखी-देखी कार्य करने की प्रवृति को छोडकर अपने स्वतंत्र चिन्तन को जागृत करते हुए आत्मिक स्वातंत्र्य प्राप्त करें।

{282}

तपश्चर्या, शरीर से ममत्व हटाने पर ही हो सकती है। जब तक शरीर पर मूर्छा भाव है, तब तक आप तपश्चर्या में अपना कदम आगे नही बढा सकोगे।

{283}

क्रोध करने वाले व्यक्ति की शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक सभी तरफ से हानि होती है।

{284}

जैसी जिसकी भावना होती है, उसी रूप में सिद्धि भी होती है।

{285}

कोइ भी कार्य यदि आपको करना है तो उसका नक्शा पहले मन में तैयार होगा। जब मन में अच्छी तरह नक्शा जम जायेगा,तभी अस्खलित रूप से,उसी मन के विचारों के अनुरूप वचन प्रयोग होगा और वहीं काया में भी परिणित होने लगेगा।

जो केवल एक ही अवस्था मे रहता हे, वह वास्तविक अनुभव के विना प्रगति नही कर सकात। जव तक विविध विपरीत परिस्थितियो को सामना होने पर उनमे क्षीर-नीर की तरह सावधानी पूर्वक विश्लेषण कर गुणावगुण का निर्णय नही किया जाता, तव तक वही अवस्था रहती हे। यह दृढ़ विश्वास भी नही हो सकता और न आगे बढने की तीव्र शक्ति ही पेदा की जा सकती हे। अतएव प्रगतिशील पुरुप को विपरीत परिस्थितियो का भी धैर्यपूर्वक प्रगति के साधन रूप से ही सत्कार करना चाहिए। हॉ, यह कार्य जनसाधारण का नही।

{286}

आजकल राजधानी मे वोटों की प्रवृत्ति जोरो से चल रही है। वोट प्राप्त करने वाली प्रत्येक पार्टी वोटों के लिए भरसक प्रयत्न कर रही है। यह प्रयत्न सडकों, रास्तों, पेम्पलेटो एवं भाषणों तक ही सीमित नही रहा है, किन्तु प्रत्येक घर मे, प्रत्येक वयस्क मनुष्य को साम, दाम, दण्ड और भेद आदि का प्रयोग दिखाकर भी चल रहा है। खडा होने वाला व्यक्ति चाहे अयोग्य या स्वार्थ की जघन्य भावना की साकार मूर्ति भी क्यों न हो, उसको भी सुयोग्य एवं सत्पुरुष का चोला पहनाया जा रहा है। यह तरीका प्रजातन्त्र का नही, यह तो पूंजीपति, साम्राज्यवादी एवं कुटिलता का है। इससे प्रजातन्त्र उतना ही दूर है जितना की घोर अंधकार से देदीप्यमान प्रकाश। यह प्रवृत्ति दैविक नही है, राक्षसी है ; जनता को अन्धकार मे ले जाने वाली है।

{287}

जिस जनहितकारिणी संस्था में जो मानव रहता हो, उस व्यक्ति को इस बात का ध्यान रहना चाहिए कि उस संस्था के मौलिक नियमों को मेरे द्वारा आघात न पहुँचे। मैं उस संस्था के नियमों का यथाशक्य पालन करता हूँ या नही, अगर करता हूँ तो किस दृष्टि से ? जिस दृष्टि से उन नियमों का पालन किया जाता है, वह दृष्टि दुनिया के सामने स्पष्ट होनी चाहिए। दुनिया मुझे क्या कहेगी, इस विचार से अपना दृष्टिकोण स्पष्ट नही करना दुनिया को धोखे में डालना है और धोखा देनेवाला व्यक्ति प्रामाणिक नही हो सकता।

{288}

{289}

यदि हमारे विचार
अच्छे होंगे तो हमारा चैतन्य देव
भी पवित्र रहेगा और हमारे विचार बुरे होंगे
तो हमारी चेतनना
भी बुरी होगी।

{290}

वाक् संयम
जीवन के श्रेष्ठ
गुणों में एक
गुण हैं।

{291}

वाणी का
ऐसा सम्यक् प्रयोग हो कि
सामने वाला आपको
अधिकाधिक सुनना चाहे।

{292}

वाणी का सम्यक्
प्रयोग व्यक्ति की महानता का परिचायक है
तो वाणी का गलत प्रयोग व्यक्ति की
हीनता का परिचायक है।

{293}

भौतिकता से ओतप्रोत
मानव को जो चीजें सुखप्रद
लगती है वेसच्चे सुख को प्रकट
नही कर सकती। वास्तविक
आत्मिक सुख बाह्य पदार्थों से
कभी प्राप्त नही होता।

{294}

वाणी सभी
मानवों को प्राप्त
हैं, लेकिन उसके साथ
संयम है या नही,
इसका विवेक
आवश्यक है।

{295}

वाणी जीवन
का आभूषण है। इस
आभूषण को संभाल कर
रखना आप लोगों का
कर्तव्य है।

{296}

पौद्गलिक सुख क्षणिक
हैं, नष्ट होने वाले हैं, स्थायी एवं
वास्तविक सुख आत्मिक है, अतः उसे
प्राप्त करने के लिए सत् पुरुषार्थ
करना चाहिए।

किसी भी सिद्धान्त के सत्य-निष्टा
पूर्वक आचरण से जो प्रचार होता है, वह
वास्तविक एवं स्थायी रूप से जीवन का निर्माण
करता है। किन्तु, जो प्रचार आचरण रूप से न होकर मौखिक
आदि साधनो द्वारा होता है, वह अवास्तविक एवं अस्थायी होता
है। उससे जीवन का हास एवं कपटाचरण का वायु-मण्डल
तैयार होता है, जो कि वास्तविक जीवन-निर्माणरूप स्वास्थ्य
के लिए घातक सिद्ध होता है।

{297}

प्रत्येक इन्सान को नियमित रूप से एवं
व्यवस्थित रूप मे विश्व हितकारी कुछ-न-कुछ
कार्य करने चाहिए। विना कुछ किये विश्व से सहायता
लेना उचित नही कहा जा सकता। इन्सान को विश्व के पदार्थो से जो
भी शारीरिक, मानसिक एवं वाचिक, आदि शक्ति प्राप्त हुई हें, उसका
सदुपयोग तभी समझा जा सकता है, जबकि इन्सान उक्त (विश्व) के
लिए कुछ करता हो। अगर वह ऐसा कुछ भी नही करता है और
व्यर्थ ही व्यक्तिगत स्वार्थ मे इस शक्ति का व्यय
करता है, तब वह विश्व में दूसरों को कष्ट देने
वाला एवं कृतध्न की श्रेणी में आ जाता है।

{298}

किसी कार्य में अतिशीघ्र उत्तेजना आना
अत्यधिक अपूर्णता का द्योतक है। ऐसे व्यक्ति
हिताहित सोचने में असमर्थ रहते हैं। वे तात्कालिक फलाफल
को देखकर अपनी शक्ति को पतंग की तरह झोंक देते हैं। जो
ऐसा नही करता हैं, वह उनको दृष्टि में कायर या भीरू दिखाई
पडता है।मगर जो दूरदर्शिता पूर्वक कार्य करने में तत्पर हैं,
वह कायर व भीरू की श्रेणी में नही आ सकता।

{299}

{300}

कच्ची मिट्टी रूपी मानव शरीर की कोठी को कितना ही धोया जाय, साफ सुथरा बनाया जाय, उस पर कितनी ही कलाकारी की जाय, पर वह अधिक समय टिकने वाली नहीं हैं।

{301}

प्रेम की गंगा इस वाणी के द्वारा बहायी जा सकती है और जहर की वृष्टि भी इससे की जा सकती हैं।

{302}

जब तक मानव की बाह्य दृष्टि बनी रहेगी तब तक वह वास्तविक आनन्द की राह को नहीं खोज सकेगा।

{303}

आत्मा के सौन्दर्य को बढ़ाने के लिए सद्‌गुणों को बढ़ाना चाहिए। सद्‌गुण बढ़ेंगे तो आत्मिक सौन्दर्य निखरेगा। यह सौन्दर्य ही स्थायी एवं शाश्वत रहने वाला है।

{304}

जब आत्मा स्व स्वरूप को विस्मृत कर पर भावों की ओर गमन करती है तब उस में विषम भावों का सर्जन होता है। जब स्वरूप जागरण में लगती है, तब समत्व रूप उभरता है।

{305}

स्थायी रहने वाला यदि कोई तत्व है तो वह चैतन्य आत्मा है उसे संस्कारित करना अमरता पाना है।

{306}

बाह्य दृष्टि में कीह आनन्द नही है। आनन्द का स्त्रोत अन्तर दृष्टि से फूटेगा।

{307}

विषम भावों में जाकर आत्मा अपने स्वयं के स्वरूप को भूलती हुई काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, द्वेष आदि दुर्गुणों का प्रादुर्भाव करने लग जाती है, जो दु.खों का महाद्वार है।

जेसे सत्य या सत्य सम्बन्धी किये जाने
कार्य को किसी के भी सामने कहने में हमें
संकोच या हिचकिचाहट नही होती, वेसे ही विवश
होकर या प्रमाद एवं स्वार्थ आदि की दृष्टि से किये
जाने वाले कार्यो को भी जनता के सामने निर्भय
होकर कहना चाहिये। उसमें संकोच करना या
वचन आदि के आवरण में उसे व्यक्त करना
इन्सानियत के खिलाफ हे।

{308}

इच्छाओं को रोकना जीवन को कुण्ठित
करना है, विकास को रोकना है। उन्हें थेष्ट प्रवृति
करने देना जीवन का विकास करना हे। यह विचार विना मननपूर्वक
गतानुगतिक लोकोक्ति को पुष्ट करता हे। वस्तुतः इच्छाओं की यथेष्ट
प्रवृति को रोके बिना अपूर्व जीवन प्राप्त नही किया जा सकता है। नदी का
प्रवाह रोके बिना उससे बिजली पैदा नही की जा सकती। उसको रोकने में
कष्ट का सामना करना पडता है। इन्द्रियों की यथेष्ट प्रवृतियॉ रूकती हैं,
तभी आत्मसाधना में सफलता प्राप्त की जा सकती है। इच्छाओं
को रोकने में आन्तरिक संघर्ष अवश्य होता है, पर इस
संघर्ष के बिना जीवन में बिजली (ऊर्जा) पैदा नही
की जा सकती हैं। हॉ, इससे सतत् जागरूकता
की अत्यधिक आवश्यकता होती है।

{309}

मनुष्य अधिकांश समय इधर-उधर की
बातों में नष्ट कर देता हैं। मगर बहुत कम
व्यक्ति यह विचार करते हैं कि हमारा समय व शक्ति हित कार्य
में खर्च हो। यह जीवन एक अमूल्य प्रयोगशाला हैं। इसमें उसी
चीज का प्रयोग करना हैं, जो अपूर्व एवं कल्याणप्रद हो। पर
जिसकी विश्व में आवश्यकता न हो अथवा प्रचुर मात्रा में प्रयोग
हो चुका हो, स्वलिप्सा से उसका प्रयोग करते रहना,
समय व शक्ति का दुरूपयोग करना है।

{310}

{311}

मनुष्य तन को प्राप्त कर
मानवता को प्राप्त करना यह दुलभा अंग
माना गया है। मानव बनकर भी
मानवता का न होना, सच्चा मानव
जीवन नही है।

{312}

आत्मा को शुद्ध
एवं पवित्र बनाने के लिए
मन को मांजने की कला
सीखना चाहिए।

{313}

जो क्षण
बीत गया है वह
लाख प्रयत्न करने पर
भी वापस नही
लौटता ।

{314}

शासन रहितता से अभिप्राय
उस शासन से हैं, जो शासन शोषण
या हिंसा से युक्त हो, जिसमें विचार-स्वातन्त्रय
का दमन नही किया जाता हो। शासन
इन्साद्रिय से वंचित रखने वाला हो, बल्कि प्रेम
या अहिंसा का शासन तो अवश्य हो। इसके
बिना प्रगति नही की जा सकती।

{315}

जिस पदार्थ के जैसे गुण या
अवगुण हों, उस पदार्थ के विषय
में निष्पक्ष दृष्टि से वर्णन करने में कोई
आपत्ति नही हैं। अगर वास्तविक वर्णन नही
किया गया तो साधारण जनता भ्रम में
पडकर अपना या अन्य का भी अहित कर
सकती है।

{316}

शारीरिक सौन्दर्य
को छोडकर आत्मिक
सौन्दर्य को प्राप्त करने के
लिए प्रत्येक मानव को
प्रयत्नशील
होना चाहिए।

{317}

वैभाविक भावों
से मुक्त होने के लिए
तथा स्वस्वरूप को प्रकट
करने के लिए समभाव की
साधना की जाय।

{318}

प्रत्येक मनुष्य प्रत्येक
पदार्थ की तह में वेठकर गुणावगुण नही
देख सकता । इसका निरीक्षण तो वही
मनुष्य कर सकता हे, जो व्यक्तिगत स्वार्थ
से रहित, निर्लिप्त एवं निष्पक्ष हो।

किसी एक ही एकान्तिक नियम में
बंधी हुई विचार-धाराएँ गन्दी हो जाती हं,
उनमें से सार तत्त्व धीरे-धीरे निकल जाते हं ओर
निस्सार एवं व्यर्थ के तत्व इकट्ठे हो जाते हैं। जिस समय
उनमें सार तत्त्व का प्रावल्य होता हे, उस समय उनका
परिवर्तन करते रहने से उनकी
तात्त्विक शक्ति नष्ट नही हो पाती।

{319}

आजकाल आजादी के लिए विभिन्न व्यक्ति
अपनी-अपनी इच्छानुसार वौद्धिक व्यायाम कर रहे हैं।
किसी का कहना हैं- हमको पूंजीपति आजाद नही होने
देते अथवा यह यन्त्रवाद हमारी आजादी में वाधक हो रहा हैं। किसी का
कहना है हमारी आजादी सफेद टोपी ने छीन ली, आदि। जितने मुँह
उतने मत बनते जा रहे हैं। मगर वास्तविक दृष्टि से सोचने का कष्ट
बहुत कम व्यक्ति करते हैं। आजादी क्या कोई चीज हैं जो हमसे कोई
छीन ले। वह हमारे से कोई नही छीन सकता, अगर सही रूप से
आजादी समझ नी गई हो। आजादी की मूल स्थिति हमारे अन्दर
विद्यमान हैं, उसको हम वास्तविक रूप से अपनाएं तो हम निश्चित रूप
से आजाद एवं आबाद हो जायें और वह हैं सत्य को सामने रखकर
विवेक एवं धैर्य पूर्वक कर्मशीलता।

{320}

जीवन के यात्रा-काल में किसी भी
इन्सान को पापी या दुष्ट, कुपात्र या नीच
कहना व समझना, स्वयं को वैसा बनाना है।
प्रत्येक इन्सान के साथ प्रेमपूर्वक पेश आना, उसकी स्थिति,
समय की स्थिति एवं उस स्थान के वातावरण को देखकर
सहानुभूति पूर्वक पवित्र एवं व्यापक वायुमण्डल का निर्माण
करना जीवन-यात्रा का कर्त्तव्य होना चाहिये।

{321}

{322}

किसी चीज का पहले भार
मालूम होता है। उसका लगातार
अभ्यास होने पर वही चीज हल्की मालूम होने
लगती है। इसमें अधिक अभ्यास की
आवश्यकता रहती है। अभ्यास नही करने पर
हर एक काम कठिन हो जाता है,
चाहे वह छोटा भी क्यों न हो।

{323}

सम या विषम
भावों का प्रादुर्भाव
आत्मा में ही
होता है।

{324}

मन को मांजने
के लिए परोपकार
की भावना आना
आवश्यक है।

{325}

जो शिक्षा दूसरे को देनी हैं,
वह शिक्षा पहले अपने पर आजमाकर अनुभव
करे कि यह मुझे हितकर एवं प्रियकर मालूम
होती हैं या नही। फिर जो उसे हितकर एवं
प्रियकर ज्ञात हो, वही दूसरे को दें।

{326}

कोई भी महापुरुष बने
और प्राणी मात्र के लिये कल्याणप्रद मार्ग
प्रशस्त करे, ऐसी भावना जिस मानव के
अन्त करण में बार–बार उठती हो, वह मानव
एक रोज अवश्य महापुरुष बन सकता है।

{327}

क्षमा, सौहार्दता,
अनासक्ति, विरक्ति,
शत्रु–मित्र दोनों पर
समत्व की वृत्ति बनाना
आत्मिक सौन्दर्य को
जगाना है।

{328}

भव्यात्माओं !
जगने का समय है,
जागों, उठो और आत्म
जागरण में आगे बढो।

{329}

मन की तरंगें अनेक हैं।
इनके बीच में स्वतत्त्व छिपा हुआ
है। इस निजी तत्त्व को यदि पाना है,
तो पहले मन की विभिन्न तरंगो को पहचानना
अत्यावश्यक है। उसके पश्चात्
आगे की गति बनती है।

किसी एक ही एकान्तिक नियम में
वंधी हुई विचार-धाराएँ गन्दी हो जाती हैं,
उनमें से सार तत्त्व धीरे-धीरे निकल जाते हैं और
निस्सार एवं व्यर्थ के तत्व इकट्ठे हो जाते हैं। जिस समय
उनमें सार तत्त्व का प्रावल्य होता हे, उस समय उनका
परिवर्तन करते रहने से उनकी
तात्त्विक शक्ति नष्ट नही हो पाती।

{319}

आजकाल आजादी के लिए विभिन्न व्यक्ति
अपनी-अपनी इच्छानुसार वौद्धिक व्यायाम कर रहे हं।
किसी का कहना हैं- हमको पूंजीपति आजाद नही होने
देते अथवा यह यन्त्रवाद हमारी आजादी में वाधक हो रहा हैं। किसी का
कहना है हमारी आजादी सफेद टोपी ने छीन ली, आदि। जितने मुँह
उतने मत बनते जा रहे हैं। मगर वास्तविक दृष्टि से सोचने का कष्ट
बहुत कम व्यक्ति करते हैं। आजादी क्या कोई चीज हैं जो हमसे कोई
छीन ले। वह हमारे से कोई नही छीन सकता, अगर सही रूप से
आजादी समझ नी गई हो। आजादी की मूल स्थिति हमारे अन्दर
विद्यमान हैं, उसको हम वास्तविक रूप से अपनाएं तो हम निश्चित रूप
से आजाद एवं आबाद हो जायें और वह हैं सत्य को सामने रखकर
विवेक एवं धैर्य पूर्वक कर्मशीलता।

{320}

जीवन के यात्रा-काल में किसी भी
इन्सान को पापी या दुष्ट, कुपात्र या नीच
कहना व समझना, स्वयं को वैसा बनाना है।
प्रत्येक इन्सान के साथ प्रेमपूर्वक पेश आना, उसकी स्थिति,
समय की स्थिति एवं उस स्थान के वातावरण को देखकर
सहानुभूति पूर्वक पवित्र एवं व्यापक वायुमण्डल का निर्माण
करना जीवन-यात्रा का कर्त्तव्य होना चाहिये।

{321}

{322}

किसी चीज का पहले भार
मालूम होता है। उसका लगातार
अभ्यास होने पर वही चीज हल्की मालूम होने
लगती है। इसमें अधिक अभ्यास की
आवश्यकता रहती है। अभ्यास नही करने पर
हर एक काम कठिन हो जाता है,
चाहे वह छोटा भी क्यों न हो।

{323}

सम या विषम
भावों का प्रादुर्भाव
आत्मा में ही
होता है।

{324}

मन को मांजने
के लिए परोपकार
की भावना आना
आवश्यक है।

{325}

जो शिक्षा दूसरे को देनी हैं,
वह शिक्षा पहले अपने पर आजमाकर अनुभव
करे कि यह मुझे हितकर एवं प्रियकर मालूम
होती हैं या नही। फिर जो उसे हितकर एवं
प्रियकर ज्ञात हो, वही दूसरे को दें।

{326}

कोई भी महापुरुष बने
और प्राणी मात्र के लिये कल्याणप्रद मार्ग
प्रशस्त करे, ऐसी भावना जिस मानव के
अन्त.करण में बार–बार उठती हो, वह मानव
एक रोज अवश्य महापुरुष बन सकता है।

{327}

क्षमा, सौहार्दता,
अनासक्ति, विरक्ति,
शत्रु–मित्र दोनों पर
समत्व की वृत्ति बनाना
आत्मिक सौन्दर्य को
जगाना है।

{328}

भव्यात्माओं !
जगने का समय है,
जागों, उठो और आत्म
जागरण में आगे बढ़ो।

{329}

मन की तरंगें अनेक हैं।
इनके बीच में स्वतत्त्व छिपा हुआ
है। इस निजी तत्त्व को यदि पाना है,
तो पहले मन की विभिन्न तरंगों को पहचानना
अत्यावश्यक है। उसके पश्चात्
आगे की गति बनती है।

जिसने मुझे जो कुछ भी सहायता दी, उसको मुझे नही भूलना चाहिए। उसका प्रत्युपकार करना मेरा कर्त्तव्य होना चाहिए। अगर मेरे दिल मे ये भाव उठते हो कि अमुक व्यक्ति ने इतने दिन तो मेरी सहायता की और अब वह सहायता नही कर रहा है, तो उसके किञ्चिदपि दोषो को प्रकट करके उसको अपमानित करूं या उसको भला–बुरा कहूं तो मेरे समान कृतघ्न और कौन हो सकता है ? इस प्रकार के विचार इन्सानियत को भी तिलाञ्जलि देने वाले होते हैं।

{330}

विकास और ह्रास की दोनों अवस्थाएं अन्त.करण से सम्बन्ध रखती है। बाह्य निमित्त भी उसमें कारण बनते हैं, मगर उनका स्थान गौण है। कितना ही नीचे स्तर पर रहा हुआ प्राणी उच्च अन्त.करण से विश्व के विविध दृश्यों को देखता हैं, सबके अन्दर दिव्य शक्ति का अनुभव करता है और वैसा ही अपना आचरण बनाता है, तो वह अवश्य ही एक रोज जीवन के उच्च स्तर पर पहुँच जाता है। जो इन्सान उच्च स्तर पर पहुँचकर स्वयं को महान् एवं श्रेष्ठ समझता हैं, विश्व के विविध दृश्यों को दोषपूर्ण एवं घृणा की दृष्टि से देखता है और वैसा ही आचरण उनके साथ करता है तो वह एक समय अवश्य अत्यन्त निकृष्ट स्तर पर पहुंच जाता है।

{331}

मुझे आपत्ति में डालने वाला कोई नही है। जो मेरी उन्नति में बाधक दिखता है वह बाधक नही, साधक हैं। वह चारों ओर से विचारों को केन्द्रित कर सत्य के मार्ग में गति और कर्त्तव्य को देखता है।'अगर मेरी गति एवं कर्त्तव्य निरन्तर रूप से जारी है तो विश्व का कोई भी पदार्थ मुझे रोक नही सकता' ऐसा सोचना विचारों का सदुपयोग है।

{332}

{333}

एक शरीर को छोड़
कर आत्मा जाती है तो
उस शरीर का मरण हो जाता
है तथा चट दूसरे शरीर में प्रवेश करती है
तो उस शरीर में
जीवन आ जाता हैं।

{334}

समत्व की वृत्ति
सदा के लिए स्थिर
एवं कायम बनी रहे यह
लक्ष्य प्रत्येक
साधक को होना चाहिये।

{335}

प्रेम की
पराकाष्ठा होती
है—सर्वस्व का
समर्पण

{336}

चैतन्य और जड
का संयोग होने से शरीर
की संरचना होती है। शरीर जो जड था,
चैतन्य के संयोग से रूपी
चैतन्य हो जाता है।

{337}

जब तक कर्मों का बंध
हैं—जड़ चेतन का संयोग बना
रहता है तथा संसार परिभ्रमण होता रहता
है। कर्मों का सम्पूर्ण क्षय होने पर ही संयोग
टूटता है तथा चैतन्य जड़बंध से मोक्ष पा
जाता है।

{338}

आत्मा की
परमात्मा से एक
कड़ी जुड़ जाती है—एक लौं
लग जाती है तो वह
अलौकिक प्रेम अमित
आनन्द का अखंड
स्रोत बन जाता है।

{339}

सच्चा व ऊँचा
प्रेम एक ही बात
मांगता है कि प्रेम
की वेदी पर सर्वस्व
का समर्पण कर
दिया जाय।

{340}

आप अपने क्रोध का
शमन कर लेते हैं तो सामने वाले
के क्रोध का भी शमन हो जायेगा। उसकी
उत्तेजना तब बढती हे जब आप
चिनगारी डालते है।

जिसने मुझे जो कुछ भी सहायता दी, उसको
मुझे नही भूलना चाहिए। उसका प्रत्युपकार करना
मेरा कर्त्तव्य होना चाहिए। अगर मेरे दिल मे ये भाव उठते हो कि
अमुक व्यक्ति ने इतने दिन तो मेरी सहायता की और अब वह
सहायता नही कर रहा है, तो उसके किञ्चिदपि दोषो को प्रकट
करके उसको अपमानित करूं या उसको भला–बुरा कहूं तो मेरे
समान कृतघ्न और कौन हो सकता हे ? इस प्रकार के विचार
इन्सानियत को भी तिलाञ्जलि देने वाले होते हे।

{330}

विकास और ह्रास की दोनों अवस्थाएं
अन्तःकरण से सम्बन्ध रखती हैं। बाह्य निमित्त
भी उसमें कारण बनते हैं, मगर उनका स्थान गौण है।
कितना ही नीचे स्तर पर रहा हुआ प्राणी उच्च अन्तःकरण
से विश्व के विविध दृश्यों को देखता हैं, सबके अन्दर दिव्य शक्ति का
अनुभव करता है और वैसा ही अपना आचरण बनाता है, तो वह अवश्य ही
एक रोज जीवन के उच्च स्तर पर पहुँच जाता है। जो इन्सान उच्च स्तर
पर पहुँचकर स्वयं को महान् एवं श्रेष्ठ समझता हैं, विश्व के विविध दृश्यों
को दोषपूर्ण एवं घृणा की दृष्टि से देखता है और वैसा ही आचरण उनके
साथ करता है तो वह एक समय अवश्य अत्यन्त
निकृष्ट स्तर पर पहुंच जाता है।

{331}

मुझे आपत्ति में डालने वाला कोई
नही हैं। जो मेरी उन्नति में बाधक दिखता
है वह बाधक नही, साधक हैं। वह चारों ओर
से विचारों को केन्द्रित कर सत्य के मार्ग में गति
और कर्त्तव्य को देखता है।'अगर मेरी गति एवं कर्त्तव्य निरन्तर
रूप से जारी है तो विश्व का कोई भी
पदार्थ मुझे रोक नहीं सकता' ऐसा सोचना
विचारों का सदुपयोग है।

{332}

{333}

एक शरीर को छोड़
कर आत्मा जाती है तो
उस शरीर का मरण हो जाता
है तथा चट दूसरे शरीर में प्रवेश करती है
तो उस शरीर में
जीवन आ जाता हैं।

{334}

समत्व की वृत्ति
सदा के लिए स्थिर
एवं कायम बनी रहे यह
लक्ष्य प्रत्येक
साधक को होना चाहिये।

{335}

प्रेम की
पराकाष्ठा होती
है—सर्वस्व का
समर्पण

{336}

चैतन्य और जड़
का संयोग होने से शरीर
की संरचना होती है। शरीर जो जड़ था,
चैतन्य के संयोग से रूपी
चैतन्य हो जाता है।

{337}

जब तक कर्मों का बंध
हैं—जड़ चेतन का संयोग बना
रहता है तथा संसार परिभ्रमण होता रहता
है। कर्मों का सम्पूर्ण क्षय होने पर ही संयोग
टूटता है तथा चैतन्य जड़बंध से मोक्ष पा
जाता है।

{338}

आत्मा की
परमात्मा से एक
कड़ी जुड़ जाती है—एक लौ
लग जाती है तो वह
अलौकिक प्रेम अमित
आनन्द का अखंड
स्रोत बन जाता है।

{339}

सच्चा व ऊँचा
प्रेम एक ही बात
मांगता है कि प्रेम
की वेदी पर सर्वस्व
का समर्पण कर
दिया जाय।

{340}

आप अपने क्रोध का
शमन कर लेते हैं तो सामने वाले
के क्रोध का भी शमन हो जायेगा। उसकी
उत्तेजना तब बढ़ती है जब आप
चिनगारी डालते है।

दिन भर वातें करते रहने से या एक
दूसरे से मिलते रहने से सच्चा भ्रातृभाव पेदा हो
गया हैं, ऐसा नही कहा जा सकता। जितना अधिक वाह्य दिखावा
हैं, उतनी ही अधिक भ्रातृभाव से दूरी हे। सच्चे भ्रातृभाव में वाह्य
दिखावा नही के समान रहता हैं। उसमें हित-कामना पूर्वक कर्त्तव्य
की अधिकता रहती है। जहॉ हितकामना पूर्वक कर्त्तव्य की
अधिकता नही हैं, वहॉ निरादम्भ है, भ्रातृभाव नही।

{341}

साधारण जनता के सामने
विश्वस्त पुरुष का नाम रखकर व्यक्ति
उसको अपनी ओर आकर्षित करता है और उसी
से वह अपनी उद्‌देश्य पूर्ति में कुछ अंश तक सफल होता है। वह
उद्‌देश्य विश्वस्त पुरुष के आदर्शानुकूल है या प्रतिकूल, यह बात
साधारण जनता नही समझ पाती। क्योंकि वह नाम के पीछे कुछ
नही सोचती। मगर सत्यान्वेषण-निष्ठ पुरुष का यह कर्त्तव्य होता है
कि वह साधारण जनात के सामने भी दिल और दिमाग से सही
रूप में सामने आये। किसी भी व्यक्ति को उसके द्वारा
धोखा न हो, इसका पूरा खयाल रहे। व्यक्तिगत सफलता या
विफलता का विचार उसके
दायरे से बाहर की चीज है।

{342}

अधिकांश प्राणी सत्य का वास्तविक स्वरूप
नही समझने के कारण जिस किसी के प्रवाह में
बह जाते हैं, परिणाम चाहे कुछ भी हों। ऐसे व्यक्ति कठपुतली या
भेड प्रवाह के समान होते हैं, इसी से आज का विश्व पाशविक
प्रवृत्ति का शिकार बना हुआ है। इसकी जिम्मेदारी साधारण जनता
पर नही, किन्तु ऐसे व्यक्तियों पर है, जो साधना अवस्था में ही
सिद्ध बन बैठे हैं। ऐसे व्यक्ति ही साधारण जनता को
भ्रम में डालकर धोखा देते है।

{343}

{344}

आत्मा अब अलौकिक
प्रेम की साधना करे और सांसारिक
बन्धनों से मुक्त होकर निराकार
प्रभु की आराधना करे तो वह
अपनी गति को नई और सुनहरी दिशा में
मोड सकती है।

{345}

साहित्य का
उद्‌गमस्थान पुस्तकें
या लेखक नही,वे तो साधन
मात्र हो सकते है। वस्तुतः
उनका उद्‌गम तो प्रकृति
एवं उसका कार्यरूप
लालित्य है।

{346}

आध्यात्मिकता
सीखने से पहले
नैतिकता सीखनी
चाहिये।

{347}

कोई भी राष्ट्र
या समाज दीर्घजीवी
तभी बनता है जब वह अपनी
ज्ञान निधि की सुरक्षा भी करता
है तथा उसकी प्राभाविकता
को भी फैलाता है।

{348}

श्रेष्ठ ज्ञान का उत्कृष्ट
प्रतीक केवल ज्ञान होता है।
उससे बढकर और कोई ज्ञान नही होता
उसी तरह जैसे कि सूर्य के प्रकाश से
बढकर और कोई
प्रकाश नही होता।

{349}

श्रेष्ठ तत्त्वों
की रक्षा के
लिये भी सत्पुरुपार्थ की
आवश्यकता
होती हे।

{350}

आत्मा का
सबसे बडा सम्बल
पुरुषार्थ ही होता है।
पुरुषार्थ बल के माध्यम से
अपने भाग्य को
तो आप मोड ही
सकते हैं।

{351}

विनय का एक गुण
अनेक आत्कि गुणों का विकास
करता हें, आचरण के चरण जीवन
की सारी बाधाओं को दूर कर देते
हैं तो तपस्या सम्पूर्ण विकार को
जला कर आत्म स्वरुप को
निखार देती ह।

{352}

मनुष्य की आयु, शरीर व ज्ञान
वढने पर भी प्रायः उसमें वच्चे की-सी
वृत्ति की प्रवलता रहती हे। वह वाह्य रंगरूप में
अपने आनन्द की सामग्री खोजता हें, पर वाह्य रंग-रूप का ओर
वस्तु-स्वरूप का हृदय-स्पर्शी ज्ञान नहीं होता। इसी से वह वाह्य
चकाचौंध में फॅस कर अमूल्य
जीवन को व्यर्थ ही नष्ट कर देता हें।

{353}

विश्व का प्रत्येक पदार्थ एक-दूसरे से
सम्वद्ध है। कोई भी ऐसा नही, जो एक-दूसरे से
बिल्कुल निरपेक्ष हो। समाज के अन्दर ही सव कुछ हें।
अर्थात् समस्त उन्नति की जननि कहो तो समाज हें। समाज के
सुव्यवस्थित रहने पर ही कुछ किया जा सकता है। अतः सामाजिक सुधार
अत्यावश्यक हैं। उनको सुधारने का तरीका अपेक्षाकृत नवीन हो सकता
हैं, किन्तु सर्वथा नवीन समाज की रचना नही की जा सकती। यह जो मैं
विचार कर रहा हूँ, वास्तविक एवं व्यापक समाज का विषय हैं, न
कि-विकृत- समाजाभास का। जो व्यक्ति यह कह सकता हैं कि समाज
और आध्यात्मिकता बिल्कुल पृथक् हैं, उनका आपस में कोई सम्बन्ध नही,
वह कथन विकृत समाजाभास में पले हुए अबोध बच्चे के समान है। ऐसे
व्यक्तियों को अभी बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त करने की आवश्यकता हैं।

{354}

सोच-समझकर धैर्य के साथ किया जाने
वाला कार्य ही उचित कार्य कहा जा सकता हैं।
बिना सोचे-समझे उत्तेजना में आकर किया जाने वाला कार्य
अनर्थकारी होता है। जरा-सी शक्ति का आभास होने पर मनुष्य
एकदम उतावला हो जाता है और शीघ्र ही अपनी किंचित् शक्ति
के आभास को पूर्ण शक्ति मानकर कार्यरूप में परिणत करने की
कोशिश करता है। इसी से मनुष्य न वास्तविक शक्ति पा
सकता है और न सफलता ही।

{355}

महावीर वाणी के अमृत
को जो अपनी आत्मा के कण-कण में रमा
लेती है, वह एक जन्म के क्या
जन्म-जन्मान्तरों के दुःखों
को नष्ट कर देती है।

{356}

जीवन शक्ति
और पुरुषार्थ के
सहारे सब कुछ बदल
सकते हैं-भाग्य को बदल
सकते हैं, हाथ की रेखाओं
को बदल सकते हैं।

{357}

चरित्र सम्पन्नता
के बिना जीवन में न
सदाशयता प्रकट होती हैं,
न तेजस्विता।

{358}

जीवन में सही ज्ञान प्राप्त
नही किया, साधना के क्षेत्र में आगे नही बढा
और अन्तिम समय में पंडित मरण को प्राप्त
नही कर सका-वैसे व्यक्ति ने यह समझें कि
जीवन को व्यर्थ गंवा दिया।

{359}

ऐसी महान् आत्माओं
की मृत्यु में स्वयं मृत्यु लज्जित
होती है तो जीवन अमर हो जाता
है। जीवन में जो उनकी विकसित गुणशीलता
होती है, वह मृत्यु क बाद अधिक सुवासित
होकर चारों ओर प्रसारित हो जाती है।

{360}

चरित्र
सम्पन्नता को
प्रदीप्त बनाये बिना लक्ष्य
की प्राप्ति नही हो
सकती है।

{361}

राष्ट्रीय चरित्र
का विकास तभी हो
सकेगा, जव व्यक्ति पहले
अपने जीवन को चरित्र
सम्पन्न बनाने का प्रयास
करेगा।

{362}

संसार की अवस्था में तो
संयोग के साथ वियोग लगा हुआ रहता है,
लेकिन आध्यात्मिक जगत् में एक वार स्वस्थ
संयोग स्थापित हो जाता हैं तो वहाँ पर
वियोग की स्थिति नहीं आती।

प्रत्येक प्राणी प्रत्येक समय अपनी
प्राणशक्ति का व्यय करता रहता हे। उसमें
विवेकशील प्राणी उसका दुरूपयोग करता हे। अन्य
अधिकांश प्राणी तो इस व्यय को समझ ही नही पाते। उनकी
अवस्था बडी शोचनीय होती है। अवोध प्राणी- नाशक पदार्थो का
उपयोग करते समय कुछ नही
समझ पाता। वह तो जो चीज सामने आई
उसी को काम में लेना जानता हे।

{363}

अतः संघर्ष के अनुसार प्रतिकूल
विचार-धाराओं पर प्रहार करने के लिए जिस
य मननपूर्वक प्रहारक विचारों का मोर्चा तैयार होता हें
और जिस समय प्रहार करना चाहता हैं, वह समय अगर
चूक जाता हैं तो फिर उसके ऊपर मनन चलता हें और उस मोर्चे को भी
छिन्न-भिन्न कर उसका सूक्ष्म निरीक्षण करते हुए वह प्रत्येक भाग पर पहुँच
जाता है।उस समय पहले का उत्साह शान्त हो जाता है और अगर
मननशील व्यक्ति स्वयं पर काबू नही रख सका तो वही निस्तेज होकर बैठ
जायगा। फिर उस विषय में प्रगति उसको बहुत कठिन मालूम होगी और
अगर स्वयं पर काबू रख सका तो प्रत्येक भाग का निरीक्षण कर संशोधन
करता हुआ उसी मोर्चे पर आयेगा और पहले
से भी अधिक दृढता के साथ संघर्ष करता हुआ
शान्तिपूर्ण तरीके से आगे बढेगा।

{364}

जिस समय जैसा वेश हो, उस समय
उसी के अनुरूप कार्य एवं व्यवहार होना चाहिए
और जिस समय जैसा कार्य किया जाता हो, उस समय उसी कार्य
में मन, वचन और काया का एकाकार होना जरूरी है। अगर ऐसा
नही होता है, तो किसी भी कार्य में वास्तविक सफलता प्राप्त नही
की जा सकती।
विपरीत एवं विकृत कार्य से दूषित वातावरण तैयार
होता है, जो किसी के लिए हितकर एवं
सुखद नही हो सकता।

{365}

{366}

ज्ञान, दर्शन और
चारित्र्य की एक धारा मिलने
से जैसे मोक्ष मार्ग का निर्माण होता है,
उसी तरह से चुतर्विध संघ की चरित्र
सम्पन्नता की
एक ही धारा बहे।

{367}

बुद्धि अपने 'स्व'
से विलग होती है तो
अपने आप को खाती है
और अपने 'स्व'के साथ
जुडती है तो स्वस्थ बनकर
आत्म स्वरूप को
विकसित करती है।

{368}

दिशा बदली तो
दशा बदलने मे देर
नही लगेगी। दृष्टि बदली तो
सृष्टि बदल जायेगी। जो इस
वक्त दृष्टि मे सृष्टि है
वह न रहकर दूसरे
सृष्टि आ जायगी।

{369}

पुरुषार्थ के माध्यम से
बाधक तत्त्वों के ये संस्कार चाहे
जितने दृढी भूत बने हुए हों, इनको छन्न-भिन्न
किया जा सकता है और नवीन सुसंस्कारों के
निर्माण से जीवन में उच्चतम विकास
साधा जा सकता है।

{370}

बुद्धि की गति की दो
विपरीत दिशाएँ होती हैं। एक तो आत्मनिष्ठ
होकर चलने की सही दिशा और उससे ठीक
विपरीत और गलत दिशा कि वह जड तत्त्वों
में मोहान्ध बन कर भटकती फिरे।

{371}

साधना पथ पर
स्वयं चले और अपना
आत्म-विकास सम्पादित
किया। उसके वाद उन्होंने
जनकल्याणार्थ उपदेश दिये
और आत्मोत्थान का
मार्ग दिखाया।

अपने सर्वस्व
को परमात्मा के
चरणों में समर्पित करने
को तत्पर हो जाती है। यह
सर्वस्व समर्पण सुसंस्कारों
का श्रेष्ठतम स्वरूप
होता हे।

{372}

सारे शारीरिक रोगों
का मूल मन की अवस्था में ही
होता है। मन रोगी वनता हे तो
वह चारों ओर के रोगों को
एकत्रित कर लेता हे।

{373}

प्रगतिशील पुरुष समय एवं परिस्थिति को देखकर
किसी कार्य विशेष पर जोर दिया करते है। उनका कोई
त्रैकालिक विशेष कार्य निश्चित नही होता। विशेष कार्य का
निश्चय समय एवं परिस्थिति पर बहुत कुछ आश्रित रहता है।
इससे वे विश्व एवं स्वयं को बहुत आगे ले जा सकते हैं। मगर
साधारण व्यक्ति इसे समझ नही पाते। वे तो प्रगतिशील पुरुषों के
द्वारा निर्दिष्ट विशेष कार्य को ही सब कुछ मानकर बैठ जाते हैं।
उनके लिए वही चरम सीमा हो जाती हैं, ऐसी स्थिति
में वे पीछे रह जाते हैं, आगे नही बढ सकते।

{374}

आज हिस्दुस्तानी सही रास्ते से भटक
गये हैं। उनकी आर्थिक व सामाजिक स्थिति
इस समय बडी शोचनीय हैं। इन दोनों परिस्थितियों
के आधार पर ही शान्ति एवं उन्नति की जा सकती
हैं। अतएव प्रत्येक इन्सान यह प्रतिज्ञा कर ले कि वह प्रत्येक समय
को सार्थक बनाएगा, किसी भी समय ऐसा कार्य नही करेगा, जो
वस्तुतः निरर्थक एवं अनावश्यक हो। यह प्रतिज्ञा, मनसा,
वाचा,कर्मणा कार्यरूप में परिणत हो जाने पर ऐसी कोई भी अवस्था
नही रह सकती, जो कि हिन्दुस्तान को शोचनीय दशा में रख
सके। यही आर्थिक एवं सामाजिक समुन्नति का प्रमुख साधन है।

{375}

सत्य समझना, उसको आचरण में लाना तलवार
की पैनी धार पर चलने के समान हैं। आवश्यक व्यावहारिक
सत्य भी यदि प्रत्येक इन्सान पूर्ण-रूपेण आचरण में उतार ले तो
आज की बाह्य अशान्तिमय स्थिति का प्रायः अन्त हो सकता है।
मगर जब व्यावहारिक सत्य का अंश भी अपनाने में पूरा ध्यान
नही जाता है तो फिर वास्तविक सत्य को कैसे प्राप्त कर सकते
हैं? वह तो जीवन का पूर्ण विकसित स्वरूप है। व्यावहारिक सत्य
को जीवन में उतारकर ही उसकी ओर आगे बढा जा
सकता है, क्योंकि विकास क्रमशः होता है।

{376}

{377}

स्वयं वही है जो चिन्तन
करने वाला है, जो समझने वाला
है और जो जागने वाला है। यह स्वयं
अपनी आत्मा है। स्वस्थ वही कहलाता है
जो अपनी आत्मा
में स्थित हो जाता है।

{378}

दृश्य और अदृश्य-
दीखने वाले और नही
दीखने वाले इन दोनों
प्रकार के तत्त्वों का
सम्मिश्रण ही
यह सृष्टि है।

{379}

संसारी आत्मा
को अपने इस लक्ष्य तक
पहुँचाने वाला जो साधन
है, उसे धर्म कहते हैं।

{380}

मानव को समता
दृष्टि से विचार करना चाहिए
कि जैसे वह सुखी रहना चाहता
है। वैसे ही अन्य मानव भी
सुखी रहना चाहते हैं।

{381}

मानवता के पुजारी मानव
धर्म को अपना करके चलते हैं। वे अपने
सुख साधनों को छोडकर परोपकार के
लिए अपने प्राणों तक का
उत्सर्ग कर देते हैं।

{382}

बीती जिन्दगी
को स्मरण कर वर्तमान को
व्यवस्थित वनाया गया तो
भविष्य उज्जवल होगा।

{383}

मानव तन को
प्राप्त करके जो लोग
खाना-पीना,ऐशो-आराम
करना ही सव कुछ समझते
हैं, वे भारी
भूल में हे।

{384}

दुःखों के अंकुरों
को जलाने एवं ममत्व की
जड को खत्म करने के लिए मानव को
समत्व भाव का
सहारा लेना चाहिए।

साधना में सवसे ज्यादा
खतरनाक है- प्रमाद, वह अनेक रूपों
में प्राणी को फंसा लेता हे। इसके जाल को
तोडकर जो हर समय नियमित कार्य में लगा रहता हे ओर
शुद्ध अन्तःकरण की प्रेरणा को महत्व देता हे, वह प्रायः सफल
होता हे। उसके सामने खतरा
या आपत्ति नाम की कोई शक्ति अधिक
समय नही ठहर सकती।

{385}

सवाल यह हे कि व्यक्ति के विकास
से ही समष्टि का विकास सम्भव है। फिर
समष्टि की मुख्यता ओर व्यक्ति की गोणता केसे ?
समाधान के लिए हमें व्यक्ति के विकास-क्रम की ओर
ध्यान देना होगा। साधारण दृष्टि से देखने पर वाह्य रूप से यह
मालूम होता है कि व्यक्ति की प्रधानता होनी चाहिये। मगर वस्तुतः
यह दृष्टि सूक्ष्म चिन्तन का अभाव द्योतन करती है। विकास समष्टि
प्राधान्येन होता है। इसके अभाव में विकास न होकर ह्रास होता है।
व्यक्ति अपने-आपको समष्टि के लिए अर्पण कर देता है, तभी उसका
विकास सम्भव है। विकास की चरम सीमा समष्टि प्रधानता से
भी बहुत दूर, बहुत दूर पहुँचाती है। इसका विशाल अन्वेषण हुए बिना
सही विकास-क्रम जल्दी
समझ में नही आ सकता।

{386}

भाषाज्ञान ही पूर्ण शिक्षा का रूप नही
ले सकता। वह तो स्वानुभूति व्यक्त करने के
साधनों में से अनुकरणशील साधन का अंशमात्र है। आर्थिक एवं
राजनैतिक समस्याओं का हल करने के लिए जो शिक्षा दी जाती
है, वह भी आंशिक शिक्षा ही कही जा सकती है। सम्पूर्ण सामाजिक
एवं आध्यात्मिक समस्याओं का हल जिस कला से हो सकता हो,
वही कला शिक्षा का पूर्ण रूप पा सकती है।

{387}

अभी भी मानव-मानव में समानता या एक-दुसरे के प्रति हमदर्दी नही आ पाई है।कल्पित कुटुम्ब तथा व्यक्तिगत स्वार्थ ही मनुष्यों के दिलों पर जाल की तरह छाये हुए हैं। जब तक यह जाल रहेगा, तव तक मनुष्य के दिल व दिमाग साफ नही हो सकते और हमारे वन्धुओं की जो हालत वनी हुई है, उसमें परिवर्तन नही हो पायेगा। इस परिवर्तन के विना सभी विकास-मार्ग कुण्ठित हो रहे हैं। अतएव हम प्रतिज्ञा करें कि सबसे पहले मानव-मात्र को सच्चे वन्धुत्व के रूप में देखें, फिर दूसरे काम को हाथ में लें। {396}

नई तालीम दी जाय, मगर नई तलीम का नक्शा वास्तविक एवं स्थायी शान्ति का हो। बुनियादी आवश्यकताओं के साधनों का विकेन्द्रीकरण होकर अन्न-वस्त्र आदि जरूरी चीजों में स्वालम्वी एवं स्वतन्त्र हो जायें, फिर भी जव तक प्रत्येक प्राणी एक-दूसरे का अंग हैं, एक कुटुम्बी हैं, एक ही प्रकृति माता की सन्तान-सहोदर भाई हैं और उनके साथ मेरा वही कर्त्तव्य है जो कि स्वशरीर के साथ हैं, ऐसी विश्व-व्यापी एकात्मीयता की शिक्षा नई तालीम के नक्शे में मुख्य रूप से नही रखी जायेगी, तव तक वर्ग-विहीन, शोषण-विहीन एवं स्थायी शान्ति नही हो सकती । {397}

जो इन्सान हिन्दुस्तान को ही अपना देश मानता है और अन्य देशों को अपना देश नही मानता, वह वस्तुस्वरूप को समझने में भूल करता है। अगर अन्य देश - निवासी भी अपने-अपने देश को तो अपना और हिन्दुस्तान आदि अन्य देशों को दूसरे देश समझते हैं तो वे भी गलत रास्ते पर हैं। यह संकुचित दायरे की शिक्षा का परिणाम है। इन्सान अपनी इन्सानियत को नही समझकर ही ऐसा कहता है। वस्तुतः प्रत्येक प्राणी का समस्त विश्व अपना देश है। यह इन्सान की प्रवृत्ति का प्रथम कदम होना चाहिए। {398}

{399}

मानव के मस्तिष्क पर
कल्पनाओं का बोझ इतना लद
चुका है कि जिस बोझ के रहते हुए वह
जीवन के सम्यक् स्वरूप से अनभिज्ञ सा
हो गया है।

{400}

समत्वभाव के
आधार पर उसे प्रिय
के प्रति राग भाव एवं अप्रिय
के प्रति द्वेष भाव को मिटाने
का प्रयास करना चाहिए।

{401}

व्यक्ति अपने समत्वभाव
के विचारों के आधार पर
भयंकर दुःख में भी
सुखानुभूति कर
सकता है।

{402}

जो आवेश, क्रोध, मोह,
ईर्ष्या और द्वेष के विचारों में भोजन कर रहा
है वह अपने वर्तमान जीवन में भी जहर घोल
रहा है और भावी जीवन को भी
बिगाड रहा है।

{403}

जैसे भार मुक्त व्यक्ति
सरलतापूर्वक पर्वत की ऊँचाई को
नाप सकता, वैसे ही साधना की ऊँचाई वही
व्यक्ति नाप सकता है जिसके मस्तिष्क पर
कल्पानाओं -इच्छाओं का भार न हो।

{405}

किसी भी
व्यक्ति विशेष या
परिस्थितिविशेष से भय खाना
और उससे पीछे हटना या
स्वयं परकावू नही रख
सकना अत्यधिक
कायरता हे।

{406}

मानव की
इच्छाओं का जाल इतना
विस्तृत होता हे कि उसको
कोई छेदना चाहे तो वह
छेद नही सकता।

{407}

इच्छा लोक में जीने वाला
मानव इच्छाओं की सफलताओं
के संबंध मे अवश्य विचार करता ह पर
उसका फल सुखदायी होगा
या दुःखदायी ? इसका विचार
वह नही करता।

नास्तिक और आस्तिक का विवाद चलता रहता हे, मगर ऊपर-ऊपर से। आस्तिक इहलोक, परलोक, आत्मा, पुण्य, पाप आदि की व्यवस्था किया करते हैं, साथ ही इन वातों को पुष्ट करने के लिए भरसक प्रयत्न भी करते हैं, किन्तु इधर-उधर की युक्तियों प्रत्युक्तियों से, न कि वस्तुस्वरूप को समझकर। यही हालत नास्तिक की है। वह भी आस्तिक से विपरीत पेंतरा लेकर चलता है, पर वस्तुस्वरूप को नही समझ पाता। दोनों अन्धकार में भटकते रहते हैं और इस अमूल्य जीवन को व्यर्थ ही नष्ट कर देते है। {408}

'अुमक बडे आदमी ने अमुक मत का समर्थन कर दिया, वह अधिक फैलेगा, हमारे मत का समर्थन नही हुआ, अतएव हमारा मत कमजोर हो जायेगा, उसके पास हमें भी पहुँचना चाहिए' ऐसी वातें कमजोर दिल के मनुष्य कहा करते हैं। यह नही सोचते कि हमने जो मत स्वीकार किया है, वह सोच-विचार कर किया है या बिना सोचे। अगर सही मायने में सोचा है और उसे जीवनोपयोगी अनुभव भी कर रहे हैं, तो हमें किसी प्रकार की चिन्ता नही करनी चाहिए। निर्भयता एवं दृढता से उसका अनुसरण करते हुए आगे बढना चाहिए। दूसरे किसी असंयमी की प्रामाणिकता की छाप का गुलाम रहने वाला मनुष्य कभी सुख तथा शान्ति नही पा सकता हैं, सुख एवं शांति का सही मायने में वही अनुभव कर सकता हैं, जो पवित्र अन्तःकरण की प्रामाणिकता तथा दिव्य दृष्टि की छाप चाहता हो। {409}

अगर अपने वचन को सार्थक एवं असरकारक देखना चाहते हो, तो कम बोलो, आवश्यकता के अनुसार वाणी का प्रयोग करो, अवसर एवं समय का अवलोकन कर शब्द का उच्चारण करो। इससे तुम्हारे शब्दों की कदर होगी और वाचिक प्रयोग सार्थक एवं हितकर होगा। मुँह मिला है, जिह्वा मिली है, इसका प्रयोग हर समय होना ही चाहिए, ऐसा विचार कर जो हर समय बोलता ही रहता है, वह अपनी वाचितक शक्ति को व्यर्थ नष्ट करके विफल होता है। उसके शब्दों की कोई इज्जत नही करता। {410}

{411}

व्यक्ति का अन्तरंग
हइय यदि स्वच्छ, निर्मल एवं
पवित्र है तो उसके हृदय से उठने वाली
वाल आन्तरिक अनुभूति से सम्पन्न होगी जो
अन्तर को छूए बिना नही रहेगी।

{412}

क्रोध मानव
जीवन का प्रबल शत्रु है।
जिसको परास्त करना
सामान्य मानव के लिये
आसान नही होता है।

{413}

क्रोध का
आक्रमण व्यक्ति को
हिताहित का विवेक भुला
देता हे। जिससे विनाशकारी
स्थिति वन जाती हे।

{414}

आज के अधिकांश
उपदेष्टा जैसा कहत हैं वैसा
जीते नही ओर जेसा जीते हैं वैसा कहते
नही। ऐसी स्थिति में उनके उपदेशों का
स्थायी प्रभाव न पडे, यह सम्भव है।

{415}

हर उपदेष्टा को यह
अवश्य ख्याल रखना चाहिये
कि वे जेसा उपदेश कर रहे हं वेसा ही
शवित्त भर जीने का प्रयास करें। जीवन
की द्विरूपता को समाप्त कर
शुद्ध हृदय से उपदेश करे।

{416}

क्रोध आंतरिक
शक्तियों की प्रवलता
से घात करेन वाला हे। यह
एक तीक्ष्ण शस्त्र के समान
आत्मा पर करारी चोट
करता हे।

{417}

क्रोध की
अवस्था मे आत्मा,
विवेक विकल हो जाया
करती है। उस समय उसे
अपने हित,अहित का कुछ
भी विज्ञान नही हो पाता।

{418}

मनुष्य के विचारों पर
उसके भोजन का पर्याप्त पड़ता है जैसा
भोजन वह करता है उसी के अनुसार उसके
विचार बनते है और जैसे विचार बनते हैं,
तदनुसार उसका आचरण बनता है।

कितना ही सुन्दर सिद्धान्त
हो और उसका शाब्दिक प्रचार सारे
संसार में भी क्यों न कर दिया हो, उसे
वास्तविक प्रचार नही कहा जा सकता। वास्तविक प्रचार
जितना आचरण द्वारा हो सकता है, उतना अन्य साधनों से
नही हो सकता। चाहे उनकी (आचरणकर्त्ताओं की) संख्या कम
ही क्यों न हो, मगर वही स्थायी होता है।

{419}

विश्व एक घर है। इसमें विविध प्राणीगण
तथा विविध पदार्थ विद्यमान हैं। इन सभी को सही
तौर पर भलीभांति जानना एवं उनके साथ यथार्थ वर्तन स्वरूप
कर्त्तव्य-दृष्टि का पालन होना जन्मसिद्ध अधिकार
के रूप में स्वतः बनता है। उस अधिकार के हस्तगत होने के पूर्व ही
जन्म-जन्मान्तर को प्राप्त होना अकालमृत्यु के समान हैं; जो कि
मानव-जीवन के लिए कत्तई योग्य नही है पर मानव इस रहस्य को
सही माने में यथार्थ रूप से समझ ही नही पाता और एक दृष्टि के
बचपन के जीवन को सब कुछ मानकर उसी में समाप्त हो जाता है।
यह कितनी विचारणीय बात है, खासकर
समझदार कहलाने वालों के लिए।

{420}

मनुष्य स्वाभाविक तौर से शान्त
वातावरण पसन्द करता है। उसी की प्राप्ति
के लिए कुछ कोशिश करता है। अंशमात्र का आभास पाकर
वह सोचता है कि मैंने सफलता पा ली। मगर जिस समय
उससे विपरीत वातावरण सामने आता है, उस समय वह
आभास किधर रह जाता है और मनुष्य किधर चला जाता है।
वह स्वयं नही सोच पाता कि मैं कहा हूँ.........?

{421}

{422}

मानव प्रतिदिन जो भोजन करता है, उस भोजन में यदि वह शुभ विचारों का आंतरिक तत्त्व मिला ले तो उस भोजन से वह मानसिक स्वास्थ्य को प्राप्त करता है। साथ ही आत्मशुद्धि का भी भव्य प्रसंग उपस्थित करता है।

{423}

जीवन की एकरूपता का प्रभाव भी जबर्दस्त पडता है।

{424}

मोह का भुजंग किसी आत्मा को न डसे हमारी यह भावना समस्त आत्माओं के साथ तादात्म्य रूप से जुड जाये।

{425}

शुभ-विचारों को भी विटामिन की संज्ञा दी जा सकती है। वह विटामिन अगर मनुष्य के भोजन के साथ मिल जाये तो उस भोजन में द्विगुणित शक्ति-ताकत पैदा हो जाती है। उस ताकत से आत्मशक्ति से कमजोर व्यक्ति भी वलवान वन जाता है।

{426}

भोजन को जीवन का वरदान भी कह सकते हें ओर अभिशाप भी। शुद्ध विचारों के साथ किया गया भोजन वरदान स्वरूप वन जाता हे ओर अशुभ विचारों के साथ किया गया भोजन अभिशाप स्वरूप वना जाता हे।

{427}

मनुष्य का लक्ष्य, जीने के लिए खाना हे, न कि खाने के लिए जीना ह।

{428}

आकाश का जैसे कोई ओर छोर नहीं होता वैसे ही इच्छाओं का भी कोई ओर-छोर नहीं होता।

{429}

व्यक्ति यदि क्रोध की अवस्था में भोजन करता है तो वह उस भोजन से अपने शरीर में जहर पैदा कर लेता है। कभी-कभी उस जहर से व्यक्ति की मृत्यु तक हो जाती है।

शान्त दिमाग के बिना वस्तुस्थिति का
सही अनुभव नहीं हो सकता। बुद्धि-विस्तार के
लिए प्रेरक विचार विमर्श की आवश्यकता होती हे। जय-पराजय
की दृष्टि से किया गया विचार-विर्मश सही निर्णय पर नही पहुॅच
सकता। सही निर्णय पर पहुॅचने के लिए पवित्र दिल, शान्त
दिमाग एवं जिज्ञासावृत्ति
की अत्यधिक आवश्यकता होती हे।

{430}

जब तक अन्य कार्यो में मन उलझा रहता हैं,
तब तक विचार-प्रवाह को समझने की ओर मुडना
मुश्किल होता है। अपूर्ण व्यक्ति के उपयोग की अवस्था
एक समय मे एक ही विषय की ओर होगी। जिस विषय की तरफ अधिक
आकर्षण होगा, उसी विषय की तरफ उसका
ध्यान अधिक जायेगा और उस तरफ से ध्यान हटे
बिना अन्य विषय में प्रवेश नही बन पायेगा।
जिसमें आकर्षण बना है, उसके वास्तविक
स्वरूप को जानने पर उसके गुण-दोष का भान हो
सकता है। गुण-दोष का भान होने पर उसमें आकर्षण की
शक्ति कमजोर बनती है और जिसकी ओर मुडना चाहता है
उसके महत्त्व का भली-भांति ज्ञान होने पर उधर आकर्षण पैदा
हो सकता है और वैसी स्थिति में उस ओर मुडने में तथा
उसके स्वरूप को समझने में अधिक प्रयास
करने की आवश्यकता नही रहेगी।

{431}

छोटी-छोटी बातों को लेकर पद-लिप्सा से
कोई गुट या पार्टी बनाना जनता के प्रति धोखा
करना है। यह देश या समाज की सुव्यवस्था की ओट
में देश व समाज के प्रति द्रोह है। वास्तविक रूप से जन-सेवा करने
वाले ऐसा कभी नही सोचते। उनके तन, मन और धन व्यर्थ के
कामों में नष्ट नही होते। वे व्यक्तिगत स्वार्थ के पीछे पार्टीबाजियों मे
नही पडते। वे सही रूप से कर्त्तव्य को सामने रखकर चलते
हैं, न कि निजी या व्यक्तिगत स्वार्थ को।

{432}

{433}

मानव मस्तिष्क से ही
पुरुषार्थ की तेजास्विता को पहचाना
जा सकता है। आप जो कुछ पुरुषार्थ कर रहे
हैं वह सम्यक् दिशा में कर रहे हैं या विपरीत
दिशा में? इस बात की समीक्षा करना ही
आपका लक्ष्य होना चाहिए।

{434}

असीम
इच्छाओं को समीम
बना लेना और उन ससीम
इच्छाओं को भी छोडते
चले जाना साधना का
स्वरूप है।

{435}

सुख दुःख
के अनुभव के पीछे उस
आत्मा के स्वीकृत कर्मो
का ही खेल
रहा है।

{436}

कर्मो की गति
बडी विचित्र होती है और उसमें
भी विचित्र इस आत्मा की प्रवृतियाँ होती
है। जिन प्रवृतियों से सुख
दुःख निमित्तक कर्मोपार्जन
होता है।

{437}

फिल्म हॉल में वैठ कर कोई
इन्सान सिनेमा को देख-देख कर हंसे और रोए
तो उसे क्या आप उचित कहेंगे? वैसे ही इस
दुनियॉ के हाल में वैठकर जिन्दगी के सुख दुःख
के चल-चित्रों को देखकर इन्सान का हंसना, रोना
भी उचित नही कहा जा सकता।

{438}

सुख निमित्तक
कर्म के वीज भी इन्सान
ही वोता हे ओर दुःख
निमित्तक कर्म के वीज
भी वही
वोता हे।

{439}

क्षण भंगुर
सुख दुःख के
प्रसंगों पर समत्व का
अवलम्बन लेना ही श्रेष्ठ
कहा जा
सकता है।

{440}

अशुभ कर्मोदय के परिणाम
को भोगने में हाहाकार किया,
आर्तरोध ध्यान किया तो आर अधिक अशुभ
कर्मो के वीज पल्लवित होंगे आर यदि
समभाव रखोगें तो वे अशुभ का वीज अपने
परिणाम बताकर खत्म हो जायेंगे।

आर्थिक समस्या के हल में अनेक वाधाएँ हैं। उनमें पूंजीपति आदि भी शामिल हैं। उन वाधाओं को दूर करने में हिंसक तरीका गलत मार्ग हैं। इससे समस्याएँ उलझेंगी ही, सुलझेगी नही। अहिंसक तरीके से वुनियादी आवश्यकताओं में स्वावलम्बीपन वहुत कुछ सहायक हो सकता हे। मगर जब तक पदार्थो की दुरूपयोगिता एवं व्यर्थ अपव्यय नही मिटेगा, तब तक आर्थिक समस्या का सही हल नही हो सकता।

{441}

सृष्टि में अनेक प्रकार की प्रक्रियाएं चला करती हैं। उनमें विभिन्न रूप एवं विभिन्न शक्ति काम करती हैं। उनमें एक शक्ति के साथ दुसरी शक्ति के बलाबल का विषय भी रहता है। जिस शक्ति का अपेक्षाकृत अधिक प्राबल्य होगा, वह शक्ति अपने से हीन शक्ति को तोड़ने की प्रक्रिया करेगी। कमजोर शक्ति यदि शक्तिशाली शक्ति की सजातीय है, तो वह उसमें मिल जायगी और यदि विजातीय है, तो उसको बिखेर देगी, जिससे उसका प्रभाव बिखर जायगा। वह अन्य पर अन्य रूप से जायगा और उसका प्रभाव भी इतना नही रहेगा जिससे अन्य को मूल शक्ति से प्रभावित कर सके।

{442}

अन्तःकरण में अनन्त वासनाएँ छिपी हुई है। जिसका जिस समय प्रबल निमित्त आता है, उसी समय वह उभर पडती है। हर समय उन्ही वासनाओं का परस्पर संघर्ष एवं विप्लव होता रहता है। अतएव अधिकांश मनुष्य स्वजीवन की वास्तविक झॉकी नही देख सकते और उसके बिना जीवन का सही मार्ग नही मिल सकता। प्रशान्त एवं निर्मल मन की स्थिति ही इसके साधन रूप में सिद्ध हो सकती है।

{443}

{444}

वास्तविक शक्ति को केन्द्री
भूत करने के लिए शक्ति का
सदुपयोग करना नितान्त आवश्यक है।
इसके बिना जीवन प्राप्त होना,न होना
प्रायः एक–सा है। अतः प्राप्त जीवन का
वस्तुतः लाभ उठा लेना बुद्धिमान मानव
का परम कर्तव्य बन जाता है।

{445}

सत्प्रयत्न
निरन्तर चालू रहना
चाहिए। एक रोज अवश्य
सफलता मिलेगी। इसमें
जरा भी संशय को
अवकाश नहीं है।

{446}

निरन्तर एक
ही प्रयत्न करते रहने से
मन के ऊब जाने की
स्थिति बन सकती है।

{447}

संस्कार–केन्द्र जीवन का
मुख्य माध्यम है। सम्पुट रस में
इससे शक्ति प्राप्त हुआ करती है। वह सम्पुट
रस का प्रवाह विभिन्न अनेक ग्लेण्डस् कोशों मे
प्रवाहित होकर विभिन्न रासायनिक शक्तियों में
परिणत होता है, जिससे समग्र जीवन के
परिनिर्माण में सहायता मिलती है।

{448}

छलना भयंकर पाप है। इससे
सभी तरह की हानिया हैं।आन्तरिक
जीवन पर पर्दा पडता है, विकास–मार्ग समाप्त
होता है, विकसित जीवन की कडियाँ कुण्ठित
होकर दब जाती हैं, मलीनता का साम्राज्य छा
जाता हैं, मानव मानव के रूप में न रहकर
दानव व पशु के
रूप में चरण रखता है।

{449}

सही जीवन
कला को प्राप्त करने के
लिए प्रतिक्षण सजग रहने
की नितानत आवश्यकता
है।

{450}

समूह को
समाज नही कहा
जा सकता। समूह के साथ
नैतिक मूल्यो की प्रतिष्ठा एवं
उसको जीवन मे स्थान देने
वालो का समाज
बनता है।

{451}

एक समान सत्प्रयत्न
में मन के ऊब जाने की
स्थिति महसूस होने लगे तो सजातीय अन्य
प्रयत्न किय जा सकते है। बशर्ते कि
निर्धारित लक्ष्य
सदा सम्मुख रहे।

संस्कारों को वस्तुत. संस्कार
के रूप में समझने की तथा स्वय
को सही माने में समझने की क्षमता जिसमें हे,
वही नित्य तथा मूल रूप मे शाश्वत तत्त्व है। वह शाश्वत तत्त्व
शून्य नही, वस्तुस्वरूप है। सस्कार
का आधारस्वरूप तत्त्व अशाश्वत यानी
नष्ट हो जाता है। उसको विखेरना
चेतनाशक्ति का काम है।

{452}

विचार–धाराओं का प्रवाह यदि सही मायने में समझ लिया
जाय, तो उनकी विभिन्न अवस्थाएं ज्ञात हो सकती हैं और वह प्रवाह
कहॉ से किस उद्देश्य से प्रवाहित हुआ, कहॉ किन से टकराया, किस प्रकार
उस प्रवाह की स्थिति बिखरी, उसमें मौलिक अंश कितना रह पाया, वह अब
कितना अन्य पर असर कर पायेगा, कितनी गति से उस व्यक्ति तक पहुँचेगा,
अन्य वायुमण्डल को कितना दूषित कर पायेगा, जिस व्यक्ति से वह प्रवाहित
हुआ, उस व्यक्ति की शक्ति से क्या–क्या परिवर्तन आ पावेगा,इसका भी पता
चल सकता है। किस जाति के किन–किन विचारों से उसका संसर्ग हुआ और
किन–किन विचार–प्रवाहों के साथ उसका संघर्ष हो सकता है, उसके बाद
उनमें क्या परिवर्तन आ सकेंगे, उनकी मूल जड़ क्या हैं, कैसे उनमें ताकत आ
सकती हैं? आदि अनेक तरह की अवस्थाओं का ज्ञान होने पर इन्सान की
स्थिति कुछ और ही बन जाती है। उसमें स्वयं वह ताकत आ सकती है कि
बिना किसी तार या मशीन, आदि भौतिक माध्यम के काफी दूर तक का विज्ञान
प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार की प्रक्रियाओ से यदि आगे बढ़ने की शक्ति
प्राप्त की जाये तो मनुष्य स्वतन्त्र स्वावलम्बिता के साथ मनुष्यपन
को प्राप्त करता हुआ अमृत की ओर बढ़ सकता है। और वर्तमान
की अशान्ति का किसी हद तक अन्त आ सकता है।

{453}

जीवन विश्व की अनेक विभिन्न इकाइयों
मे से एक है। इसक के अन्दर तत्त्व न्यूनाधिक
रूप से बीज रूप में विद्यमान हैं। उन सभी तत्त्वों का विकास भी
किया जा सकता है और शरीर के अतिरिक्त अन्य भौतिक साधन
के बिना विश्व की हलचल का ज्ञान हो भी सकता है। अपने
अस्तित्व को स्वतन्त्र रूप में कायम रखते हुए विश्वस्थ संबंधों को
स्वच्छ भी रखा जा सकता है।

{454}

{455}

स्वयं के लिए कठोर
आचरण एवं अन्य के साथ मृदुल
आचरण एक विशिष्ट वायुमण्डल का
निर्माण करता है। उसकी कृति चमत्कृति
से ओत- प्रोत हो
जाया करती है।

{456}

शान्ति तो
स्वयं से व्यक्त की जाती
है,शान्ति पर आया हुआ
आवरण पर पदार्थो के
ममत्व के हटने
पर हटता है।

{457}

जो सम्यक्
निर्णायक है,
समतामय है
वही जीवन हैं।

{458}

भारतीय संस्कृति एक
आदर्श संस्कृति हैं। विदेशों के आकर्षण का
केन्द्र है। इस संस्कृति के द्वारा मानव
अपना आध्यात्मिक विकास करके चिर सुख
शांन्ति को प्राप्त कर सकता है।

{459}

जो शक्ति प्रभु में है वही
शक्ति हमारे अन्दर भी विद्यमान
हैं। अतः प्रभु का स्मरण करने से उस शक्ति
से सम्पर्क हो सकता है। और एक दिन हम
भी उतने शक्तिवान
बन सकते हैं।

{460}

चिर काल
से असंस्कारित जीवन
को संस्कारित करने में
प्रमाद
मत करों।

{461}

हमें समता के
पीछे जाना हे, समानता के
पीछे नही। समता ओर
समानता में भारी
अन्तर हे।

{462}

विभिन्न रंगीन एकांगी
विचारों के समूह में अधिकांश प्राणी उलझ
गये हें। अतः अनन्त सूर्य के प्रकाश को भी
मात करने वाले आत्मिक शुद्ध स्वरुप को
पकड नही पा रहे हे।

जो पंडित मरण करता है, वह मृत्यु को
जीत ही तो लेता है। पंडित मरण की दृष्टि से जो
मृत्यु को समझ लेता है और निर्भयता के साथ उसका आह्वान
करने के लिये अग्रसर होता है कि मै मृत्यु के लिये ही चल रहा
हूँ– मृत्यु कब आवेगी किन्तु मैं पहले ही उस मृत्यु के रूप को
अंगीकार करता हूँ तो वैसा साधक मृत्यु को मृत्यु के आने से
पहले ही हरा देता है। जो मरने के लिये तैयार होता है, उसी
से मृत्यु खुद डरने लग जाती है।

{463}

किसी भी तत्त्व का परीक्षण उसके
कुछ स्वामाविक माग से किया जा सकता है।
सारे तत्त्व को मथने की आवश्यकता नही रहती। हॉ,
उस तत्त्व में यदि कोई विजातीय तत्त्व हो, तो उसका निखालस
वर्गीकरण पहले हो जाना आवश्यक है। यही बात व्यक्ति के व्यक्तित्व
में, व्यक्ति की वृत्तियों मे प्रवृत्तियों में, मन की स्थितियों में, स्वमाव
में, आत्मिक स्वरूप में और सृष्टि की प्रक्रिया में भी समझना चाहिए।
पर वर्गीकरण व परीक्षण तथा उसका सही तरीके के साथ
निरीक्षण करने में पूरी–पूरी सावधानी की
नितान्त आवश्यकता हैं।

{464}

सच्ची कर्तव्यनिष्ठा के सामने भय और
चिन्ता व्यर्थ है। भय और चिन्ता से शारीरिक
एवं मानसिक हानियां अधिक हुआ करती हैं। इससे जीवन निर्माण
में अनेक बाधाएं उपस्थित होती हैं पर यदि मानव उन बाधाओं में
उलझ गया, तो सर्जनशक्ति का उपयोग उसी में लग सकता हैं।
वैसी स्थिति में एक दृष्टि से उस शक्ति का दुरूपयोग होगा,
जो कि एक बहुत बड़ी हानि हैं।

{465}

{466}

मैं स्त्री शिक्षा का पक्षपाती
हूँ, परन्तु स्वच्छन्द शिक्षा का
पक्षपाती नही हूँ। मर्यादित रूप से अच्छे
माहौल में चारित्र सुरक्षा के साथ स्त्री
शिक्षा हो।

{467}

जो आत्मघात
का परित्याग नही कर
सकते उनके लिये जैन
और मानव नाम तो दूर
रहा,वह मानव पशु से भी
गया बिता है।

{468}

मैं सेद्धान्तिक
एकता का प्रबल हिमायती
हूँ पर थोथी,
सिद्धान्तहीन मंचस्थ एकता
मुझे नही चाहिये।

{469}

परमात्मा एक अखण्ड
एवं स्थाई शक्ति हे, उस स्थाई शक्ति
को अपने हृदय में स्थान देकर अपनी
शक्ति को प्रकट करने का प्रयास करें।

{470}

प्रभु को प्राणो समान हृदय
मे बसाइये। जिसे हम अपने प्राणो की
माला नही फेरते फिर भी कभी भूलते नही
है, जैसे प्राणों का हर पल ध्यान रखते है
वैसे ही परमात्मा का ध्यान हरक्षण रखिये।

{471}

जब तक
मानव छद्मस्थ है,
अपूर्ण है तब तक उसमे
विषमता रहेगी। लेकिन
समता विकास करते
जाइये।

{472}

यदि समता
को अपना लिया तो हम
प्रत्येक परिस्थिति म
आनन्द का
अनुभव करेंगे।

{473}

शब्द तो अन्दर के
विचारो के वाहक है। विचार
शब्दो पर आरूढ होकर बाहर आते है।
अन्तरंग का परिष्करण करने पर शब्द
भी परिष्कृत बन जाते है।

जो पंडित मरण करता है, वह मृत्यु को
जीत ही तो लेता है। पंडित मरण की दृष्टि से जो
मृत्यु को समझ लेता है और निर्भयता के साथ उसका आह्वान
करने के लिये अग्रसर होता है कि मै मृत्यु के लिये ही चल रहा
हूँ– मृत्यु कब आवेगी किन्तु मैं पहले ही उस मृत्यु के रूप को
अंगीकार करता हूँ तो वैसा साधक मृत्यु को मृत्यु के आने से
पहले ही हरा देता है। जो मरने के लिये तैयार होता है, उसी
से मृत्यु खुद डरने लग जाती है।

{463}

किसी भी तत्त्व का परीक्षण उसके
कुछ स्वाभाविक भाग से किया जा सकता है।
सारे तत्त्व को मथने की आवश्यकता नही रहती। हॉ,
उस तत्त्व में यदि कोई विजातीय तत्त्व हो, तो उसका निखालस
वर्गीकरण पहले हो जाना आवश्यक है। यही बात व्यक्ति के व्यक्तित्व
में, व्यक्ति की वृत्तियों मे प्रवृत्तियों में, मन की स्थितियों में, स्वभाव
में, आत्मिक स्वरूप मे और सृष्टि की प्रक्रिया में भी समझना चाहिए।
पर वर्गीकरण व परीक्षण तथा उसका सही तरीके के साथ
निरीक्षण करने में पूरी–पूरी सावधानी की
नितान्त आवश्यकता हैं।

{464}

सच्ची कर्तव्यनिष्ठा के सामने भय और
चिन्ता व्यर्थ है। भय और चिन्ता से शारीरिक
एवं मानसिक हानियां अधिक हुआ करती हैं। इससे जीवन निर्माण
में अनेक बाधाएं उपस्थित होती हैं पर यदि मानव उन बाधाओं में
उलझ गया, तो सर्जनशक्ति का उपयोग उसी में लग सकता हैं।
वैसी स्थिति में एक दृष्टि से उस शक्ति का दुरूपयोग होगा,
जो कि एक बहुत बड़ी हानि हैं।

{465}

{466}

मैं स्त्री शिक्षा का पक्षपाती हूँ, परन्तु स्वच्छन्द शिक्षा का पक्षपाती नहीं हूँ। मर्यादित रूप से अच्छे माहौल में चारित्र सुरक्षा के साथ स्त्री शिक्षा हो।

{467}

जो आत्मघात का परित्याग नहीं कर सकते उनके लिये जैन और मानव नाम तो दूर रहा,वह मानव पशु से भी गया बिता है।

{468}

मैं सैद्धान्तिक एकता का प्रबल हिमायती हूँ पर थोथी, सिद्धान्तहीन मंचस्थ एकता मुझे नही चाहिये।

{469}

परमात्मा एक अखण्ड एवं स्थाई शक्ति है, उस स्थाई शक्ति को अपने हृदय में स्थान देकर अपनी शक्ति को प्रकट करने का प्रयास करें।

{470}

प्रभु को प्राणों समान हृदय में बसाइये। जिसे हम अपने प्राणों की माला नही फेरते फिर भी कभी भूलते नही हैं, जैसे प्राणों का हर पल ध्यान रखते हैं वैसे ही परमात्मा का ध्यान हरक्षण रखिये।

{471}

जब तक मानव छद्मस्थ है, अपूर्ण है तब तक उसमें विषमता रहेगी। लेकिन समता विकास करते जाइये।

{472}

यदि समता को अपना लिया तो हम प्रत्येक परिस्थिति में आनन्द का अनुभव करेंगे।

{473}

शब्द तो अन्दर के विचारों के वाहक हैं। विचार शब्दों पर आरूढ़ होकर बाहर आते हैं। अन्तरंग को परिष्करण करने पर शब्द भी परिष्कृत बन जाते है।

वास्तविक जीवन-कला प्राप्त
करने के लिये सही दिशा में सतत चिन्तन
की नितान्त आवश्यकता रहती हे। उसके पश्चात् स्वानुभूति की
दिव्य शक्ति जागृत की जाये, तभी उससे सही जीवन-कला की
चाबी प्राप्त की जा सकती है। इन प्रक्रियाओं में विवेक-शक्ति
के पुट का रहना नितान्त जरूरी हे।

{474}

शरीर के अन्दर रहने वाला प्रत्येक
अवयव अपने-अपने स्थान पर रहता हुआ किस
खूबी से अपना कार्य संपादन करता है। केन्द्रीय स्थान
से जिस भी बात की आज्ञा प्राप्त होगी, उसके अनुसार वह अवयव निरन्तर
अपनी गति से अपना कार्य प्रारम्भ कर देता हैं, उसको कोई देख या नही
देखे। कोई उसकी तारीफ करे या निन्दा। वह अवयव इन बातों पर जरा
भी ध्यान न देकर प्राप्त आज्ञा को कार्यरूप में परिणत करता रहेगा। निन्दा
या स्तुति का असर यदि केन्द्रीय स्थान पर हुआ, तो उस असर की झॉई
के साथ आज्ञा अवयव के पास पहुँचेगी तथा उतनी मात्रा के अनुरूप
परिवर्तन आयेगा। जरा भी विपरीत या
न्यूनाधिक नही। अतः शरीर के प्रत्येक अवयव की
इस प्रमाणिकता से भी मनुष्य को प्रमाणिकता
की शिक्षा लेनी चाहिए।

{475}

अशांति जीवन को तपाती है और
शान्ति जीवन को सुख देती है। अशान्ति एक
जहर हैं और शान्ति अमृत है। अशान्ति जीवन में
वेदना पैदा करती हैं और शान्ति जीवन के प्रत्येक अणु को
प्रफुल्लित करती है। शान्ति स्व-आश्रित हैं। जब तक मनुष्य
पराश्रित है और बाह्य पदार्थो में शान्ति ढूंढता है, तब तक वह
शान्ति का वास्तविक दर्शन नही कर पाता।

{476}

{477}

हमें अपने स्वरूप का निर्माण विकास स्वंय को ही करना है और जो निर्णायक शक्ति छिपी हैं, शरीर में दबी हुई हैं, उसको प्रकट करना हैं, उसमें निखार लाना है।

{478}

भौतिकता में रहकर भी उस से दूरी बनाए रखें। यदि उसमें एकमेक नही होते हैं तो अध्यात्म का फूल खिल जाएगा।

{479}

समता किसी व्यक्ति विशेष की बपौती नही हैं। वह प्राणी मात्र के अपनाने का तत्व है। मानव जीवन का निचौड है।

{480}

हम अपनी आत्मा के समान यदि प्रत्येक प्राणी को देखते हैं और सुख दुःख में समता का भाव करते हैं तो हम समता सिद्धान्तवादी है।

{481}

आध्यात्मिक और बाह्य ये जीवन के दो पक्ष है, जीवन की दो धाराएँ हैं। एक दूसरे से सर्वथा भिन्न नही हैं, अपितु पूरक है। इन दोनों के वास्तविक चिन्तन से ही जीवन का सर्वांगीण स्वरूप अभिव्यक्त होता है।

{482}

अपने जीवन के अंदर दूसरों की वेदना की जब अनुभूति नही करेगा,तब तक मानव समता के धरातल पर आरूढ नही हो सकेगा।

{483}

विवेक के प्रकाश में चलता हुआ भक्त मार्ग में नही भटकता।

{484}

विचारों की शुद्धि करना ही समता दर्शन का प्रमुख कार्य है, शुद्ध विचारों से आचार शुद्ध होता है, और फिर सारा जीवन पवित्र व मंगलमय हो जाता है।

प्राणी को अपने स्थान से कोई नही हटा सकता। अन्य प्राणी हटाने की कोशिश अवश्य करते हैं। मगर वह स्वयं अपने कर्तव्य पर अटल रहकर अपने अन्दर उन आपत्तिजनक कोशिशों को स्थान नही देता हैं, तो कोई कारण नहीं कि वह अपने स्थान से जरा भी हट सके। अपने स्थान से विचलित होकर वह तभी दुःख का अनुभव करता हं, जबकि स्वकर्तव्य को छोडकर वह भागना प्रारम्भ करता है। भागते हुए को छोटा प्राणी भी आतंकित कर सकता हे।

{485}

{486}

बाह्य वस्तु के तथा काल्पनिक विचित्रताओं के अंकुर अन्तर में उत्पन्न होते हैं। वे ही अंकुर स्व-जातीय, स्व-पोषक परिस्थिति को पाकर निरन्तर बढ़ते हैं। कच्ची अवस्था से कुछ परिपक्व स्थिति में वनते हैं। उन्ही में अधिक परिपक्वता आती है, तव वचन में परिणत होने की योग्यता आ जाती हैं। उससे भी अत्यधिक गाढ स्थिति का निर्माण होता है, तब काया के व्यापार में व्याप्त होने की योग्यता आती है। उसमें भी अत्यधिक प्रगाढता से काया में व्याप्त स्थिति में अत्यधिक तीव्रता दृष्टिगत होगी। इन सभी अवस्थाओं में आन्तरिक प्रवाह ही न्यूनाधिक रूप में काम करता रहता हैं। शब्दों का व्यवहार मुख्य-गौणभाव से होता है, लेकिन मन, वचन, काया में तीनों एक दूसरे के यथास्थान पूरक बनते हैं। उसी अनुपात से आन्तरिक सत्व का व्यय-अपव्यय अथवा सद्व्यय एवं सर्जन होता रहता है। अतः इस विषय के सम्यग् विज्ञान को प्राप्तकर विधि के साथ चलना सीख जाये, तो दिव्य शक्ति चमक उठाती है।

जो कुछ भी बाह्य नेत्रों से दिखाई दे रहा हैं, वह तो उडते हुए निस्सार बारीक भूसे के समान हैं। अतः इसी में उलझ जाना अमूल्य जीवन को व्यर्थ गंवाना हैं, जो कि बुद्धिमान मनुष्य के लिए बहुत ही विचारणीय हैं। इस विषय पर वास्तविक वस्तुस्थिति अवर्णनीय है, पर अनुभवगम्य अवश्य है।
यदि वह अनुभव सही मायने में हो जाय तो उसे चिन्तामणि रत्न की उपमा सृष्टि के वास्तविक अन्तररहस्य के रूप में दी जा सकती है।

{487}

tks

{488}

समता ही जीवन
है, और विषमता मृत्यु
है। यदि सचमुच ही आप मृत्यु
से जीवन को बचाना चाहते
हैं तो समता दर्शन का
आराधना कीजिये।

{489}

सच्चा
मानव सदा
आत्म जागरण की
भावना से ही प्रार्थना
करता है।

{490}

अपने भविष्य
को देखने के लिए
वर्तमान एक दर्पण का
काम करता है।

{491}

आप अपने से भिन्न किसी
चिन्तामणी से कामना-पूर्ति चाहते
हैं पर यह आपका भ्रम मात्र है। चिन्तामणी तो
आप स्वयं ही है, अपने आपको संभालिये,
अपने आप को पहचानिये, तब चिन्तामणी
रहन का प्रभाव आपके सम्मुख होगा।

{492}

हम जैसा संकल्प
करेंगे, जैसा विचार करेंग,
जिस प्रकार समता दर्शन का
सहारा लेंगे, जिस ढंग से सोचेंगे, वैसे ही
बन जायेंगे।

{493}

वर्तमान ही
भविष्य का निर्माण
करता है।

{494}

जिस दिन
शरीर से आत्मा अलग
हो जाएगी, उस दिन
इसकी सारी सुंदरता
मुरझा जाएगी।

{495}

जिन्होंने प्रत्येक क्षण
अपने जीवन को देखा है, पढा
है और परखा है और जीवन के तथ्यों को
पालते हैं। उन्हें जीवन निर्माण की कला
आती है।

जब समता दर्शन के दृष्टिकोण को
मनुष्य के मस्तिष्क मे जमायेंगे, उसके अनुसार
जीवन का निर्माण करने का प्रयत्न करेंगे तव मनुष्य समता दर्शन
के दृष्टिकोण से न केवल अपने आपको ही देखेगा वल्कि अपने
पडौसी को भी समता से देखेगा, अपने गांव व राज्य को देखेगा,
राष्ट्र को देखेगा, उसके साथ में समूचे विश्व को उसी दृष्टि से
देखने की स्थिति में आ जायेगा।

{496}

किसी भी व्यक्ति की उन्नति देखकर
अन्तर में जलन पैदा करना या मन में पैदा
होने देना कितना निरर्थक कार्य है, इसमें आन्तरिक
महत्वपूर्ण शक्तियॉ कितनी व्यर्थ नष्ट होती हैं, इसका सूक्ष्म निरीक्षण किया
जाये, तो विदित होगा कि उसने बहुत बड़ी महत्वपूर्ण शक्ति व्यर्थ में नष्ट
कर डाली है, जिसे वह हजारों रूपया खर्च करने पर भी पुनः उसी रूप
में प्राप्त नही कर सकता। इतना ही नहीी, उसने अपने आन्तरिक पवित्र
स्थान में एक तरह का विचित्र जहर भ्ज्ञी लिया, जिससे वहॉ रही हुई अन्य
शक्तियां भी जहरीली बन सकती हैं और संक्रामक रोग की तरह फैलकर
अन्य स्थान के वायुमण्डल को भी दूषित
कर सकती हैं। फलस्वरूप अनेक भद्रिक प्राणी इसके
दुष्प्रभाव से प्रभावित होकर स्व–पर का अहित कर
सकते हैं। अतः बुद्धिमान पुष्ष को पूरी सावधानी
रखने की आवश्यकता है।

{497}

जीवन की सही कला की स्थिति पर
पहुँचने के लिए आन्तरिक भी तरह के ज्ञान–
विज्ञान का सच्चा अनुभव होने की आवश्यकता है।
इसके लिए पॉच इन्द्रिय और मन की गतिविधि को भलीभॉति समझा
जाये, उसके पश्चात् क्रमिक रूप में यथाशक्ति इन इन्द्रियों सम्बन्धी
विज्ञान को भलीभांति परखते हुए उन पर योग्य नियन्त्रण की शक्ति
प्रबल बनाई जाये, ताकि उसके माध्यम से आन्तरिक
शक्ति का उद्घाटन किया जा सके।

{498}

{499}

समाज का तात्पर्य है जहाँ
अनेक व्यक्ति मिलकर साधारण जनसमूह के
लिए हितप्रद मंगलप्रद भावनाओं से
ओत-प्रोत होकर मौलिक, नैतिक आचार
संहिता का निर्माण करें।

{500}

आध्यात्मिक
श्रद्धा के बिना जीवन का
पौधा पनप नही सकता है,
वह तो समय से पहले ही
कुम्हला जाएगा।

{501}

आत्म तत्त्व
की सुरक्षा से
ही जीवन की
सुरक्षा है।

{502}

समाज हमारा जीवन है,
उसको सुव्यवस्थित बनाने वाले
नियम एवं सुव्यवस्था उसके प्राण हैं। अतः
समाज की सुरक्षा, संवृद्धि एवं विकास में
सक्रिय योगदान देने
की आवश्यकता रहती है।

{503}

समाज के प्रत्येक कार्यकर्ता
को पद का व्यामोह छोडकर प्रतिभाशाली
कार्य सक्षम युवा चेतना को प्रोत्साहित कर
आगे लाने
का प्रयास करना चाहिए।

{504}

समता हमारे
जीवन का मूल
तत्त्व है।

{505}

अपने जीवन
में धार्मिक क्रांति
लाइये।

{506}

जैसे एक मानव सुखी रहना
चाहता है वैसे ही समस्त मानव
सुखी रहना चाहते हैं। इसी तरह समस्त
आत्माएँ भी सुखी रहना चाहती है। इसलिए
किसी को कष्ट देना, अपने को कष्ट देना
है।

जहां क्रिया होती हे, वहां प्रतिक्रिया भी
होती है, आघात का प्रत्याघात, ध्वनि की प्रतिध्वनि
भी होती है। कौन किसके लिये क्या सोच रहा है,
उसके मन की कल्पना पास बैठा हुआ साथी भले नहीं जानता हो,
क्योंकि अपूर्ण है। पर मन की क्रिया की गति बडी तीव्र होती है,
वह संबंधित व्यक्ति के मन तक पहुँच जाती हे, और उसकी
प्रतिक्रिया उसके मन में अवश्य रूप में होती है।

{507}

जैसे भाषाविज्ञान के लिए सर्वप्रथम समग्र अक्षरों का ज्ञान
विभिन्न तरीके से उनको पहचान तथा उनका क्रम–व्युत्क्रम,उच्चारण
–स्नान, हस्व, दीर्घ, प्लुत, व्यंजन, स्वर, किसमें किसकी किस रूप में स्थिति, आदि
का भलीभांति विज्ञान हो जाना आवश्यक है। वैसे ही मानसिक स्थिति की वृत्तियों का
विज्ञान भलीभांति हो जाना आवश्यक है। वे वृत्तियां स्थूल और सूक्ष्म होती हैं। द्रव्य
और भाव की संज्ञा को भी वे धारण करती हैं।विभिन्न प्रकार से उनके प्रादुर्भाव तथा
विलीनता, क्रम–व्युत्क्रम, परस्पर सम्बन्धित– असम्बन्धित, प्रत्यक्ष–परोक्ष, स्थायी,अस्थायी,
संस्कारित–असंस्कारित, संकल्पी–असंकल्पी, भावुक–अभावुक,निष्ठुर–कोमल,इन दोनों से
विपरीत,आदि अनेक तरह का रूप होता है, उनका चक्रव्यू उनमें परिवर्तन, संक्रमण
तथा विनाश एवं परिवर्द्धन, परिमार्जन तथा विलग करने की कला,चक्रव्यूह का भेदन
करने का विज्ञान, विपरीत अनुभूति को सम्यक् के साथ जोड़–तोड़ करने का
ज्ञान,विकारयुक्त आत्मा का निर्विकार स्थिति के साथ शुद्धादि स्थिति से विकास का
सही ज्ञान होने पर आगे की अवस्था में प्रवेश का अवसर आ सकता है। अतः
उपर्युक्त विषयों के सही विज्ञान की योग्यता जिस प्रतिभा–बुद्धि में आ सके,
वह प्रतिभा माध्यमिक सूक्ष्म स्थित की कही जा सकती है।

{508}

ज्ञान की अनुभूति के कुछ गहराई में पहुँचने
पर प्रत्येक बाह्य एवं आभ्यन्तर क्रिया–प्रतिक्रिया
के आभास की झलक होने लगती है। प्रत्येक क्रिया का असर न्यूनाधिक
रूप में शरीर के अन्य अवयवों पर हुआ करता है। उसका
रिएक्शन(असर)भी प्रायः किसी–न–किसी रूप में बनता है। लेकिन इस
का ज्ञान जन –साधारण को तो, दूर बड़े–बड़े विद्वान या साधारण
योगियों को भी नही हो पाता। यह भी द्रव्य मन को अधिक एकाग्र
नही होने देने में एक कारण बनता है।

{509}

{510}

अन्तरनाद को जगाने में यह भौतिकता यह पंच विषयों में प्रवृत्ति समर्थ नही हैं, यदि इनसे अन्तर लालसा की पूर्ति होती तो फिर मनुष्य सुख की दौड़ में इधर–उधर नही भटकता।

{511}

समता जीवन की गति में बाधक नहीं, सहायक है। आवश्यकता है उसे समझने की।

{512}

किसी को दुःख में देखकर उसकी यथा शक्ति सहायता न करना मानवता के कर्तव्यों की अवहेलना है।

{513}

सनाथ–अनाप का स्वरूप बाहरी उपाधियों एवं परिधियों से नहीं समझा जा सकता है, उसके लिए आत्मिक धरातल पर आन्तरिक अनुभूति होना आवश्यक है।

{514}

समग्र आत्म शक्ति से सम्यक् सर्वांगीण संपूर्ण आत्मीय निर्णायक विकास को दृढ़ता पूर्वक सदा सर्वदा ध्यान में रखना है।

{515}

जैनेन्द्र प्रवचन विश्व शांति के लिए एक मात्र अमोघ उपाय है।

{516}

कुछ भी न करने से तो जो कुछ योग्य बन सके वह करना अच्छा है।

{517}

सेठ के नीचे रहने वाला नौकर भी अपने पुरुषार्थ से एक न एक दिन सेठ बन जाता है, वैसे ही वीतराग भगवान् की साधना को निरन्तर अपनाने वाले वीतराग बन जाते हैं।

वृत्तियो के आकार को धारण करने
वाला एक–द्रव्य विशेष, जो अत्यधिक विशिष्ट
द्रव्यो से बना होता है, उसका विशिष्ट एवं विशेष
महत्त्वपूर्ण प्रवाह शरीर के उत्तमांग मे विद्यमान रहता हे। उससे
सम्बन्धित अन्य सब द्रव्य सचेतन शरीर के अन्दर विद्यमान हे। उसी
में प्रत्येक क्रिया–प्रतिक्रिया के
अंकन एवं यथास्थान प्रसारण में माध्यम
होने की योग्यता रहती है।

{518}

जब अशुभ वृतियों का रंग सही ज्ञानशक्ति से घुलता है, तब आन्तरिक आचरण शक्ति वृत्तियों को आलोक देती हुई प्रस्फुटित होती है तथा आन्तरिक एवं बाह्य वृत्तियों मे समाज्जस्य स्थापित करती हुई उन्हें विस्तृत बनाती है, तब छोटे परिवार की सीमा समाप्त होकर वसुधेव कुटुम्च की सीमा बनती है। किसी भी जीवन को चाहे वह छोटे–से–छोटा क्यों न हो, मनसा–वाचा–कर्मणा सताने का परित्याग, दूसरे से सतवाना या अन्य के द्वारा सताये जाने का अनुमोदन तो दर किनार बल्कि त्रिकरण त्रियोग से उनके रक्षण के सत्संकल्प को सुदृढ़ करना, जीवन में सहज प्राप्त विषय साधनों के संपरित्याग के साथ अन्य के रक्षण में यथायोग संवितरण में सदुपयोग का प्रतिपादन, आदि का प्रवाह वह आचरण शक्ति पैदा कर देती है। उस प्रवाह से अन्य का कुछ बने या नहीं, पर स्वयं का तो बहुत बन जाता है। द्वन्द्वात्मक सापेक्ष द्रव्य वृत्तियों के नीचे दबी भावशक्ति का विकास द्रुतगति से होने लगता है और उसी विकास को वसुधैव कुटुम्ब की स्थिति से ऊपर उठकर समतदर्शन की पराकाष्ठा पर पहुँचने का अवसर प्राप्त हो सकता है। इसको अहिंसक शक्ति भी कह सकते है। शास्त्रों में ऐसी शक्ति को महाव्रत की संज्ञा दी है, लेकिन तलस्पर्शी दृष्टि से इसे आचरण में लाना तो दूर अनुभूति के साथ समझने का प्रयास भी प्रायः विरल–सा ही रहता है।

{519}

अंकनस्थन अत्यधिक सूक्ष्मतर परमाणु का
बना हुआ होता है, जो कि समस्त वृत्तियों का
आधार कहा जा सकता है। उसी पर समस्त वृत्तियों का अंकन
बनता–गिड़ता है। पर इसके पीछे विशिष्ट शक्ति की धार रहती है।
इसके बिना वृत्तियां व उनके अंकन की स्थिति व्यवस्थित कलापूर्ण
तरीके से नही बन पाती। वह विशिष्ट शक्ति ही समस्त वृत्तियों की
एवं अंकन की निर्माता, विज्ञाता तथा स्वयं की भी विज्ञाता है।
उसी से संचालन आदि की क्रिया बनती है।

{520}

{521}

ज्ञान वही सफल माना जाता है जो व्यक्ति के चारित्र्य में प्रविष्ट होकर उसको चमका दें। अतः श्रमणोपासक के जीवन में, ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य की पवित्र त्रिवेणी बहनी चाहिये।

{522}

मदान्ध व्यक्ति हर कीमत पर अपने अहं को ऊपर रखना चाहते हैं। इसलिये यह मद का अंधापन दूर हो तभी प्रभु के दर्शन हो सकते हैं।

{523}

मूल रूप में सब एक समान है। जैसे सभी मिट्टी के आकारों में मिट्टी एक समान है।

{524}

शान्ति प्राप्ति की कामना जितनी गहरी होती जाती है और फैलती जाती हैं, उतनी ही उसकी प्राप्ति की वेला भी सन्निकट आती जाती है।

{525}

अभयदान, सुपात्रदान आदि देते हुए अपने कर्मो को खपाता है, वह श्रेष्ठ भावना की श्रेणियों में तीर्थकर नामकरण गौत्र का अर्जन करता है।

{526}

आत्मिक अनुभवव की सही स्थिति के बिना वास्तविक सुख प्राप्त नही हो सकता।

{527}

अपने सुप्त ज्ञान को जगाइये ओर जीवन रथ को आगे वढाइये।

{528}

शान्ति वह आन्तरिक भावना हे-मनः स्थिति हे जो भीतर की सहनशक्ति, धेर्यशीलता तथा गंभीरता के धरातल पर निर्मित होती हे।

किसी भी नवीन विषय को मस्तिष्क जल्दी ग्रहण करना नहीं चाहता। लेकिन जिस विषय की अति प्रशंसा और उससे होने वाले विभिन्न लाभ एवं विविध प्रलोभनों के लगातार कथन एवं प्रश्रय-दवाव से वह ग्रहण करने की कोशिश करता है, ओर जव ग्रहण करने लगता हे तथा जव उसकी निरन्तर वह प्रक्रिया चालू हो जाती हे, तो फिर उस विषयक अभ्यस्त आदत-सी वन जाती हे। फिर उसको कोई छुडाना चाहे, तो अति ही कठिनता जाती हे। उसके लिए फिर अन्य तरह के प्रयत्न की आवश्यकता रहती हे।

{529}

अचल, अविनाशी, अखण्ड, परमशुद्ध, अन्तिम परिपूर्ण ज्ञान विज्ञान आदि समस्त श्रेष्ठतम शक्तियों के स्व-पर-स्वरूप के चरम विज्ञान को सत्य को-अविचल-परम लक्ष्य के रूप मे स्थापित करने का दृढ़ संकल्प आने पर कोई भी वाधक तत्त्व वाधकता के रूप में नही रह सकता। ऐसे पुरुष के सामने जीवन की व्यक्तिगत कितनी भी जटिल समस्याएं क्यों न आ जाये, उसके लिए जटिलता रह ही नही सेती। पारिवारिक, सामाजिक,राष्ट्रीय तथा विश्व सम्वन्धी परस्पर अत्यधिक भिन्नता के कारण विरूद्ध दिखाई देने वाली गूढ़ गुत्थियां सरलतम प्रतीत होगी। इतना ही नही सूक्ष्म से सूक्ष्मतर अन्तर दृष्टि से विलोकित चलित दार्शनिक दृष्टियां आज तक के समस्त वेज्ञानिक ओजार के माध्यम से नही देख पाती, उनके अन्तर्गत रहने वाली समस्त गतिविधि किसी भी रूप को लेकर क्यों ने सामने आये, उस पुरुष के लिये न कोई आश्चर्य का विषय होगा, न किसी प्रकार का संकोच, न किसी जाति की ग्लानि, न किंचिदपि किसी कोने के अनन्तवें भाग में भय की छाया की झलक। वह तो पवित्र अलिलधारा की भांति अपनी परम मस्तानी अवाध शक्ति का आलोक लेकर चलता हरेगा। उसके लिये न कोई विरूप है, न कोई वाधक, न कोई सर्वथा पर, न विद्वेष की काली घटा, विराग की परमलता, न कोई वाधक दीवार ओर न आपत्ति की चट्टान। उसके लिए तो सदा-सर्वदा राजमार्ग विद्यमान रहता हे। किसी प्रकार की रूकावट नही। अतः गति अवरोध का प्रश्न ही पैदा नही होता।

{530}

अधिकांश मानव स्वयं के जीवन के विषय मे ऊपर-ही-ऊपर तैरा करते हैं। अन्दर में प्रवेश का उन्हें प्रायः अवकाश ही नही मिल पाता। क्योंकि उनके मस्तिष्क मे अन्यान्य जगत सम्बन्धी वैचारिक विषयों की चट्टान-सी बनी रहती है। जब तक उसका भेद न होकर पृथक् होने की स्थिति नही बनती, तब तक अन्तःस्थल पर पहुँचना अति दुष्कर रहता है। लेकिन उस वैचारिक चट्टान को विच्छिन्न करने का प्रयास किया जाये, तो कुछ सफलता अवश्य मिल सकती है। बशर्ते प्रयास विधि-विज्ञान पूर्वक दृढ़संकल्प एवं आशावादिता के साथ हो।

{531}

{532}

"गरीबी हटाओं" का नारा आज बुलन्द है। पर गरीबी तभी हटेगी जब प्रत्येक भारतीय समता दर्शन के दृष्टिकोण को अपनाएगा।

{533}

जीवन की अंशाति एक समस्या है, इसका समाधान समता में निहित हैं।

{534}

हमे अपने मूल की भूल को मिटाना है, तभी शान्ति मिल पायेगी।

{535}

विश्वास ही जीवन वृक्ष के विकास का सृजक है। विश्वास एक बीज है। वह चाहे कितना ही छोटा हो, उसमें एक वड़े से बडे वृक्ष का शरीर समाहित है।

{536}

जीवन के प्रत्येक क्षेत्र के लिए त्याग आवश्यक है त्याग से जीवन सुखी बनता है। जीवन का महत्व त्याग में है।

{537}

जीवन की सच्ची स्वतन्त्रता में ही, सब का हित निहित है।

{538}

दूसरों पर नियंत्रण की अपेक्षा सदा अपने आप पर नियंत्रण रखिये।

{539}

इन्द्रिय जनित विषयों से मन को उपर उठाएंगे तो ही आत्मिक रूप प्रकट होगा। यही नही किसी भी कार्य में पूर्ण सफल होने के लिए इन्द्रियक विषयों में उपरमता आवश्यक है।

जीवन को उज्ज्वल वनाने के लिए
ज्ञान-ज्योति की नितान्त आवश्यकता है।
ज्ञान-ज्योति के अभाव में सद्-असद् का विवेक-विज्ञान नही हो
सकता और बिना विवेक के जीवन जीने का रहस्य नही समझा
जा सकता । सम्यक् ज्ञान ज्योति के प्रकट होने पर व्यक्ति
के विचार, उच्चार एवं आचार एक रूप
एवं उज्ज्वल वन जाते हं।

{540}

अभी तो आप वेशक चांदी के टुकडे जमा
करने में लग रहे हैं, लेकिन उनके स्वरूप के
विषय में ज्ञान भी कियाहे या नही ? ये चांदी के
टुकडे मृत्यु के समय साथ में चलने वाले नही हैं। इस
बात की भी गांरटी नही हे कि पूरी जीवन तक ये अपने पास सुरक्षित
बने ही रहेंगे। न मालूम इन पर किन-किन की निगाह किस रूप में
लगी हुई हैं? चोरी हो जाती है, आग लग जाती है, जेव कट जाती हे
या व्यापार में घाटा लग जाता है, मगर यह इच्छा नही होती कि अपने
पैसे से खुशी-खुशी किसी जरूरतमन्द की मदद करे दें। इतनी
सी सहानुभूति और सहयोग भावना रखकर भी कोई अपने जीवन में
चले तो उसके जीवन का नव निर्माण प्रारंभ हो सकता है तथा अन्र्दर्शन
के माध्यम से आत्म स्वरूप
में भी यत्किंचित् उज्ज्वलता निखर सकती है।

{541}

मानव की पहली समर्पणा माता-पिता,
दूसरी समर्पणा अध्यापक के प्रति, तीसरी
समर्पणा वीतराग भगवान् की आज्ञा के प्रति
होनी चाहिये। प्रथम दो समर्पणा जीवन में हैं पर वीतराग
भगवान् की आज्ञा के प्रति समर्पणा
जब तक नही होती है, तब तक सच्ची
शान्ति प्राप्त नही हो सकती।

{542}

{543}
धर्मकरणी का
प्रशस्त भावनाओं का सुफल
शब्द द्वारा अकथनीय अनुभवगम्य
आत्मशुद्धि के रूप में उपलब्ध
होता है।
{544}
मानव जीवन
सभी शक्तियों के पूर्ण
विकास का केन्द्र है। अतः
ऐसे जीवन को प्रमाद में
न खोएं।
{545}
एक बार
जब मनुष्य अपने
कर्तव्य से फिसलता है तो
फिसलता ही जाता है।
{546}
विचारों को समाप्त
नही किया जा सकता, बल्कि रूपान्तरित
किया जा सकता हैं। प्रवाह को रोका
नही जा सकता, मोड़ा जा सकता है।
{547}
वचन का विशेष महत्व
नही, महत्व है प्रवचन का।
आप निर्णय करिये कि महत्व वांदित्र की
आवाज का है या घड़ी
के टणकारे का।
{548}
अपनी बौद्धिक
शक्ति को आत्म शुद्धि
की ओर लगाना ही
हमारा मुख्य उद्देश्य हों।
{549}
अपने लक्ष्य
को स्थिर कीजिये।
अस्थिर लक्ष्य किसी काम
को पूर्ण नही होने देता।
{550}
दुःख से निवृत्ति लेने
हेतु जो परिपूर्ण सुखी हैं, उसी
की शरण लीजिए, दुःखी की नही। एक
भिखमंगा क्या दूसरों की
भूख मिटाएगा ?

वर्तमान का समय ही
अत्यन्त महत्वपूर्ण हे, क्योंकि अतीत
वीत चुका, अस्तित्त्व रहित हे, और भविष्य
अभी आया नही हैं, और अपने लिए इस रूप में आएगा भी
या नही, यह भी निश्चित नही हे। वर्तमान का समय *"देहली
दीपक न्याय"* से भूत एवं भविष्य को भी प्रकाशित करने
में समर्थ हो जाता है।

{551}

जीवन की प्रयोगशाला में अध्यात्म विज्ञान के
परीक्षणों का प्रयास करने को जब जिज्ञासु मानव तत्पर
बनता है उसको अपनी दृष्टि तथा कार्य विधि अति सूक्ष्मता में ढालनी होती
है। अध्यात्म विज्ञान के समान सूक्ष्म विज्ञान और कई विज्ञान नहीं होता। इसी
सूक्ष्म स्वरूप के कारण ही आत्मा का साक्षात्कार केवल आध्यात्म विज्ञान की
सहायता से ही संभव हो सकता है। आतमस्वरूप की पहिचान कराने वाला
विज्ञान ही सर्वश्रेष्ठ कहा जायगा क्योंकि मूल में तो सभी विज्ञानों की ज्ञाता
तथा संचालिका यह आत्मा ही होती है। आत्म स्वरूप इतना सूक्ष्म होता है कि
जो इसको जान लेता हैं, वह इस संसार की सारी वस्तुओं का स्वरूप भी
जान लेता है। फिर उससे इस दुनिया में छिपा हुआ कुछ नही रहता। अणु
परमाणु की एवं भूत वर्तमान तथा भविष्य की समग्र गति को और उसकी
समस्त पर्यायों को इस आत्मिक विज्ञान की ऊँचाई पर चढ़कर देखा जा
सकता है। जो इस आत्मिक विज्ञान की ऊँचाई तक पहुँच
जाता है, वही अविनाशी बन जाता है।

{552}

एक तरफ तो सभी प्राणियों से
"खामेमि सव्वेजीवा" के माध्यम से क्षमा
याचना करें और दूसरी तरफ उसी समय
अग्नि--विघुत् के माध्यम से षट्काय जीव हिंसा करें
तो क्या यह सच्ची क्षमा याचना होगी ? एक व्यक्ति किसी को
बिजली के हंटर से मारे और दूसरी
तरफ क्षमा याचना करें तो क्या वह उसे
माफ कर देगा ? कभी नही ?

{553}

{554}
दूसरों के अवगुणों को प्रकट करने से स्वयं के अवगुणों की वृद्धि होगी। क्योंकि दूसरे के ऊपर कीचड उछालने से पहले स्वयं के हाथ कीचड से भरते हैं।
{555}
सत्य की प्रतिष्ठा में ही जीवन की महत्ता हैं। असत्य की नींव पर टिका महल लम्बे समय तक नही टिकता।
{556}
आत्मिक विकास में विश्वास का प्रमुख-योग है। विश्वास : जीवन की उन्नति का प्रारम्भिक राजमार्ग है।
{557}
रचनात्मक विद्वता जो कि जीवन निर्माण की भूमिका अदा करती हो वही विद्वता व्यक्ति को सच्चा विद्वान् बनाती है।
{558}
दूसरों को शान्ति देने वाली आत्मा स्वयं अक्षय शांति प्राप्त कर सकती है, अशांति देने वालों को कभी शांति नही मिलती। क्योंकि क्रिया और प्रतिक्रिया दोनों साथ-साथ चलती है।
{559}
जो व्यवहार आत्मा क लिए अनुचित है वह दूसरों के लिए उपयुक्त कैसे हो सकती हैं ?
{560}
पूर्व पुण्योदय से प्राप्त शक्ति का सदुपयोग ही जीवन को सफल बनाता है।
{561}
स्तुति का अर्थ है- प्रभु की प्रशंसा करना, प्रभु के गुणों का वर्णन करना और उसकी अभिव्यक्ति स्वयं में लाने के लिये सत्पुरुपार्थशील वनना।

प्रत्येक मानव की ऐसी कामना अवश्य ही रहती है कि मैं जानूं, देखूं और परखूं, किन्तु इस कामना की पूर्ति का सबसे बडा रोडा उसके सामने आता है उपयुक्त साधनों के अभाव के रूप में। यदि आवश्यक साधनों एवं शक्तियों का संयोग उसे प्राप्त हो जावे तो वह साहसिक प्रयासों के लिये भी तैयार हो जाता हैं। विमान का सहारा मिल जाये तो वह आकाश में उड जाता है और उससे भी आगे भारहीनता वाले अवकाश क्षेत्र में भी चला जाता है।

{562}

आध्यात्मिक विमान में जब बैठ जायेंगे तो किसी ग्रह तक जाने की जरूरत नही होगी। आपको अपने स्थान से ही वे ग्रह और संसार का प्रत्येक वस्तु स्वरूप सुस्पष्ट दिखाई देगा। मंगल ग्रह में रहने वाले प्राणी जिस रूप में मंगल ग्रह को नही देख पाते, उससे भी अधिकतम सुस्पष्टता के साथ एक आत्म ज्ञानी मंगल ग्रह को तथा सारे ब्रह्मांड को देखता है। आध्यात्मिक विज्ञान में यह सब अन्तर्दृष्टि से दिखाई देता है जो महान् शक्ति होती है। इस शक्ति के सामने शारीरिक शक्तियों की बाधा भी रिर्थक हो जाती है। एक आध्यात्मिक वैज्ञानिक के भले ही नेत्र बन्द हो या कान की खिडकियॉ रूंधी हुई हो अथवा हाथ पैरों को लकवा हो रहा हो, फिर भी वह एक स्थल पर बैठकर अपनी आन्तरिक शक्ति एवं अन्तर्दृष्टि की सहायता से सारे संसार को समस्त जड चेतन प्रवृत्तियों को एक साथ देख लेगा तथा देखता रहेगा। ऐसा चमत्कार भौतिक उपलब्धियों के बल पर नही, बल्कि आध्यात्मिक शक्तियों के प्रभाव से ही प्रत्यक्ष दिखाई दे सकता है।

{563}

अध्यात्म विज्ञान के परिणाम बडे चमत्कारिक होते हैं, किन्तु इनका चमत्कार तभी समझ में आवेगा, जब जीवन की प्रयोगशाला में जिज्ञासा का रसायन खूब प्रयोग में लाया जाये। कितनी व्यापक जिज्ञासा जागती हैं, जीवन में पुरुषार्थ भी उतना ही बलशाली बनता है, लेकिन इसके साथ अध्यात्म विज्ञान के प्रति प्रबल आस्था भी होनी चाहिये। यही ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य की आराधना है तथा मुक्ति की साधना है।

{564}

{565}

सुसाधओं की संगत
अधिक से अधिक बनाने का
प्रयास करना चाहिये। वह व्यक्ति के
अन्तर बाहर दोनों को
सुखमय बनाते है।

{566}

वीतराग मार्ग
में प्रवृत्ति और निवृत्ति
दोनों का ही प्रावधान है।
असंयम से निवृत्ति और
संयम में
प्रवृत्ति हो।

{567}

जीवन का
अनियंत्रण समाप्त
करो। उसे सुव्यवस्थित रूप
से चलाओं।
इसी में सफलता
निहित है।

{568}

समत्व भाव के
साथ होने वाला वैचारिक
आदान-प्रदान एक नई ज्योति,
नई ऊष्मा, नई क्रांति लाने
वाला बनता है।

{569}

बबूल पर कितने ही रेशमी
कपडे बांध दें, लेकिन उसमें से
तो कांटे ही निकलेंगे और आम का वृक्ष
बोएंगे तथा साधु जीवन की जडो को
मजबूत बनायेंगे तो मीठे
आम जरूर मिलेंगे।

{570}

स्नेह
संबंध सदा
समान प्रकृति में ही
टिक सकते
हैं।

{571}

बुद्धि को
पतिव्रता बनाइये-
आत्मा के अनुरूप आचरण
करने वाली।

{572}

पीड़ित मानवता के उद्धार
के लिये पवित्र आत्मीय भावना
की आवश्यकता होती हे ओर वह यदि उन
पिछडे हुए लोगों को मिल जाये तो फिर
उनके उद्धार में अधिक
कठिनाई नही होती हे।

शुद्ध कर्त्तव्यदृष्टि को सामने रखकर
चलते रहना, निष्ठापूर्वक जीवनकला को
मद्देनजर (दृष्टिगत) रखना, विनयशीलता व सुविधि
का त्याग ने करते हुए निर्भयता पूर्वक मनःस्थिति को रखना,
मान-अपमान आदि स्थिति का मन में विचार तक नही आने देना,
इससे ज्ञान फल की कुछ स्थिति वनती हे, अतः उपर्युक्त दशा
साधना में सर्वप्रथम आनी चाहिए।

{573}

जो वस्तु जिस समय, जिस रूप में रही हुई हें,
उसे उस समय, उस अपेक्षा से उस रूप में जानना-मानना सम्यक्ज्ञान हे। इससे विपरीत, यानि जो वस्तु जिस समय, जिस रूप में नहीं हे, उस अपेक्षा से उसकी उस समय, उस रूप में जानना या मानना मिथ्याज्ञान हे। जिस समय मुख्य रूप से जिस भाग का वर्णन होता हे, उस समय अन्य भागों का विषय गौण रूप में रहता हो, वह सम्यक् नयादि का कथन समझना चाहिए। लेकिन विषय प्रतिपादन में गौण-मुख्यभाव की अपेक्षा सर्वथा छोड दी जाती है। एकान्त रूप से एक ही भाग का प्रतिपादन एवं अन्य भाग का सर्वथा अपलाप हो, वे दुर्नयादि मिथ्या है। उससे दुःख, दारिद्रय, पतन का कार्य बनता है। सुख, समृद्धि, उत्थान का कार्य नही बनता है। अतः
मिथ्याज्ञान-दुर्नयादि से सर्वथा
दूर रहकर सद्ज्ञान, सम्यक् नयादि से वस्तु स्वरूप
समझ कर श्रेयमार्ग की ओर बढना चाहिए।

{574}

द्रव्यमन और शरीर का सम्बन्ध एक दृष्टि से अवयव-अवयवीभाव वाला कहा जा सकता है। यह शरीरस्थ पॉच इन्द्रियों और आत्मा के बीच का एक माध्यम है। इस माध्यम से विशेष रूप से तथा तीव्र-मन्दादिभाव से कर्मो का संचय और विनिवृत्ति प्रायः हुआ करती है, पर भावमन के बिना यह कुछ भी करने में समर्थ नही रहता। यानि व्यवस्थित एवं कलापूर्ण स्थिति नही बन पाती। अतः भावमन, जो कि आत्मा की शक्तिरूप है, से वह प्रक्रियाओं का संचालन बनता है।

{575}

{576}

आत्मा के सर्वांगीण विकास के लिए प्रभु के प्रति परिपूर्ण समर्पणा अत्यावश्यक है। जैसे बिना मां के प्रति समर्पणा के, बालक का सर्वांगीण विकास संभव नही है। वीतराग के प्रति सर्वात्मना सर्मपणा हो।

{577}

अनुभूति का आनंद जुदा होता है, अनुभूतियों से ही निज स्वरूप की अभिव्यक्ति सम्यक् रूपेण हो सकती है।

{578}

हमारी सारी समस्याओं का हल हमारी चेतना से, हमारी सम्यक्त्व स्थिति से ही हो सकती है।

{579}

साधु जीवन समाधि का प्रतीक है, वह किसी प्राणी को कष्ट देना, सताना नही चाहता है, चाहे स्वयं कितने ही कष्ट उठा लेता है।

{580}

जहां तप करने वाला अपने तप का अधिक से अधिक प्रदर्शन करता है, आत्मीय गुणों की सजावट के बजाय तप महोत्सव मनाते हुए शरीर को वस्त्राभूषणों से सजाता है तो वहां तप की शक्ति एवं आत्मीय गुण विलुप्त होते जाते हैं।

{581}

वीतराग वाणी रूपी मंत्र विषयों के जहर को उतारने में पूर्ण सक्षम है।

{582}

आत्मीयता के प्रतिकूल आचरण भयानक, घातक परिणाम दिखला सकता हे।

{583}

भौतिक संपत्ति को जैसे आप तिजोरी में वंद करके रखते हैं, वेसे ही आध्यात्मिक गुणों को भी आत्मा रूपी तिजोरी में स्थित करें, प्रदर्शन न करें।

वास्तविक लक्ष्य को ओझल करके जो आत्मा भौतिक इच्छाओं की तृप्ति की तरफ दोडती हे, उसे वह तृप्ति कभी होती नही। क्योंकि एक वात की तृप्ति दूसरी वात के लिये तृष्णा को जगा देती हे ओर श्रृंखला कभी टूटती नही हे। संसार की विविध प्रलोभन उसको लुभाते रहते हे, इनका यह नियम है कि आशाएँ अधिकाशतः मृगतृष्णा का रूप लिये रहती हे। इसलिये एक आशा की पूर्ति में कभी-कभी सारे जीवन का भटकाव हो जाता हे ओर आशा पूरी नही होती। {584}

{585} प्रक्षेपण का अर्थ होता हे फेकना ओर फेंकता वही है जोपहले अपने पास जमा कर लेता ह। जेसे किसान खेते में पक्षियों को भगाने के लिये गोफन से पत्थर फंकता हे तो पहले पत्थर अपने पास जमा कर लेता हे। इसी प्रकार जो दूसरों पर आक्षेप या दोष लगाता हे, वह पहले दोषों का संचय कर लेता हे। मन में दोषों का भंडार भर कर वह फिर उन पत्थरों को वचन के गोफन पर लगाकर फैंकता है तो वह कितने नये पापों का भी संचय कर लेगा। अतः सबसे पहले अपने द्वारा पाप के प्रक्षेपण को बन्द कर दें। इससे मलिनता मिट जायगी तो विमलता का विस्तार होगा। ऐसा कार्य आध्यात्मिक शोधकर्ता अपने आत्मिक पुरुषार्थ से ही कर सकता है।

वस्तुतः बुद्धि के प्रयोग का आधार मन का स्वरूप होता है। मन में जिस रूप में पवित्रता अथवा अपवित्रता होती है, वैसी ही झलक बुद्धि में दिखाई देती है और वैसा ही उसका प्रयोग सामने आता है। पानी स्वच्छ और निर्मल हो तो काच की तरह वह भीतर से भी साफ दिखाई देता है लेकिन उसी पानी को अगर आग पर उबलने को रख दिया जाये तो उबलते हुए उसके अणु परमाणु इस तरह उथल पुथल होते हैं कि स्वच्छता होते हुए भी उसकी निर्मलता पहले की तरह दीखनी बन्द हो जाती है। {586}

{587}

विचक्षण व्यक्ति सदा
सुन्दरतम अवसर की प्रतीक्षा
में रहते हैं। वे चाहते हैं कि ऐसा सुनहरा
अवसर आवे जिसे साध
कर जीवन को सार्थक
बना लिया जाये।

{588}

शरीर एक
पिंड है, इसमें सारे
ब्रहमाण्ड का नक्शा रहा
हुआ है। अतः शरीर को
साधना सीखें।

{589}

जहां नगर
धर्म की व्यवस्था
टूटती है। वहां
आध्यात्मिक धर्म ही नहीं
हो पाता।

{590}

सन्त जीवन पवित्र होता है
और उसे कठोर मर्यादाओं में पवित्र रखने मे
मददगार होना चाहिये। सन्तों का जीवन
जितनाा मजबूत रहेगा,
पर–हित चिन्तन की भावना को भी
उतना ही अधिक बल मिलेगा।

{591}

ज्यों–ज्यों अन्तर्चक्षुओं
की ज्योति तेजस्वी बनती
जाती है, त्यों–त्यों श्रद्धा का रूप भी
अधिकाधिक प्रभावशाली बन कर
आत्म कल्याण का प्रेरक
होता जाता है।

{592}

अनैतिक
कार्य वीर नही
कायर पुरुष ही
करते है।

{593}

प्रत्येक विषम
स्थिति का डट
कर सामना करना
ही वीरता का
मापदण्ड है।

{594}

जितनी आत्मा की
परतत्रंता है, वही अन्तर्दृष्टि
का लुप्त हो जाना है तथा
भीतर का अंधापन
फैल जाना है।

अध्यात्म विज्ञान के क्षेत्र मे जब जिज्ञासा, शोध एव पुरुषार्थ की त्रिवेणी का बल लगता है तो उसके चमत्कारिक परिणाम सामने आते हैं। यह कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है। अनेक विभूतियों ने इस क्षेत्र में जो सर्वोच्च विकास सम्पादित किया तथा ज्ञान की ऊँचाइयो पर पहुँच कर संसार को जो दार्शनिक मार्ग दर्शन दिया, उसका संसार के सभी दर्शनो मे महत्वपूर्ण स्थान है। जिज्ञासा का रसायन इतना प्रभावशाली होता है कि जब जीवन की प्रयोगशाला में इस रसायन पर परीक्षण किया जाता है तो वास्तव मे चमत्कारपूर्ण परिणाम सामने आ सकते है।

{595}

भय और चिन्ता को सदा–सर्वदा जीवन से निकाल ही देना चाहिए। ये जीवन के बहुत बडे शत्रु हैं। इन्हीं से जीवन का अधिक हास होता हैं। इसका दूसरा पक्ष भी है जो जीवन के लिए प्रेरणादायक भी बन सकता है। वह है सही ज्ञानपूर्वक वास्तविक दिशा में चिन्तन। यह समय जितना अनुकूल हैं उतना अन्य समय अनुकूल हो पायेगा या नहीं ; उस समय फिर मुझे पश्चाताप न करना पड़े, अतः जो कुद करना है, वह यथाशीघ्र कर लेना चाहिए, जीवन निर्माण के समय को हाथ से नहीं खोना चाहिए, आदि विषयक विचारों में भी सूक्ष्म दृष्टि से चिन्तन किया जाये, तो कुछ चिन्ता और भय की झलक आयेगी। लेकिन यह झलक जीवन हास की नही , जीवन– निर्माण की है। अतः इसे आवश्यक भी माना जा सकता है पर सावधानी नहीं रखने से शत्रु, रूप भय–चिन्ता का अधिक दौरा रहता है, जैसे कि अब मेरा क्या होगा ? अमुक आपत्ति आ गई इसको हटाने वाला कोई साथी नहीं। अमुक ग्रह भी ऐसे ही आ गये, वे मुझे सता रहे है। अमुक मेरा शत्रु है। इसके द्वारा मार दिया जाऊँ या सताया जाऊँ आदि विषयक भय के कारण प्रायः हाथ पर हस्त मस्तिष्क देकर काल्पनिक जगत में डूब जाना किसी तरह हितावह नहीं । क्योंकि यह शत्रु रूप भय और चिन्ता का परिणाम है। इन से सावधान रहना है और जीवन निर्माण करना है।

{596}

धर्म के नाम पर भी जहॉ नारी जाति को तिरस्कृत किया गया, उस धर्म के प्रवर्तकों मे क्या यह नही मानना चाहिये कि रागद्वेष एवं भेदभाव का कालुष्य भरा हुआ था ? उसका धर्म का नाम ही कहाँ सार्थक होता है जहॉ समता का ही अभाव हो ?
धर्म नाम के क्षेत्र में भी अगर विषमता की ज्वालाऐं सुलग रही हो– मानवता के आधे अंग के प्रति घृणा के भाव जग रहे हो तो उस धर्म से क्या मानव जीवन को सुख और शांति मिल सकेगी ?

{597}

{598}

जिस आत्मा में जितना
मिथ्यात्व होता है, वह अविद्या रूप होता है
और यह अविद्या
जितनी गाढ़ी होती है, उतनी ही आत्मा की
अधिक दुर्दशा होती है।

{599}

श्रद्धापूर्ण
अज्ञान अच्छा लेकिन
मिथ्यात्वपूर्ण अविद्या बड़ी
खतरनाक होती है।

{600}

संघर्ष
शक्ति और विजय
का प्रतीक
होता हैं !

{601}

मुक्ति पथ पर प्रगति करने
के दो ही उपाय हैं कि या तो स्वयं
ज्ञानी बनो अथवा अटूट श्रद्धा के साथ ज्ञानी का
अनुसरण करो। जिसका अनुसरण करो वह
परखा हुआ ज्ञानी हो और तब उस की
आज्ञा का पालन करना ही अपना परम धर्म
मान लो।

{602}

आत्मा की आन्तरिक शक्ति
का प्रकटीकरण तभी संभव बनता
है, जब संसारी आत्मा संसार के अन्दर की
अपनी उलझन को पहिचान लें तथा उस
उलझन से निकलने के सही
रास्ते को भी पहिचान लें।

{603}

अन्तःकरण
से उठने वाली दुर्गंध
चारों ओर विकृति
फैलाती है।

{604}

आत्मा
निर्विकार अवस्था
में शरीर के अन्दर सत्ता
के रूप में
बैठी हुई है।

{605}

तपश्चर्या उस आग
के समान होती हैं, जिस में
रखने से सोना अपनी मलिनता को ही
समाप्त नही करता बल्कि अपने स्वरूप में
भी कुन्दन की तरह
दमक उठता है।

अन्तरात्म की समस्या अति ही जटिल है।
मनुष्य के सामने इससे बढ़कर कोई प्रश्न नही बन सकता।
क्योकि अनेक तरह के चित्र मन मे चक्कर काटते रहते है। उनको
रोकना और अन्दर में प्रवेश करना एक वज्र की चट्टान को लकड़ी
से तोड़कर गुफा मे प्रवेश करने के समान है अर्थात् लकड़ी से
चट्टान नही टूट सकती। उसी तरह ऊपर–ऊपर के हल्के प्रयत्नो से
कुछ नही हो पाता। पर शिला को कला से हटाया जा सकता है।
उसी तरह कला –पूर्ण जीवन से अन्त.स्थल
पर पहुँचा जा सकता है।

{606}

दिव्य शक्ति की उपलब्धि के लिए पैनी दृष्टि की
नितान्त आवश्यकता है। इसके बिना जीवन की सब कलाएं
अधूरी एवं अल्प विकसित रह जाती है तथा वास्तविक तत्त्वों का
भी सही पता नहीं लग पाता, न चित्त की स्थिरता बन पाती है ओर न स्थायी सुख
की दिशा का निर्णय बनता है। फलत. आवरण–दिशा भी सम्यक् नही बन पाती।
उसके बिना जीवन प्रायः बेकार–सा रह जाता है। उस शक्ति को प्राप्त करने के
लिए बाह्य धन, धान्य, स्त्री, परिजन आदि के परित्याग की नितानत आवश्यकता
है ही। लेकिन इसी तरह क्रोध–मान–मार्यादिक का त्याग भी बहुत जरूरी है। उसमें
प्रवृत्ति रूप क्रोधादिक का त्याग तो भूमिका के रूप में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। ऐसी
प्रवृत्ति का बारीकी से निरीक्षण करने के लिए सजग विवेक प्रतिभा की आवश्यकता
रहती है। लेकिन यह प्रतिभा भी एक दृष्टि से स्थूल ही कही जा सकती है। अतः
इसी प्रतिभा को सब कुछ नही मान लेना चाहिए। ऐसे प्रतिभायुक्त आचरण की
दशा तो मानो प्रथम कक्षा में प्रविष्ट होने के तुल्य है। विशिष्ट, विशिष्टतर,आदि
अध्ययन तो आगे की स्थिति में होता है। अतः उसी को सब
कुछ मान के निश्चित बैठ जाना बहुत बड़ी भूल है।

{607}

सच्ची समझ के साथ जिस वस्तु या अवस्था की
ओर ध्यान आकर्षित हो, उसको ही सम्मुख रख कर प्रयत्न
चालू कर दिया जाय। वही स्थिति निरन्तर, हर अवस्था में चमकती
रहे, अन्य तमाम बातें गौण बन जायें। फिर चाहे कितनी ही ऑधी
या तूफान क्यों न आयें, उनका जरा भी असर वास्तविक स्थिति पर
न हो पाये, इस बात का अवलोकन चलता रहे, तो व्यक्ति अवश्य
सफलता की स्थिति में बढ़ेगा और उसे अन्यान्य सभी समस्याओं
का हल भी करने में शक्ति प्राप्त होगी। इस विषय में
संशय को अवकाश नही कर पायेगा।

{608}

{609}

यह अनुभूत सत्य है कि
अन्त:करण के समदर्शी भाव से
जो व्यक्ति कर्त्तव्यपरायण होकर अग्रसर बनता
हैं तो वह अपने लक्ष्य में भी सफल होता है
तथा स्वतः ही समाज या राष्ट्र में उसको
यथोचित सत्कार भी मिलता है।

{610}

ससांर की
नश्वरता को हृदय
में रखकर विकास की गति
के वेग को सम बनाने की
नितान्त आवश्यकता है।

{611}

जीवन के
सभी क्षेत्रों मे समता की
पुष्टता का नाम
है आस्था।

{612}

आत्माभिमुख बनने का
अर्थ है आत्मा के मूल स्वरूप को
समझना तथा उसके अनुकूल जीवन की
समस्त वृत्तियों एवं प्रवृत्तियों पर आत्मा के
कठोर अनुशासन को स्थापित करना ।

{613}

सिद्धान्तों की प्रशंसा मात्र
करने से आत्मा में विराटता नही
आएगी। आत्म स्वरूप तभी विराट बनेगा
जब सिद्धान्तों की विराटता आचरण में
उतर कर चारित्रिक
शक्ति को विराट बना देगी।

{614}

क्षमाभाव का
विकास तब होता
है जब दूसरों की तरफ
दृष्टि डालने की बजाय
अपनी ही आत्मा पर दृष्टि
रखी जायें।

{615}

आत्मानुसार
की कठिन प्रक्रिया पर
जिस साधक का समग्र
जीवन आरूढ हो जाता है,
वह श्रमण
कहलाता हे।

{616}

जव अनन्त क्षमा
आत्मा में विराजमान हो
जावें तव समझिये कि आत्म स्वरूप की
विराटता अपने कीर्तिमान
तक पहुँच गई हे।

किसी भी विषय में लगाव की
अत्यधिकता होने प मन उस विषय में प्रवेश
पाने की चेष्टा करता है और यदि निरन्तर लगाव
का आकर्षण बढता रहे तथा मन की प्रवेश गति भी उसी तरह
बढती रहें, तो इस विषय का अन्तरस्तत्त्व पाया जा सकता है।
लेकिन उसमें मन पर बुद्धि
का नियत्रंण बराबर रहना चाहिए।

{617}

जिसमें संस्कार ग्रहण की योग्यता है, उसी में सभी
तरह के संस्कार पड सकते हैं। आन्तरिक नित्य प्रकाश
स्वरूप शक्ति के सामने जिन-जिन संस्कारों के दृश्य आते रहते हैं, उन-उन
संस्कारों को वह स्वयं के समझ कर चलती हैं तथा उन्ही के साथ अपना
घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित कर लेती हैं, अतः उन संस्कारों के अनुरूप ही उस
शक्ति का संकोच-विकास प्रायः बनता रहता हे। नाशवान वस्तु के संस्कार के
साथ तदाकार होने से उसके नाश के साथ वह भी संकोच रूप में सिकुड
जाने से नाश समान समझी जाती है। फिर अन्य किसी उत्पन्न पदार्थ के
साथ उस शक्ति के तादात्म्य सम्बन्ध स्थापन के जरिये विकास प्राप्त होते
रहने की प्रक्रिया अनादि से चली आ रही है, इससे वास्तविक दशा की ओर
नही पहुँचा जा रहा हैं। अतः अविनाशी सदा सत्य समग्र विषयों के तथा स्वयं
के ज्ञान-विज्ञान की अवस्था में अवलोकन करने वाले तत्त्व के
संस्कार डालने की नितान्त आवश्यकता है।

.{618}

प्रत्येक क्रिया का असर सारे
विश्व में प्रसारित होता है। प्रतिक्षण अनन्त क्रिया-प्रतिक्रियाएँ
बनती-बिगड़ती रहती है, अथवा
न्यूनाधिक रूप में उनका असर होता रहता हैं। बलवती प्रक्रिया का
कमजोर प्रक्रिया पर अधिक प्रभाव पडता है और कमजोर प्रक्रिया
का बलवती क्रिया पर मामूली असर होता भी है और बिखर भी
जाता है। इसका विशिष्ट विज्ञान अति गहन है।

{619}

{620}

जब विकारों में तृप्ति पाने
की कामना करने वाला मन
नेत्रों, कानों नासिका, रसाना और त्वचा को
इस रूप में प्रलोभन देता हो तथा उत्तेजित
बनाता हो तो फिर इन्द्रियॉ अपने-अपने विषय
क्षेत्रों में भटकने से कैसे रूक सकती हैं ?

{621}

त्रुटियॉ विकारों
के साथ और विकार मन
के साथ जुड़े
रहते हैं।

{622}

जो वस्तु का
स्वभाव हैं,वही उसका
धर्म है। जो भाव में रहे तो
समझना होगा कि वह धर्म
के साथ चल रहा है।

{623}

आत्म शक्ति की
प्रधानता से निर्भीकता इस रूप
में ढलती हैं कि एक श्रमणोपासक या साधक
मन या इन्द्रियों की उदृंडता अथवा
उच्छृंखलता को सहन नही करता है तथा
नियत्रंण की डोरी को कस देता है।

{624}

यह निर्भीकता जितनी
बढती हैं, उतनी ही यह आत्मा विकारी
तत्त्वों से निर्लेप बनती जाती है।
निर्लिप्तता की चरम स्थिति ही तो
परमात्म स्थिति होती है।

{625}

जो विज्ञान
अपने परिणामों
को मानव हित में प्रयुक्त
नही करवा पाता, वही
उसकी पराजय है।

{626}

जिस बिन्दु पर
भौतिक विज्ञान हार जाता
है, उसी बिन्दु से सच पूछे
तो सर्वोच्च विज्ञान-अध्यात्म
विज्ञान का कार्य आरंभ
होता है।

{627}

जो श्रमणों के सत्संग में
आता हैं तथा उनकी उपासना में अभिरूचि
बढाता हैं, वह अपने आत्म स्वरूप को ही नहीं
पहिचानता हैं,वल्कि आत्मा के मूल गुणों के
विकास में भी यत्नशील वन जाता हे।

जीवन की श्रेष्ठ कला आन्तरिक विज्ञान को सम्यक् रूप से विकसित करने में है। इसके बिना जीवन को प्राप्त करने का कोई महत्त्व नही है, क्योंकि जिस शरीर में आत्मा रहें और उस शरीर से आभ्यन्तर में प्रस्फुटित चमत्कृति का अनुभूतिपूर्वक सही विज्ञान का परिचय न हो, यह बडी विचारणीय बात है। इस प्रकार की दशा को क्या वस्तुतःजीवन का महत्त्व समझा जाये? एक दृष्टि से कदापि नही । नाम मात्र के जीवन अनेक मिले और मिल भी सकते हैं पर उससे क्या?

{628}

{629}

वर्तमान जीवन में अन्य अनेक संस्कार प्रविष्ट हो चुके हैं और दिन-प्रतिदिन नये-नये विषय के संस्कारों का प्रवाह आ रहा है। उन्ही संस्कारों में स्वशक्ति उलझ रही है। उससे छुटकारा पाना अति कठिन बन रहा है। छुटकारे का यह तात्पर्य नही कि उनको त्याग दें। त्यागना चाहें तो भी त्याग नही सकते। भूलना चाहे तो भूल नही पाते। छुटकारा पाने का मतलब उनके प्रति जो आकर्षण है, उसका परित्याग यानि वास्तविक वस्तु का आकर्षण पैदा होने पर उनका आकर्षण धूमिल पड जाता है। वह स्थिति आ है। तो छुटकारा पाना सहज बन जाता है।

मनुष्य के जीवन में अनेक विचार-धाराएँ प्रवाहित होने के लिये प्रादुर्भाव के रूप में व्यक्त होती हैं पर स्थायित्व को प्राप्त नही होती। क्योंकि सत्व शक्ति की पूर्णरूपेण दृढता की कचावट रहती हैं, प्रायः प्रतिक्षण फूलझडी की तरंगों के समान व्यक्त होकर तिरोभाव को प्राप्त होती रहती है। इसी से मानव किसी भी कार्य में अधिक सफलता प्राप्त करने में प्रायः असफल रहता है।

{630}

{631}

भौतिक विज्ञान की प्रगति को
देखकर कभी-कभी मनुष्य आश्चर्य करता है
कि ऐसा युग अभी ही आया है, पहले कभी
नही आया। लेकिन इस दृष्टि से भी सोचें तो
इससे भी अच्छे युग पहले आये हैं और चले
गये तथा आगे भी ऐसे युग आयेंगे
और चले जायेंगे।

{632}

धैर्य और
साहस का मधुर फल
इस जीवन में और अगले
जीवन दोनों में मिलता है।

{633}

आत्मा में
अनंत शक्तियॉ
समाहित है,
आवश्यकता है- सत्पुरुषार्थ
द्वारा उन्हें जागृत
करने की।

{634}

समाज, राष्ट्र एवं विश्व
के नेताओं को पहले शान्ति
स्थापना के योग्य अपने को बनाना होगा। वे
कूटनीति भी छोडे तथा अपने निहित स्वार्थो
का भी त्याग-करें तब काम चलेगा।

{635}

जिस दिन अन्तःकरण में
अनन्त शक्ति को आविष्कृत
करने की जिज्ञासा उत्पन्न हो जायेगी-
आवश्यकता का अनुभव हो जायगा, उसी
समय उस तरह का मार्ग भी मिल जायगा-
यह एक निश्चित सत्य है।

{636}

आत्मा की
सच्ची तृषा भौतिकता से
त्रिकाल में भी न कभी
बुझी है, न बुझेगी।

{637}

आत्मा पुस्तक
से श्रोता को जो ज्ञान
होता है, वही जीवन्त
ज्ञान है।

{638}

वहुत समय का प्यासा
व्यक्ति जिस प्रकार पानी के साथ चिपकता
हे-मुंह से पानी के वर्तन को छोड़ता नही हं,
उसी प्रकार जव मार्ग मिल जायगा तो उस
पर से चरण कभी डोलायमान नही होंगे।

... भव्य बनाने के
... ही प्रधानता दी जानी चाहिये।
... इसके लिये यह देखने की आवश्यकता
... आपका जीवन किस धारा में चल रहा
... धारा कितनी सही और कितनी गलत है तथा उस
धारा को भव्यता की ओर अग्रसर बनने के लिये किस दिशा
में कितने वेग से मोडनी चाहिये ?

{639}

अपूर्ण दशा की शक्ति की भी दो तरह की सीमा होती है। परिपक्व अवस्था में पहुँचने के पहले यदि उस शक्ति को व्यवस्थित रूप से विवेक के साथ नही संभाला जाये,तो वह कच्ची अवस्था में ही छिन्न-भिन्न होकर बेकार-सी बन जाती है। अतः उस अवस्था में मुख्यता वास्तविक विकास की ओर ही लगना चाहिए। जब वह परिपक्व अवस्था मे पहुँच जाये,तब उसकी अखूटता को देखना चाहिए कि परिपक्व होने पर भी वहाँ रूकने वाली है या उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होने वाली है। यदि यह मालूम हो कि वह रूक गई हैं, तो वहाँ पहले दूसरी दशा मे न लगकर निरन्तर उसको बढाने में लगना चाहिए। यदि ज्ञात हो कि रूकी नही, वृद्धिगत हो रही है और अखूटता की अवस्था को प्राप्त हो रही है, तो उसे अन्य दिशा की ओर भी यथासम्भव लगाया जा सकता है। यह एक सीमा है। दसूरी परिपक्व होने के पश्चात् भी कवेल भौतिक विज्ञान की ओर ही लगती है, तो उसमें काल्पनिक- संतुष्टि भले ही समझी जाये, वास्तविक शांति का आनन्द प्राप्त नही हो सकता। क्योंकि वह शक्ति ऊपर ही ऊपर तैरती हुई विलय को प्राप्त हो जाती है। अन्त -तोगत्या जीवन विफलता की भट्टी मे जल जाता है। अतः इन अपूर्ण अवस्था की दोनों सीमाओ को मद्देनजर रखते हुए वास्तविक सम्पूर्ण सर्वागीण अमरता के लक्ष्य को दृढ़ता पूर्वक स्थिर बनाकर चलना चा...

{640}

कोई भी कठिन कार्य बनता है
संघर्ष करने से और संघर्ष करने
ही शक्ति का प्रकटीकरण ... है।
... प्रारंभ में शक्ति का स्फुरण ...
विजय श्री में प्राप्त होती है। संघ...
लिये जीवन को ...

{64...

{642}

अन्तदर्शन की ओर
बढेंगे-भीतर झांककर देखेंगे तो
दिखाई देगा कि विषय भोगों की
उग्र लालसाएँ भीतर ही भीतर उद्दाम बनी
हुई हैं तथा वे उसी के
अनुरूप विकारी संस्कारों का
निर्माण कर रही है।

{643}

अनुभवों की
उपलब्धि कराने
वाला हमारा ही
चैतन्य है।

{644}

स्व स्वरूप
के परिज्ञानार्थ हमेशा
स्थाध्याय के साथ-साथ स्व
का अध्ययन भी
करना चाहिये।

{645}

बुद्धि जब सत्याभिमुखी
हो जायगी तो आध्यात्मिक खोज
भी सफल बन जायेगी तथा मोह आदि
विकारों को दूर करने की क्षमता भी उसमें
आ जायेगी।

{646}

जो सांसारिक प्रपंचों मे
पडकर बुद्धि को मलिन नही होने देता हैं,
वही अपनी विमल बुद्धि के साथ
आध्यात्मिक ज्ञान एवं सत्य की खोज में
निकल सकता है।

{647}

विचारों का
एक्सीडेन्ट (टकराव)
बडा खतरनाक
होता है।

{648}

विचारों के
आधार पर ही उच्चार
एवं आचार की भव्यता
निखतरी हे।

{649}

संसार के नाशवान
पदार्थो के साथ यह आत्मा
जितना अपना गहरा सम्वन्ध जोडती हें,
उतनी इसकी निज स्वरुप से विस्मृति
होती जाती हे।

अपने वर्तमान को भव्य बनाने के
लक्ष्य को ही प्रधानता दी जानी चाहिये।
ओर इसके लिये यह देखने की आवश्यकता
होगी की वर्तमान में आपका जीवन किस धारा में चल रहा
हैं, वह धारा कितनी सही और कितनी गलत है तथा उस
धारा की भव्यता की ओर अग्रसर बनने के लिये किस दिशा
में कितने वेग से मोडनी चाहिये ?

{639}

अपूर्ण दशा की शक्ति की भी दो तरह की सीमा होती हे। परिपक्व अवस्था मे पहुँचने के पहले यदि उस शक्ति को व्यवस्थित रूप से विवेक के साथ नही संभाला जाये,तो वह कच्ची अवस्था मे ही छिन्न-भिन्न होकर वेकार-सी वन जाती ह। अतः उस अवस्था में मुख्यता वास्तविक विकास की ओर ही लगना चाहिए। जव वह परिपक्व अवस्था में पहुंच जाये,तव उसकी अखूटता को देखना चाहिए कि परिपक्व होने पर भी वहाँ रूकने वाली हे या उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होने वाली हे। यदि यह मालूम हो कि वह रूक गई हें, तो वहाँ पहले दूसरी दशा में न लगकर निरन्तर उसको वढ़ाने में लगना चाहिए। यदि ज्ञात हो कि रूकी नही, वृद्धिगत हो रही हे और अखूटता की अवस्था को प्राप्त हो रही हे, तो उसे अन्य दिशा की ओर भी यथासम्भव लगाया जा सकता हे। यह एक सीमा हे। दसूरी परिपक्व होने के पश्चात् भी कवेल भोतिक विज्ञान की ओर ही लगती हे, तो उसमें काल्पनिक- संतुष्टि भले ही समझी जाये, वास्तविक शांति का आनन्द प्राप्त नही हो सकता। क्योकि वह शक्ति ऊपर ही ऊपर तेरती हुई विलय को प्राप्त हो जाती है। अन्त -तोगत्वा जीवन विफलता की भट्टी में जल जाता है। अत. इन अपूर्ण अवस्था की दोनो सीमाओं को मद्देनजर रखते हुए वास्तविक सम्पूर्ण सर्वांगीण अमरता के लक्ष्य को दृढता पूर्वक स्थिर बनाकर चलना चाहिए।

{640}

कोई भी कठिन कार्य बनता हैं
संघर्ष करने से और संघर्ष करने से
ही शक्ति का प्रकटीकरण भी होता है। संघर्ष
के प्रारंभ में शक्ति का स्फुरण होता है तो संघर्ष की सम्पन्नता
विजय श्री में प्राप्त होती है। संघर्ष एक प्रकार से लक्ष्यपूर्ति के
लिये जीवन को आन्दोलित कर देता है।

{641}

{642}

अन्तदर्शन की ओर
बढ़ेंगे-भीतर झांककर देखेंगे तो
दिखाई देगा कि विषय भोगों की
उग्र लालसाएँ भीतर ही भीतर उद्दाम बनी
हुई हैं तथा वे उसी के
अनुरूप विकारी संस्कारों का
निर्माण कर रही है।

{643}

अनुभवों की
उपलब्धि कराने
वाला हमारा ही
चैतन्य है।

{644}

स्व स्वरूप
के परिज्ञानार्थ हमेशा
स्थाध्याय के साथ-साथ स्व
का अध्ययन भी
करना चाहिये।

{645}

बुद्धि जब सत्याभिमुखी
हो जायगी तो आध्यात्मिक खोज
भी सफल बन जायेगी तथा मोह आदि
विकारों को दूर करने की क्षमता भी उसमें
आ जायेगी।

{646}

जो सांसारिक प्रपंचों मे
पडकर बुद्धि को मलिन नही होने देता हैं,
वही अपनी विमल बुद्धि के साथ
आध्यात्मिक ज्ञान एवं सत्य की खोज में
निकल सकता है।

{647}

विचारों का
एक्सीडेन्ट (टकराव)
बडा खतरनाक
होता है।

{648}

विचारों के
आधार पर ही उच्चार
एवं आचार की भव्यता
निखतरी है।

{649}

संसार के नाशवान
पदार्थो के साथ यह आत्मा
जितना अपना गहरा सम्बन्ध जोडती हैं,
उतनी इसकी निज स्वरूप से विस्मृति
होती जाती हे।

चांदी के टुकडो की चाह के साथ
मृत्यु का भय सामने लटकता रहता है।
तृष्णा ओर मृत्यु-दोनो में जेसे होड लगी रहती हे।
फिर भी मृत्यु सामने आ जाती हे तव तक भी तृष्णा मिटती नही
हैं। ऐसा वासनालिप्त जीवन वन गया ह कि आत्म कल्याण की
अभिलाषा भी नही वन पाती हे।

{650}

{651}

अधिकाश मनुष्यों का दृष्टिकोण वर्तमान विज्ञान की
ओर आकर्पित हे। वे उसी में सव कुछ पाने की आशा मे ह, लेकिन
सृष्टि का वास्तविक तत्त्व कुछ रहस्यमय हे। उस रहस्य की खोज की गतिशील हे।
एक रोज कुछ मात्रा मे अभिव्यक्ति हो सकता हे, लेकिन वेसी योग्य भूमि तेयार
होने पर। संसार सोच रहा हे कि विज्ञान परमाणु भेदन कर रहा हे, पर वात ऐसी
नही है। परमाणु का भेदन कोई वेज्ञानिक नही कर सकता। वेज्ञानिक क्या, देव,
दानव आदि कोई कितना ही शक्तिशाली व्यक्ति क्यो न हो, त्रिकालवर्ती अनन्त
भूत-भविष्य में भी न किसी ने वास्तविक परमाणु का भेदन किया हे, न करता हे, न
करेगा। पर आजकल जो कुछ हो रहा है, वह वस्तुतः परमाणु-भेदन नही। वह तो
अनन्त परमाणु के स्कन्ध का भेदन हे। ऐसे भेदन से भी भोतिक शक्ति का
प्रादुर्भाव हुआ है और हो सकता है। पर जिस विधि से जो हो रहा है, उस विधि के
अतिरिक्त भी कुछ विधियां ऐसी है जिनसे प्रचलित मशीनों के विना भी अनन्त
परमणसु के सूक्ष्म स्कन्धो को आसानी से तोड़ा जा सकता है और वर्तमान विज्ञान
भी विवेक के साथ सही दिशा में आगे बढता रहा, तो एक
रोज यह भी उस विधि पर पहुँच सकता है।

अध्यात्म विज्ञान की साधना
किसी भौतिक प्रयोगशाला में नही की
जाती हैं। इस साधना के लिये पूरा जीवन ही
हर प्रयोगशाला का रूप होता है। जीवन की प्रयोगशाला में
भावात्मक रसायनों के साथ संयम और तप की आग में जब
वह आत्मा तपती है, तब उसका स्वरूप निखरता है। तब
जीवन सुसज्जित बनता है।

{652}

{653}

जीवन निर्माण की आन्तरिक शक्ति तो आपको सन्तों के प्रवचनों से ही प्राप्त हो सकेगी, क्योंकि उनके प्रवचन सम्यक् ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र्य के धरातल पर उद्भूत होते हैं और उनमें आत्मिक अनुभूति भरी हुई होती है।

{654}

जो सबसे पहले संसार के झंझटों को छोडता है, उसी को आध्यात्मिक ज्ञान की उपलब्धि होती है।

{655}

सोने के पात्र में उलझने वाले इन्सान सत्य के बाधक नही बन सकते हैं।

{656}

आप चन्द चांदी के टुकडों के लिये बरबाद कर रहे अपने इस अमूल्य जीवन को सम्भाल लो और उसे आत्म कल्याण के पथ पर अग्रसर बना दो।

{657}

चांदी के टुकडों से मोह छूटेगा तभी अपरिग्रह के महाव्रत का पालन हो सकेगा तथा समता के सद्गुणों का विकास संभव बनेगा।

{658}

सोने के पात्र से सत्य का मुंह ढक दिया जाता है।

{659}

जीवन के निर्विकारी वृत्ति के आने पर ही सत्य की साधना को सम्बल मिलता है।

{660}

अहंकार जब फैलता हे तो उसके साथ ईर्ष्या भी पनपती हें, जिसके कारण मनुष्य दूसरों को नीचा दिखाने या नीचे गिराने की चेष्टा करता रहता हे ओर राग द्वेष की गहरी वृत्तियों में गिरता हे।

स्वानुभूति प्राप्त विचारशील मानव गिरा
अपूर्व गहराई का, जितनी मात्रा में स्वयं अनुभव
करता हैं, उतनी ही मात्रा में वह वचन अथवा लेखनी द्वारा अन्य के
समक्ष नही रख पाता। कारण कि अनुभव को गहनता अतुल होती
है। शव्द उसको पूर्णरूपेण वहन करने में सर्वथा अक्षम रहते हैं।
दिव्य पदार्थ का साक्षात्कार दिव्य अनुभव ही कर सकता है और
दिव्य अनुभव की उपलब्धि सर्वश्रेष्ठ लक्ष्य के स्थिर
होने पर संचित होनी प्रारंभ होती है।

{661}

मानव प्रायः स्थूल दृष्टि वाला रहता है। उसके पास
सूक्ष्म दृष्टि प्रायः नही के वरावर रहती है। यही कारण
है कि -वह आन्तरिक आनन्द का अनुभव नही कर पाता। स्थूल पदार्थ में ही
वह सब कुद पाना व देखना चाहता हैं, लेकिन स्थूल पदार्थो में सार प्रायः
नही रहता। अधिकांश सारतत्त्वों के हटने पर स्थूलता आती है। स्थूल पदार्थ
जल्दी ही विखर जाते हैं, अतः उनमें वास्तविकता का दर्शन नही हो पाता है
और उसी को यदि सब कुछ समझ लिया जाता है, तो समझिये यह बहुत
बडी नासमझी है अर्थात् अमूल्य जीवन को हाथ से खोना है, जो कि पुनः शीघ्र
मिलना दुःस्वार ही परिलक्षित होता है। एतदर्थ प्राप्त समय का सदुपयोग
जीवन की सार्थकता एवं वास्तविक आनन्दानुभूति के आन्तरिक रसास्वादन की
उपलब्धि के लिए स्थूल पदार्थ, चाहे वह दृश्य या अदृश्य हो, की ओर
दृष्टिकोण रखना अत्यावश्यक है। वर्तमान में पूरा समझ में नही आ रहा है,
एतावता उसको नही मानना बहुत बडी भूल होगी और जीवन-विकास भी रुक
जायेगा। जीवन-ग्रन्थियॉ उलझ जायेंगी। दिशा मे परिवर्तन आ जाएगा।
अतः केवल स्थूल दृष्टि खतरे से खाली नही है।

{662}

दिल एवं दिमाग का असर शरीर पर पडता
हैं और वह शरीर के प्रत्येक अंग से बाह्य वायु
-मण्डल में फैल जाता है। बिना बोले वह सूक्ष्म रूप से प्रत्येक
पदार्थ पर असर करता रहता है। जिस भाव की जितनी प्रबल
शक्ति होगी, वह जनसाधारण पर उतनी ही अधिक असर करेगी
और समय पाकर अपने ढांचे में ढाल देगी। विचारक पुरुषों के
साथ उसका संर्घष होगा। उसमें या तो प्रबल शक्ति विजय प्राप्त
कर लेगी या तीसरी शक्ति की सृष्टि होगी।

{663}

{664}

जैसे बूंद-बूंद करके
घट भर जाता है वैसे ही
एक-एक समय का मूल्यांकन
करने वाला एक दिन महान् कार्यों को सिद्ध
करने में सफल हो जाता है।

{665}

सत्य का
सफल साधक
अमर हो
जाता है।

{666}

समदर्शी
हो जाना समता
का सर्वोच्च विकास
प्राप्त कर लेना
होता है।

{667}

मानव जीवन एक
चौराहा है। यहां से आत्मा
जहां भी जाना चाहे जा सकता है।
जैसा भी बनना चाहे
बन सकता है।

{668}

मानव जीवन सर्वतंत्र
स्वतन्त्र है इसमें परतंत्रता का
काम नही पर शर्त यह है कि इस शरीर को
धारण करने वाला
चैतन्य देव स्वयं के स्वरूप
को समझ ले।

{669}

आज का
मानव क्षणिक ऋद्धि प्राप्त
करके भी अभिमान से
फूला नही समाता हे।

{670}

सभी प्रकार
की अवस्थाओं में
सम्यक् दृष्टि आत्मा
का विलक्षण व्यवहार
दृष्टिगत होता है, जो सवको
प्रभावित वनाता हे।

{671}

विचार, वचन ओर व्यवहार
में अपवित्रता वरतने वाले अपने
को वहुत चतुर समझते हं, लेकिन वे यह
भूल जाते हैं कि आखिर जाकर अपवित्रता
का भांडा फूटेगा ही ओर कालिमा प्रकट
होकर रहेगी।

आध्यात्मिक शोधकर्त्ता कभी अपने मित्रों
पर कोप नही करता हं-अपने साथियों के साथ
वैमनस्य नही रखता है। सबके साथ उसका सहानुभूति का व्यवहार
होता हे। अपने मित्र का कोई दोष देख भी लेगा तो उसके लिये
वह उसे एकान्त में स्नेह पूर्वक चेता देगा। वह अपने दिल में
स्वच्छता रखेगा- किसी के प्रति भी मलिनता भी नही।

{672}

मनुष्य क्या सोचता हे ओर क्या सोचना चाहिये !
वह सोचता हे में व्यापार करूं, उद्योग करूं, नोकरी करूं
अथवा अन्य किसी विधि से पैसा कमाऊं, धनवान बनूं, परिवार वाला बनूं,
अध्किार प्राप्त करूं, हकूमत करूं, आधिपत्य जमाऊं, यशकमाऊं, संसार के
विषयों का उपभोग करूं। यही जीवन का सार हे, आदि। लेकिन उपर्युक्त
प्रकार से सोचना ओर उसी को लक्ष्य बना लेना नितान्त भ्रांतिपूर्ण हे,
भूलभुलैया है, जीवन के साथ धोखा है। विपरीत मार्ग हे, अधः-पतन की सीढ़ी
है। मानवता खोना है, पशुत्त्व में प्रविष्ट होना है, अतः सही तरीके से सोचने
की आवश्कता है। वह यह कि धन स्थायी नही, परिजन प्रायः स्वार्थ भावना से
प्रेम करते हैं, अधिकार, अहंकार बढाने वाला है, आधिपत्य जीवन को
झकझोरने वाला है। समग्र स्थितियों का भली-भॉति चिन्तन करते हुए शुद्ध
लक्ष्य के साथ यथास्थान, यथायोग्य स्वयं की सीमा के अनुरूप कार्य करते हुए
निरन्तर कदम आगे बढाने का चिन्तन करना चाहिए !

{673}

मानवता के आधे भाग औरत का जिन्होंने
ठुकराने का दुस्साहस किया, हकीकत में उन्होंने
सारी मानव जाति के भाग्य को ही ठुकराने की चेष्टा की। क्योंकि
उन्होंने मानव जीवन की जननी के सम्मानपूर्ण स्थान का ही
अनादर किया। यह एक ऐसा कुकर्म था, जिस ने मानव जाति में
एक बहुत बडी भेद की दीवार खडी कर दी।

{674}

{675}

यह आत्मा जितनी भी
इच्छाएँ, आशाएँ एवं अभिलाषाएँ
रखती है, उन सब की पूर्ति तभी
हो सकती है, जब वास्तविक
लक्ष्य को अपना मार्ग
दर्शक बनाया जाय।

{676}

दृष्टि सम
होती है तब,
जब गति सम होती है और
मति सम होती है तो गति
और दृष्टि दोनों सम बन
जाती हैं।

{677}

अहंकार विषमता
का जनक होता है,
इसलिए जब अहंकार
समाप्त हो जाता है तो
विषमता भी मिट
जाती है।

{678}

जब आप सारे संसार
की सभी आत्माओं के साथ समभाव,
समदृष्टि एवं सम व्यवहार बना लेगें-
आत्मवत् भावना से अभिभूत हो जायेगें।

{679}

जब सन्तप्त आत्माओं की
सेवा का सुअवसर मिलता है और उनका
ताप मिट कर उनमें आनन्द की कलियाँ
खिलती है, तभी अपनी अन्तरात्मा में भी
सच्चे आनन्द का प्रवाह वहता है।

{680}

संसार के
विषय भोगों में
फंसे हुए मनुष्य के लिये
सवसे वडा भय होता हे,
मृत्यु का भय।

{681}

भविष्य की
चिन्ता छोडकर
पहले वर्तमान को
भव्य वनाइये।

{682}

जहाँ से भी सुगन्ध
मिले, आगे वढकर सुगन्ध
लीजिये, ओर जव अपने आपको
सुगन्ध से सुवासित वना लें तो दूसरों को
भरपूर सुगन्ध दीजिये। मुक्त भाव से लेना आर
सुगन्ध देना सीख लें तो शान्ति का
अमृत-पान अवश्य कर सकेंगें।

एक वटन दवाने से एक वल्व भी
जलता है तो पूरा विजलीघर भी चलता है
ओर ज्यों-ज्यों जीवन की सुन्दर उज्ज्वलता वढ़ती जाती है,
त्यों-त्यों वटन की शक्ति का भी विकास होता रहता है। यह
विकास इहलोक में करलें तो वर्तमान जीवन पहले सुधर
जायगा तो परलोक भी सुरक्षित वन जायगा।

{683}

कुछ व्यक्ति कहते है कि स्व की ओर ही देखो, पर की तरफ
नही। पर की तरफ देख लिया तो गलत वन जाओगे। भटक
जाओगे। किन्तु इस प्रकार का कथन करने वाले अंधेरी गुफा में, वेठने वाले
अन्धे व्यक्ति के समान ह। वे स्वयं को भी नही देख पाते, और जो स्वयं को नही देख पाता
वह स्व-पर के मार्ग को केसे वता सकता हें? कारण कि जो पर की ओर देखेगा ही नहीं, वह
स्व को भी केसे पहचानेगा? जो पाप को नहीं जानता, वह धर्म को केसे जानेगा? जिसने जड
के स्वाभव को नही समझा, वह चेतन्य के स्वभाव को केसे समझेगा? अर्थात् एक दूसरे के
स्वरूप को समझे विना, उन दोनों मे भेद है, यह निर्णय केसे करेगा? प्रेक्टिकल रूप में भी
देखा जाये, तो परिवार के एक सदस्य को उसी परिवार का दूसरा सदस्य नहीं देखें, तो
क्या वह परिवार चल सकता हें? पथिक अपने आप को ही देखे ओर अपने से भिन्न
यानि-पर-दूसरे पथिक को, साइकिल, तांगे, मोटर, कार, स्कूटर, मार्ग आदि को विना देखें,
विना सोचे चलता हे,तो क्या वह विना टकराये चल सकता हैं? वुद्धिमान का उत्तर होगा
नही। वैसे ही पर का ज्ञान किये विना स्वयं का ज्ञान नही कर सकता। जिसका भी ज्ञान
करना होगा, जिसको भी समझना होगा, उसकी ओर देखे विना, न ज्ञान किया जा सकता
है, और न उसकी समझा ही जा सकता हे।अतः स्व का ज्ञान करने के लिए भी पर की ओर
देखना अर्थात् पर का ज्ञान करना भी आवश्यक हो जाता हे।

{684}

अन्दर की शक्तियॉ जब
सक्रिय बन जाती है तो फिर बाहर की शक्तियों की उच्छृंखलता
चल नहीं सकती हैं, बल्कि बाहर की शक्तियों को भी
अन्तशक्तियों के अधीन बन कर उनके निर्देशों के
अनुसार कार्य करना पडता है।

{685}

{686}

जब भौतिक एवं
आध्यात्कि मानवता की सेवा
में ही नियोजित किये जा सकेगें। तब दोनों
विज्ञान एक-दूसरे के पूर्वक
भी बन जायेंगे।

{687}

धन के
इस बढते हुए
प्रभाव
ने मानवीय मूल्यों को क्षीण
बना दिया है।

{688}

धन बड़ा
और इन्सान छोटा
हो गया है।

{689}

समता की जीवन प्रणालि
को जो अपना लेता है, उसे जीवन
का सम्पूर्ण वैभव भी प्राप्त होता है।
तो सुयश भी मिलता है। मूल रूप में उसका
वर्तमान जीवन सार्थक तथा
आनन्ददायक बन जाता है।

{690}

मन, वचन एवं काया के
परस्पर सहयोग तथा परस्पर नियत्रंण की
प्रणाली ठीक तरह से जम जायेगी तो
भीतर की कई समस्याएँ सहज ही
में सुलझती रहेगी।

{691}

यह एक
निर्विवाद सत्य है
कि विनय के पुजारियों को
सिद्धि लाभ
मिलता ही है।

{692}

आन्तरिकता
की पवित्रता
मधुरवाणी एवं निर्मल
व्यवहार में प्रकाशित होती
है।

{693}

यदि समुद्र जनकल्याण की
भावना से अपनी मर्यादा तोड दे,
तो कल्याण नही प्रलय हो सकता ह। वेसे ही
साधु भी भले जन कल्याण की भावना से
महाव्रतों को तोडता हे,तो वह आगमिक दृष्टि
से अपना व दूसरों का सरंक्षण नहीं संसार
संवर्धन कर रहा ह।

सत्य तो यह है कि अहिंसा के
अंचल में ही शाश्वत शान्ति की उपलब्धि होती है।
इसी पवित्र अंचल में जगत् के प्राणियों को अपूर्व शान्ति मिली
है, आज भी अहिंसक आत्माएँ उस अपूर्व शान्ति का रसास्वादन
कर रही है तथा भविष्य में जो अहिंसा के अंचल में आत्म-रमण
करेगा, वह शाश्वत शान्ति को प्राप्त करता रहेगा।

{694}

जीवन की साधना में तल्लीन रहने वाला,
अन्य विषयों में आसक्त नही बनता। उसकी स्थिति
लक्ष्य-सिद्धि में मुख्य रूप से रहेगी, अन्य विषय को प्रसंगोपात ग्रहण कर
पायेगा। कौन मेरा मान कर रहा है, कौन अपमान इस विषय पर वह
समत्व का अवलम्बन लेगा ! वह यह नही सोचेगा कि मुझे मान करने
वाले से प्रेम से बोलना है और अपमान करने वाले से कत्तई नही बोलना
है या प्रतिकार करना है, इस का बदला लेना है। वह तो सोचेगा -मेरा
साथी है, मेरी शक्ति को बढाने वाला है। इनकी बातों को सुनकर मुझे
जीवन का परिमार्जन करना चाहिये। यदि कोई त्रुटि हो तो परिर्माजन
करना है। यदि त्रुटि न हो, तो सोचना है कि मेरे
कर्मो की निर्जरा हो रही है।

{695}

प्रत्येक वस्तु का यथोचित आवश्यक ज्ञान
होने पर ही इसकी हेय-उपादेयता वि[illegible] ।
उसके पश्चात् ही मोह-जनित आसक्ति- अन[illegible]
है। किसी भी पदार्थ को वस्तु स्वरूप की [illegible]
एवं वस्तुस्वरूप के पूर्ण लक्ष्य की
करना गलत नही कहा जा सक[illegible]
सर्वथा निषेध किया जाये, [illegible]

{697}

शान्ति की चादर
को प्रतिक्षण कतरने वाली
पहाड़ी चूहे के समान सम्पूर्ण आपत्तियों का
प्रमुखद्वार वह शत्रु है—प्राणी के अन्दर में
रहने वाला 'काल्पनिक भय'।

{698}

जो व्यक्ति आत्म—विकास
को अपने जीवन का लक्ष्य
बना लेते है,
वे कई अंशों में
अन्तमुर्खी हो जाते है।

{699}

ध्यान लगावें
कि "मैं कौन हूँ,
कहाँ से आया हूँ
और कहाँ जाना
चाहता हूँ।"

{700}

जैसे माता—पिता के
व्यवहार होंगे अधिकतर वैसे ही संस्कार
उनकी संतानों पर छायेगें। अब तो
संस्कार ही नही अनुवांशिक रोग भी
आने की बात भौतिक विज्ञान मान रहा है।

{701}

सत्य है नाव में एक
छिद्र हो जाने पर भी वह पूरी
नाव को डुबो देता है, वैसे ही साधु जीवन में
एक दोष का प्रवेश भी उसके सारे साधु
जीवन को दूषित् कर सकता है।

{702}

दुष्प्रवृत्तियों
का त्याग करिये और
सत्—प्रवृत्तियों को
अपनाइये। यही ज्ञान का
रहस्य है।

{703}

असंयमी
दुष्प्रवृत्तियों का त्याग करके
पूर्ण शुद्ध भावना में
विश्वास रखना ही
श्रेयस्कर है।

{704}

श्रुत का श्रवण करना
एक बात है, श्रुति का पैदा होना दूसरी बात
है। जब अंतर से श्रुति जागृत हो जाये तो
फिर उसका आनन्द अनिर्वचनीय होगा।

साधारण जनता अनेक दृष्टिकोणों के विभिन्न विचारों को समझ नही पाती। उसका ध्यान आर्थिक व सामाजिक नियमों पर ही विशेष रूप से रहता है। उन्ही के अनुसार अपना हिताहित सोचकर वह किसी के पक्ष या विपक्ष में अपनी दृष्टि बना लेती है। अतएव विभिन्न दृष्टियां से सोचने वाले विचारकों को चाहिये कि अपने बौद्धिक दृष्टिकोण की विभिन्नता को बुनियादी व्यवहार में लाएं। बौद्धिक समन्वयात्क अनेकता और बुनियादी एकता ही प्रगतिशीलता की परिचायक है। इससे विपरीत मार्ग प्रतिगामिता का होगा।

{705}

शरीर के आन्तरिक हृदय मस्तिष्क, आदि अनेकों ऐसे अवयव हैं जो डाक्टरी दृष्टि से भी भलीभॉति विदित है। प्रायः बहुत से व्यक्ति उनको अच्छी तरह जानते और देखते भी है। पर अन्तर मे संवेदन चक्रों आदि को दृश्य पदार्थों की तरह देखा व जाना नही जा सकता। उनको जानने की प्रक्रिया अनुभूति से सम्बन्धित है। वह भी उस प्रकार के निरन्तर अभ्यास आदि के प्रयास से। अतः पूर्वोक्त योग्यता के प्राप्त होने पर सर्वप्रथम कण्ठ में स्थित २५ दलीय कमल के माध्यम से उससे सम्बन्धित विज्ञान को अनुभव में लाना होता हे। क्योंकि यह व्यंजक तत्त्वों का माध्यम होने के साथ-साथ स्वर विज्ञान का अभिव्यंजक है। इसका सही अनुभव होने पर आत्मा के उपाधि तत्त्वों का ज्ञान होने लगता है। तदनन्तर भ्रकुटि मध्य स्थित त्रिदलीय कमल का विषय आता हैं, जो कि अन्तर प्रवेश के द्वार कहे जा सकते है। इसके माध्यम से विधि-निषेध तथा निर्माणात्मक गतिविधियों के अनुभूत्यात्मक विज्ञान की स्पष्टता होती है जिससे आगे का दिशा निर्देश बनता है।

{706}

द्रव्यमन और शरीर का सम्बन्ध एक दृष्टि से अवयव-अवयवी-भाव वाला कहा जा सकता है। यह शरीरस्थ पॉच इन्द्रियों और आत्मा के बीच का एक माध्यम है। इस माध्यम से विशेष रूप से तथा तीव्र-मन्दादिभाव से कर्मो का संचय और विनिवृत्ति प्रायः हुआ करती है, पर भावमन के बिना यह कुछ भी करने में समर्थ नही रहता।यानि व्यवस्थित एवं कलापूर्ण स्थिति नही बन पाती। अतः भावमन, जो कि आत्म की शक्तिरूप है, से सब प्रक्रियाओं का संचालन बनता है।

{707}

{708}

आम का रस बाहर–बाहर
से मात्र छिलका चूसने से नही,
भीतर से प्राप्त होता है, वैसे ही वास्तविक
आनंद की अनुभूति बाहर की शारीरिक
साधना से नहीं आत्मिक
साधना से प्राप्त होगी।

{709}

मनुष्य
अज्ञानता से भटकता है
अतः शरीर को
साधना सीखें।

{710}

शुभ संस्कारों
का कवच हर परिस्थितियों
में बालक की
सुरक्षा
करता है।

{711}

आज परिवर्तनशील
युग है, पर जितने भी परिवर्तन
है वे सारे बाहरी परिवेश के परिवर्तन है,
किन्तु आत्मिक मौलिक स्वरूप का परिवर्तन
तीन काल से भी नही हो सकता।

{712}

शरीर रूपी कार का मालिक
यदि आत्मा है तो उसका ड्राइवर
मन हैं, इस ड्राइवर को स्वछन्द मन छोडिये,
अन्यथा कही एक्सीडेंट न हो जाए, आत्मा रूप
मालिक भव परम्परा के
अंधकूप में न जा गिरे।

{713}

आचरण
शून्य जीवन
प्रभाव हीन
होता है।

{714}

महाप्रभु के
प्रति हमारी समर्पणा ;
नि.स्वार्थ होती है तो वह
निश्चय ही प्रभावशाली
बनती है।

{715}

टंकी में यदि जहर है, तो
नल से भी विष मिश्रित पानी ही आएगा, ठीक
ऐसे ही माता–पिताओं का जीवन कषायादि से
विषैला है तो संतान भी वैसी ही होगी।

साधारण जनता अनेक दृष्टिकोणों के विभिन्न विचारों को समझ नही पाती। उसका ध्यान आर्थिक व सामाजिक नियमों पर ही विशेष रूप से रहता है। उन्ही के अनुसार अपना हिताहित सोचकर वह किसी के पक्ष या विपक्ष में अपनी दृष्टि बना लेती है। अतएव विभिन्न दृष्टियों से सोचने वाले विचारकों को चाहिये कि अपने बौद्धिक दृष्टिकोण की विभिन्नता को बुनियादी व्यवहार में लाएं। बौद्धिक समन्वयात्क अनेकता और बुनियादी एकता ही प्रगतिशीलता की परिचायक है। इससे विपरीत मार्ग प्रतिगामिता का होगा।

{705}

शरीर के आन्तरिक हृदय मस्तिष्क, आदि अनेकों ऐसे अवयव हें जो डाक्टरी दृष्टि से भी भलीभॉति विदित हे। प्रायः बहुत से व्यक्ति उनको अच्छी तरह जानते ओर देखते भी हे। पर अन्तर मे संवेदन चक्रो आदि को दृश्य पदार्थों की तरह देखा व जाना नही जा सकता। उनको जानने की प्रक्रिया अनुभूति से सम्बन्धित है। वह भी उस प्रकार के निरन्तर अभ्यास आदि के प्रयास से। अतः पूर्वोक्त योग्यता के प्राप्त होने पर सर्वप्रथम कण्ठ में स्थित २५ दलीय कमल के माध्यम से उससे सम्बन्धित विज्ञान को अनुभव में लाना होता हे। क्योंकि यह व्यंजक तत्त्वों का माध्यम होने के साथ-साथ स्वर विज्ञान का अभिव्यंजक है। इसका सही अनुभव होने पर आत्मा के उपाधि तत्त्वों का ज्ञान होने लगता है। तदनन्तर भ्रकुटि मध्य स्थित त्रिदलीय कमल का विषय आता हैं, जो कि अन्तर प्रवेश के द्वार कहे जा सकते है। इसके माध्यम से विधि-निषेध तथा निर्माणात्मक गतिविधियों के अनुभूत्यात्मक विज्ञान की स्पष्टता होती है जिससे आगे का दिशा निर्देश बनता है।

{706}

द्रव्यमन और शरीर का सम्बन्ध एक दृष्टि से अवयव-अवयवी-भाव वाला कहा जा सकता है। यह शरीरस्थ पॉच इन्द्रियों और आत्मा के बीच का एक माध्यम है। इस माध्यम से विशेष रूप से तथा तीव्र-मन्दादिभाव से कर्मो का संचय और विनिवृत्ति प्रायः हुआ करती है, पर भावमन के बिना यह कुछ भी करने में समर्थ नही रहता।यानि व्यवस्थित एवं कलापूर्ण स्थिति नही बन पाती। अतः भावमन, जो कि आत्म की शक्तिरूप है, से सब प्रक्रियाओं का संचालन बनता है।

{707}

{708}

आम का रस बाहर–बाहर
से मात्र छिलका चूसने से नहीं,
भीतर से प्राप्त होता है, वैसे ही वास्तविक
आनंद की अनुभूति बाहर की शारीरिक
साधना से नहीं आत्मिक
साधना से प्राप्त होगी।

{709}

मनुष्य
अज्ञानता से भटकता है
अत: शरीर को
साधना सीखें।

{710}

शुभ संस्कारों
का कवच हर परिस्थितियों
में बालक की
सुरक्षा
करता है।

{711}

आज परिवर्तनशील
युग है, पर जितने भी परिवर्तन
है वे सारे बाहरी परिवेश के परिवर्तन है,
किन्तु आत्मिक मौलिक स्वरूप का परिवर्तन
तीन काल से भी नही हो सकता।

{712}

शरीर रूपी कार का मालिक
यदि आत्मा है तो उसका ड्राइवर
मन हैं, इस ड्राइवर को स्वछन्द मन छोड़िये,
अन्यथा कही एक्सीडेंट न हो जाए, आत्मा रूप
मालिक भव परम्परा के
अंधकूप में न जा गिरे।

{713}

आचरण
शून्य जीवन
प्रभाव हीन
होता है।

{714}

महाप्रभु के
प्रति हमारी समर्पणा ;
नि:स्वार्थ होती है तो वह
निश्चय ही प्रभावशाली
बनती है।

{715}

टंकी में यदि जहर है, तो
नल से भी विष मिश्रित पानी ही आएगा, ठीक
ऐसे ही माता–पिताओ का जीवन कषायादि से
विषैला है तो संतान भी वैसी ही होगी।

जीवन-कला केवल शारीरिक
संस्कारमात्र ही नही हैं ओर न वह मानसिक
व वाचिक संस्कार तक ही सीमित है। उसकी वास्तविक स्थिति जो
स्व-पर प्रकाशस्वरूप आत्मिक शक्ति के यथास्थान परिमार्जन में
सन्निहित है। अतः जीवन-कला का यथार्थ ज्ञान के साथ विकास
करना तथा उसी के अनुरूप प्रत्येक कार्य में उसके पुट का
लगते रहना नितांत आवश्यक है।

{716}

मन की वृत्ति जव ईर्ष्यालु वन जाती हे,
तव वह दसूरे को हर हालत में गिराने की सोचा
करता है। रात-दिन उसके मन मे दुष्ट संकल्प का जमाव वन जाता है।
वे दुष्ट संकल्प उसके अन्दर की ऊर्जा का दुरूपयोग किया करते हैं,
जिससे निर्माणात्मक शक्ति का हास ओर संहारात्मक शक्ति की उत्पत्ति
बनती रहती है। परिणाम यह होता है कि जीवन स्वल्प समय में ही
विषाक्त बनकर अनेक रोगों का आलय वन जाता है तथा इन्सानियत
की जिन्दगी की जिन्दगी से हाथ धोकर पशु आदि अवस्था को प्राप्त
करता है। तात्पर्य यह है कि वह स्वयं का ही
सब कुछ नाश करता है। अतः ईर्ष्यालुता को भूल
कर भी स्थान देना अबुद्धिमता है।

{717}

मानव किसी भी अवस्था में किसी भी पद
पर निरन्तर अभ्यासपूर्वक चलता रहे, तो उस पद
की स्थिरता आ जाती है। उसकी मनःस्थिति तृष्टि के साथ आगे
बढ जाती है। उसमें दृढत्ज्ञ, निर्भीकता भी आने लगती है। वह
उसमें मस्त बन जाता है। उसका आन्तरिक रस इतना पैदा हो
जाता है कि उसकी प्रत्येक प्रकृति में उसका रस झरता रहता
है और आस-पास का वायुमण्डल उससे प्रभावित
होता रहता है।

{718}

{719}

आज बच्चे गलत एवं विकारी
प्रवृत्तियों में लगते हैं, माता–पिता का
अपमान करते हैं क्यों ? इन सबका मूल
कारण है–माता–पिताओं के दूषित विचार एवं
दूषित आचरण।

{720}

आत्मा
रामी वही बन
सकता है जो इन्द्रिय शक्ति
से निरप्रेक्ष बनता हुआ
आत्म चिन्तन करें।

{721}

बीते हुए
समय को अब क्या
परिर्वतन होना हैं, किन्तु
बीता हुआ जीवन परिवर्तित
हो सकता है।

{722}

सच्ची भूख लगने पर
किया गया भोजन जैसे पाचक
होता है, वैसे ही सच्ची जिज्ञासा के साथ
ग्रहण किया गया सम्यक् ज्ञान आचरण के
साथ आत्मा को तुष्टि
देने वाला होता है।

{723}

आज के लोगों के हाथ
में झंडा नही है, केवल डंडा ही
रह गया है, वह डंडे को ही लेकर चल
रहा हैं। वास्तविक आदर्श को तो भूलते
चले जा रहे है।

{724}

स्वयं के
आईने में स्वयं को
देखिये।

{725}

गुणी के
गुणानुवाद करने से
सद्गुणों की वृद्धि
होती है।

{726}

सच्ची आजादी को
लेकर चलने वाला कभी भी
भाई–भाई के साथ संघर्ष नही करता है। वह
देश के समाप्त व्यक्तियों को अपने
समान समझकर चलने
वाला होता है।

सरकारी चोरी करके
व्यापार करने वाले व्यापारी को सरकार
दण्ड देती हे, चाहे वह उस धन को परोपकार
में भी क्यों न लगा दें ? तो परोपकार के लिए यम-नियम
की चोरी करने वाले साधकों को वीतराग देव की सरकार भी
कैसे छोड सकती हें ? उसे भी दण्ड तो
मिलना ही हे।

{727}

एक छोटी सी वात कितनी वडी कामयावी
हासिल कर सकती हे- इसकी शुरू में तो कल्पना भी
संभव नही होती है। वास्तव में छोटी-छोटी वातें जिनकी ओर
ध्यान साधारण रूप से जाता भी नही हे, यदि आपको आकर्षित कर सकें
और उन पर आप अपना पूरा-पूरा ध्यान देने लगें तो ये छोटी-छोटी वतें ही
आपकी आदतों में ढलकर आपके स्वभाव को मृदुल, त्यागमय और
बलिदानपूर्ण बना देगी। छोटी-छोटी वातो को अगर भली रीति से जीवन में
उतारें तो बडे-बड़े परिणाम सामने आ सकते हैं। बोली बदलने की बात यों
छोटी लग सकती हैं, लेकिन अब तक आप समझ चुके होंगे कि यह बात
हकीकत मं कितनी बडी है। सिर्फ वचन तोलकर हित, मित, इष्ट और
मिष्ट बोलने का ही कितना विशाल सुपरिणाम विशालतर क्षेत्र में प्रकट हो
सकता है-उसका अनुमान लगाना भी कठिन है। अतः भाषा विवेक के महत्व
को कभी भी कम करके नही देखा जाना चाहये।

{728}

जो मकान बाहर से स्वच्छ एवं
चाक्चक्य दिखने वाला हो पर अन्दर
से भयंकर दुर्गन्ध से भरा हो तो ऐसे मकान को कोई भी
सभ्य व्यक्ति नही पसन्द करेगा। इसी प्रकार कवेल बाहरी
कागजी स्वतन्त्रता तो आ
जाये पर भीतरी स्वतन्त्रता न आवे तो वह
वास्तविक स्वतन्त्रता नही होगी,
उसे कौन पसन्द करेगा ?

{729}

{730}

मूल में मन की प्रारंभिक
चंचलता को समाहित कर उसे स्वयं
की आत्मा को परमात्मा के स्वरूप की दिशा में
जोड देना अर्थात् परमात्म स्वरूप स्वयं में
परिणत कर लेना ध्यान साधना का उद्देश्य है
और वह मन की वृत्तियों
के समीकरण से बनता है।

{731}

जब तक
माता-पिताओं में परिपकार
नही आरम्भ तब तक
पारिवारिक जीवन सात्विक
नही बन सकता।

{732}

कर्त्तव्यनिष्ठ
महिलाएँ प्रजापति
के तुल्य है, यदि
वे चाहें तो दुनियां की
दुर्नीत को बदल
सकती है।

{733}

मन आत्म-समीक्षण की
गहराई में डूब जाये, अन्तर्ज्योति
के साक्षात्कार में लीन हो जाये या परमात्म
भाव की गहनता में खो जाये तो वह चंचलता
को त्याग कर अविचल-निश्चल हो जायेगा।

{734}

जैसे कल्पवृक्ष, कामधेनु,
चिंतामणि एवं कामकुम्भ मनोवांछित फल
प्रदान करने वाले हैं। उसी प्रकार समीक्षण
ध्यान साधना की प्रक्रिया
सब कुछ आनन्द प्रदान करने
वाली प्रक्रिया है।

{735}

समीक्षण
ध्यान हंस चोंचवत्
वस्तु के स्वरूप का यथार्थ
बोध करता हुआ अंतर्पथ के
राही को ऊर्ध्वारोहण में
गति प्रदान करता है।

{736}

कारण सुंदर
होता है तो कार्य
भी सुंदर हो सकता है।
अतः कार्य से पहले कारण
का योग्य होना
आवश्यक है।

{737}

आध्यात्मिक क्षेत्र किसी
भी तत्त्व का पता लगाने में
कभी असफल नही होता, जबकि भौतिक
विज्ञान की कही भी सम्पूर्ण रूप से पैठ नही
होती है। जो उसने पता लगा लिया है, वह
कही भी पूर्ण नही है।

मन चंचल घोडा वेकावू है, तो
वह वन्ध करता जायेगा, जिसके कारण
आत्मा कर्मो से वँधकर जन्म-मरण के चक्र में
भ्रमित होती रहेगी। किन्तु यदि यही घोडा कावू में आ जाता है,
तो फिर इसी एकाग्र मन के जरिये मोक्ष तक की महायात्रा
सफलता पूर्वक पूरी की जा सकती हे। अन्तर की कडियों को
जोडकर ही मन की चंचलता को मिटाया जा सकता हे।

{738}

संसार के प्रति आकर्पण का मूल आवेग हे
मोह का आवेग, राग भाव की लिप्तता और आसक्ति
की गृद्धदशा। यह मोह होता है जड़ पदार्थो के प्रति, अपने सम्वन्धियों के
प्रति और अपने ही शरीर के प्रति। मोह भाव का प्रस्फुटन राग में होता
है कि अपनी इन्द्रियों और मन को जो इष्ट लगे, वे पदार्थ अपने और
अपनों के ही पास रहें, ऐसे पदार्थो को अधिकतम मात्रा में संचित किया
जाये तथा उन पदार्थो को कोई अपने से छीने तो उसका किसी भी स्तर
पर विरोध किया जाये। यह राग भाव मोहावेग के साथ चिकन होता
रहता है। राग की प्रतिक्रिया के रूप में द्वेष का जन्म होता है और राग
द्वेष की प्रकृतियों व प्रक्रियाओं से ही कर्म बन्ध होता है। इसी कारण राग
और द्वेष को सांसारिकता के बीज रूप में देखा गया है।

{739}

डॉक्टर जब शरीर के किसी अवयव का
आपरेशन करना चाहता है तो उस भाग में पहले
वह अमृत तत्त्व का इन्जैक्शन लगा देती है जिससे मन और
शरीर के बीच के सम्बन्ध को वह शून्य बना देती है। इससे
शरीर की सूचना मन तक नही जाती और डॉक्टर अपनी
इच्छानुसार रोगी को बिना कोई कष्ट महसूस कराये ऑपरेशन
कर देता है। मन को नही जुडने देने पर शरीर के साथ कैसा
भी व्यवहार किया जाता है तो उसकी महसूसगिरी नही होती है।

{740}

{741}

जो व्यक्ति
समाधान नही लेता है,
वह भ्रांति में ही अपने विचारों को दूषित
करता हुआ अपने अमूल्य जीवन को
बरबाद कर देता है।

{742}

अपूर्णता ही
सफल - विकल्पों
की जननी है। इसे समाप्त
कीजिए।

{743}

जिस व्यक्ति
में विचारों की उज्ज्वलता
है वह किसी को भी
आकर्षित किये बिना नही
रह सकता।

{744}

आधुनिकता के नाम
पर साधुओं को यदि वृतों से
अलग किया जाये, मर्यादाएं तुडवाई जाए तो
वह सच्ची क्रांति नही, मात्र भ्रान्ति है।
अशान्ति है।

{745}

सच्ची शांति को
जीवन में प्रवेश कराने
के लिए पहले मन-मस्तिष्क
में भरी बाहरी बातों
को हटाना होगा।

{746}

जो अंशाति
की अनुभूतियां
मानव कर हरा है,
उसका निर्माता वह
स्वयं है।

{747}

तू स्वयं
ही स्वयं के
सुख-दुःख का
कर्ता है।

{748}

सच्चे देश प्रेमी
को राष्ट्र रक्षा हेतु
अपने स्वार्थों को तिलांजलि
देने में जरा भी हिचक
नही होती है।

मन और शरीर के सम्बन्ध परस्पर इतने प्रभावोत्पादक होते हे कि इन सम्बन्धों का एक दूसरे को परिणाम भी भुगतना पडता हे। शरीर को कोई कष्ट नही हुआ, लेकिन मित्र के मिलन-भाव से मन को जब प्रफुल्लता हुई तो शरीर भी आल्हादित हुआ ओर जब वह अपना मित्र नही निकला तथा मन मुरझा गया तो शरीर की आकृति भी निराश ओर फीकी दिखाई लगी। क्योंकि मन के अनुभव की छाया शरीर पर पड जाती हे।

{749}

जब भी कोई सत् सिद्धानत या सुविचार किसी महान् विभूति के अनुभवजन्य ज्ञान से निःसृत होता है अथवा समाज की श्रेष्ठ धारणाओं एवं परम्पराओं से प्रतिष्ठित होता है, तब उसका स्वरूप पूर्ण रूप से शुद्ध होता हैं। यों सत् सिद्धान्त और विचार तो सदा शुद्ध ही रहता है किन्तु उसके टीकाकार, उपदेशक या समर्थक कई बार किन्ही व्यक्तिगत या समूहगत स्वार्थो के पीछे उस शुद्धता को प्रदूषित कर देते हैं अथवा व्यवहार के काल क्रम में भी उनके प्रति शिथिलता की वृत्ति बन जाती है जिससे उसकी शुद्धता के साथ कार्यान्वय के दोष जुड जाते हैं। यह परिवर्तन प्रदूषण युक्त होता है अतः फिर समय आने पर प्रबुद्ध व्यक्तित्व की प्रभाव- शीलता से उसका संशोध न एवं परिमार्जन किया जाता है तथा उस सिद्धान्त या विचार को उस प्रदूषण से मुक्ति मिलती है। यह पुरुषार्थजन्य प्रक्रिया होती है।

{750}

द्रव्य मन की गति भी भाव मन के निर्देशन के बगैर नही होती है। मनुष्य उच्चारण करता है कि मैं परमात्मा के तुल्य हूँ लेकिन उसका उच्चारण द्रव्य मन के आधार पर होता है, परन्तु भाव मन के बिना ही। सही स्वरूप दर्शन तो आन्तरिक अनुभव के साथ जब भीतर की गहराई में पहुँचते हैं तभी होता है और तभी वस्तुस्थिति सामने आती है।

{751}

{752}

जब जीवन में भाई-भाई
के प्रति भी प्रेम-स्नेह की भावना उत्पन्न नही
होगी तो विश्व के सभी प्राणियों के प्रति
आत्मीय भावना की उत्पत्ति की संभावना ही
नही की जा सकेगी।

{753}

जब तक देश
के प्रति देशवासियों
की निष्ठा जागृत नही
होगी, तब तक देश का
समुचित उत्थान नही
हो सकता।

{754}

जो मन को
साध लेता है उसको
इच्छित फल की प्राप्ति
हो जाती है।

{755}

यदि धर्मस्थानक में
आकर भी अभिमान प्रदर्शन की
भावना रहती है, में इतना पेसे वाला हूँ,
संघ प्रमुख हूँ, राजकीय अधिकारी हूँ,
तो फिर आत्म शुद्धि कैसे हो सकती है।

{756}

केवल मुंह से स्वतन्त्रता
के गीत गा लेने से या झंडा
फहरा देने से स्वतन्त्रता का सही
रूप नही आ सकता। इसके
लिये वस्तुतः मानवीय प्रेम
जागृत करना होगा।

{757}

आज के
साधक तपस्या करते
जरूर है पर अधिकतर ये
शरीर को साधते हैं, मन
को नहीं।

{758}

शांति
चाहते है तो पहले अन्य
प्राणियों को शांति दो।

{759}

विषय-कषाय (काम,क्रोध,मद,
मत्सर, तृष्णा) के स्त्रोत में बहते
जाना कोई प्रगति नही है प्रगति है
प्रतिस्त्रोतगामी बनने में जो विषय कषाय के
प्रवाह से विपरीत चलते हैं वे ही अपने जीवन
में एक उत्क्रांति करते है सच्ची
प्रगति करते है।

जिसका विवेक जग जाता है
वह श्रेष्ठ वस्तु ही ग्रहण करना चाहेगा।
आम को छोडकर जा निम्बोली के पीछे भागता है,
उसको दुनिया अक्लमन्द नहीं कहती है। जिन आत्माओं ने
अविनाशी सम्पत्ति को प्राप्त करने का संकल्प किया है,
वे समीक्षण ध्यान की साधना का
पाथेय लेकर ही आगें बढी है।

{760}

{761}

भगवान् महावीर तो मानव मूल्यों की ऐसी क्रांति-
कारिता में सबसे आगे रहे हैं। यह संविभाग अर्थात् सम्
विभाग का प्रयोग उन्ही का है। उन्होंने ही सबसे आगे बढकर अन्नादि सामग्री
का ही नही, सम्पूर्ण अर्जन के संविभाग का निर्देश दिया है। प्रश्न का कारण
सूत्र (अ २ गा ३) में कहा गया है-
"असंविभागी, असंगहरुई..... अप्पमाण
भोंई से तारिसए नाराइए वयमिणं।"
अर्थात् जो अंसविभागी है, प्राप्त सामग्री आदि का ठीक तरह से वितरण नही
करता, असंग्रह रूचि है-साथियों के लिये समय पर उचित सामग्री का संग्रह
कर रखने में रूचि नही रखता, अप्रमाण भोजी हैं-मर्यादा से अधिक भोजन
करने वला पेटू है, वह अस्तेय व्रत की सम्यक् आराधना नही कर सकता।
आगे यहॉ तक कह दिया गया है कि-
"असंविभागी न हु तस्स मोक्खो।"
"अर्थात् जो संविभागी नही हैं और प्राप्त सामग्री का सम-वितरण
नही करता है, उसको मोक्ष की प्राप्ति नही होती।

साधना का क्षेत्र एक तरह
से जीवन की तह तक पहुँचने की पाठशाला
है। इसमें कौन-कौन प्रवेश कर रहे हैं? महान् संकल्पशील,
समीक्षण ध्यान साधना की गहराई में पैठने वाली साधक
आत्माएँ ही समीक्षण मे मन तत्पर होता है तभी ऐसा हो
सकता है और मन के समीक्षण से ही मन सधता है।

{762}

{763}

भीतरी चक्षु से संपूर्ण
लोक को देखा जा सकता
है, पर आज का व्यक्ति भीतर से
नही बाहरी दृष्टि से पुरुषार्थ
कर रहा है।

{764}

प्रभु ने पंच
महाव्रतधारी सुसाधु
को सार्वभौम और विश्व का
बताया है चाहे वह कही का
भी क्यों ने हो ?

{765}

वीतरागानुयायी
साधक की प्रत्येक क्रिया
सहजिक ध्यान
योग के साथ होती हे।

{766}

हम प्रभु महावीर के बहुत
करीव है। करीव ही नही हम
महावीर जेसे हैं। देह पिण्ड की दृष्टि
से महावीर का देह पिण्ड जुदा था और हमारा
जुदा है। पर गुणमय दिव्य आत्म स्वरूप की
दृष्टि से महावीर और हम
वहुत करीव है। एक समान हे।

{767}

हमारा यह मनुष्य जीवन,
भोगविलास के लिए नही हैं। आमोद- प्रमोद
एवं गुलछर्रे उडाने के लिए नही हे। अपितु
नेतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा के साथ आध्यात्मिक
उच्च आदर्शों की संसिद्धि के लिए हे।

{768}

आत्मोन्नति
की अनंत संभावनाएं इसी
मनुष्य जीवन में
रही हुई हं।

अपनी मन
कल्पित धारणा कहने वाले
व्यक्ति की अपूर्ण वाणी से
कभी भी पूर्ण शांति मिल
नहीं सकती।

{769}

मानव प्रदर्शन एवं
सस्ते यश कीर्ति के भावो
से ऊपर उठक गहरी
आत्मसाधना में जुड जाय
यही श्रेष्ठ होगा।

{770}

अन्तर में बैठा वह न्यायाधीश इतना
विचक्षण है कि आपके हर कार्य की सम्यक्ता असम्यक्ता का
निर्णय देता है। यह दूसरी बात है कि आप उसके निर्णय को न
सुन पायें, न समझ पायें। आप अगर निरन्तर अभ्यास के द्वारा
न्यायाधीश को सुनकर किसी भी कार्य में प्रवृत्ति करने लग गए
तो आप को कभी पश्चात्ताप नही करना पडेगा।

{772}

जिसको संस्कारित किया जाये याने कि संस्कार
दिये जॉय, वह ग्राहक उत्सुक होना चाहिये तथा संस्कार
देने वाला स्वयं भी संस्कृत होना चाहिये-तभी तो संस्कारों में आदान-प्रदान
सुव्यवस्थित हो सकता है। यों क्रिया का क्रम कभी टूटता नहीं और जैसा भी
क्रिया का रूप होगा वैसा उसका प्रभाव अवश्य फैलेगा अर्थात् तदनुसार
संस्कारों की रचना अवश्य होगी और वैसे संस्कार लिये-दिये भी जायेंगे।
अतः इस स्तर पर समस्या का बिन्दु यह पैदा होता है कि उन निर्मित
होने और ग्रहण किये जाने वाले संस्कारों का स्वरूप कैसा हैं ? इसी संदर्भ
में उन संस्कारों के 'सु' या 'कु' के स्वरूप पर विचार करना होगा तथा ऐसे
प्रयास सक्रिय बनाने होंगे कि संस्कारों का 'कु' रूप यदि है तो मिटता जाये
और 'सु' रूप अधिक से अधिक प्रखर बनता जाये। यह भी विचारणीय
स्थिति होगी कि संस्कारों का प्रभाव छोड़ने वाले व्यक्ति की स्वयं की
नैतिकता कार्य-प्रणाली कैसी हैं ? ये सब बिन्दु मिलकर ही
संस्कारों के गुण-दोषों की परख करा सकेंगे।

{773}

जैसे सूर्य की किरणों के आते ही अंधकार
छिन्न-भिन्नता को प्राप्त हो हट जाता है एवं
अंधकार परिपूर्ण गली में भी सूर्य की किरणों से गंध भी उड जाती
है, वैसे ही समीक्षण दृष्टि की किरणें मन के अंधकार को विछिन्न
करती हुई इन्द्रियों के विषय रूपी गदंगी को भी शुष्क बना देती है
और साधना का प्रारम्भ मन और इन्द्रियों से सम्पन्न होने लगता है
और अन्त में इस आध्यात्मिक क्षेत्र की दीर्घगामी यात्रा में
आत्मा ही आत्मा का वाहन होती है।

साधुमार्गी जैन श्रावक
गंगाशहर-भीनासर

{774}

{775}

भौतिकता से मनुष्य की कभी तृप्ति नही होती है। आत्मा को शान्त आध्यात्मिकता के क्षेत्र में विचरण करने से ही मिलती है इसलिये उस क्षेत्र में सम्पादित प्रगति को ही सच्ची प्रगति कहते हैं।

{776}

ध्यान साधना चारित्र का प्राण है, इसमें जो दत्तचित होता है उसके भीतर के नयन खुल जाते है।

{777}

अध्यापक चाहे कैसा भी उपदेश दे पर शिष्य उसे सही रूप में स्वीकारें तो उस उपदेश की सार्थकता है।

{778}

मैं खुले रूप से कहता हूँ कि सिद्धान्तों का जो धरातल नियत का लिया गया उस पर दृढ़तापूर्वक चलना चाहिये। दोहरे व्यवहार से दुनिया को धोखा देने की प्रवृत्ति नही रहनी चाहिये।

{779}

इस जीवन में यदि समीक्षण साधना का समुचित रूप से विकास हो जाये तो वह साधना- शक्ति भी नदी की ही तरह जीवन के दोनों तटों को हरा भरा एवं शोभास्पद वनाती हुई वीतरागता के समुद्र में अन्तर्निहित हो जाएगी।

{780}

सही संशोधन करने वाला ही योगी होता हे, मात्र गुफा में वठने वाला नही।

{781}

विचार की तरंगें मन की भूमिका पर उठ रही हे, पर उसे तरंगित करने वाली आत्मा ही है।

{782}

नीति पर चलते हुए उसको चारों ओर निराशा ही निराशा दिखाई देती है। सुख के बजाय पग-पग पर दुर्भाग्य सामने खड़ा दिखाई देता है।

समीक्षण ध्यान की साधना अन्तर्दर्शन
की साधना है। किन्तु इसका प्रतिफलन
उभयमुखी होता है। यह जीवन के अन्तर्बाह्य दोनों तटों का
स्पर्श कर आनन्द से भर देती है। नदी अपने दोनो तटो को
हरा भरा करती हुई चलती है। दोनों तटों की शोभा बढ़ाती
हुई ही वह समुद्र की ओर प्रगतिशील बनती है।

{783}

आज जब संसार मे कुसंस्कारों का अधिक
बोलबाला है तथा विषमता की विष बेल चारों ओर
फैलती ही जा रही है, तब ऐसे समय में सुसंस्कारों की महत्ता को समझना
और उसे व्यवहार में कार्यान्वित करने के आदर्श उपस्थित करना और भी
अधिक अनिवार्य है। वर्तमान विषमता में एक कुसंस्कार इतना बड़ा बन गया
है, लगता है कि उसी का असर सारे विश्व पर छाया हुआ है। यह कुसंस्कार
है धन और सत्ता को अपने लिये हथियाने का कुसंस्कार। चाहे नीति से हो या
अनीति से, सही उपायों से हो या पापकारी उपायों से अधिकतर व्यक्ति धन
और धन से सत्ता प्राप्त करने की होड़ में लगे हुए हैं। यह होड़ इतनी फैलती
जा रही है जिससे लगता है कि व्यक्ति ही नही, सामूहिक स्तर पर वर्ग,
समाज या राष्ट्र तक इस होड़ में अविचारपूर्वक लगे हुए हैं। इस का
कुपरिणाम यह है कि आर्थिक विषमता की खाई तो भयंकर रूप से गहरी और
चौड़ी हो ही रही है, किन्तु इससे भी अधिक जो बुरा हो रहा
है वह है कुसंस्कारों का फैलाव, विकारों की जकड और
नैतिक तथा आध्यात्मिक जीवन का सर्वनाश।

{784}

तब उसके जीवन में रिक्तता
प्रवेश करने लगती है। 'जो पृष्ठ–भूमि में
आध्यात्मिक अनुभव होता है, उससे उसका जीवन रिक्त बन
जाता है। जीवन की उस रिक्तता में वह भी पागलों की दौड़
में शामिल हो जाता है और अनीति की कालिमा से अपने
जीवन को रँगता हुआ आत्म–विस्मृत बन जाता है।

{785}

{786}

जब मनुष्य सन्तों के
समीप पहुँचता है, प्रभु की
प्रार्थना तथा भगवान की वाणी का
श्रवण करता है- उस वाणी में उसका रम
जमता है तो वह ज्ञान चर्चा भी करता है तथा
अन्तर्दर्शन की
तरफ भी प्रेरित होता है।

{787}

श्रवण तब
तक उपयोगी नही
होता है, जब तक वह
श्रवण विचार क्षेत्र में
पहुँचकर निर्णायक
स्थिति में परिणत
न बने।

{788}

समस्त
दुःख की जड
ममत्व भाव
में है।

{789}

आध्यात्मिक क्षेत्र मे जिनकी
गति है, वे आत्म-संकल्प के आधार
पर चलते हैं, जिसके साथ आत्म-विश्वास और
आत्म पुरुषार्थ जुडा हुआ होता है। योग का
सहयोग तो उनको मिलता है लेकिन
आध्यात्मिक प्रगति साधने वाले
योग पर ही आधारित नही रहते।

{790}

आत्मा अपने भावों को
प्रमुख बनाकर मन के अश्व पर
नियत्रंण कर ले ओर आरूढ हो जावे
तो प्रगति की व्याख्या का लेखा-जोखा कवेल
आत्मा की उन्नति से ही निकाला जायेगा ओर
ऐसा लेखा-जोखा ही प्रगति का यथार्थ लेखा-
जोखा होगा, आत्म-समीक्षण होगा।

{791}

जिसका
ममत्व भाव जितना संगीन
होगा उसका दुःख भी
उतना ही
संगीन होगा।

ममत्व भाव
की जड जब तक
मानव के अंतरंग जीवन में
फली हुई है तब तक
दुःख के अंकुर
प्रस्फुटित होते ही रहेंगे।

{792}

किसी को जीवन यात्रा की
प्रगति का लेखा-जोखा है तथा प्रगति
की सही-सही व्याख्या जाननी है तो उसे
समीक्षित मन के साथ अपने अन्तःकरण की
निर्मलता पर दृष्टिपात करना होगा।
जितनी अधिक निर्मलता होगी, उतनी
ही अधिक प्रगति कहलायगी।

{793}

आध्यात्मिक क्षेत्र ही जीवन में
महान् उपलब्धियों का साधन होता है,
इसलिये भोतिकता की असलियत को जान
लेने वालों की निगाहें इस आध्यात्मिक क्षेत्र
की ओर ही मुडती हैं। लेकिन जिनकी निगाहें भोतिकता की
ओर लगी हुई हों, वे आसानी से आध्यात्मिकता के महत्त्व
को कैसे आत्मासात् कर सकते हैं ?

{794}

भगवान् महावीर ने जीवन के अपूर्व रहस्यों एवं
सत्यों का उद्घाटन किया हे। स्वानुभाव से उन्होंने आत्म प्रेरणा का मर्म
समझा और संसार के समस्त प्राणियों को आत्म विकास का मार्ग
बताया। उनका कथन है कि-

जे अज्झत्थं जाणई, से बहिया जाणई।
जे बहिया जाणई, से अज्झत्थं जाणई।
एवं तुलमन्नेसिं। १-१-४ आचारांग सूत्र

अर्थात जो अपने अन्दर अपने सुख दुःख की
अनुभूति को जानता है, वह बाहर दूसरों के सुख-दुःख
की अनुभूति को भी जानता है। जो बाहर को जानता है वह अन्दर को
भी जानता है। इस प्रकार दोनों को -स्व
तथा पर को एक तुला पर रखना चाहिये।

{795}

आज के प्रगतिशील तर्क देने वालों को मैं
पूछता हूँ कि भगवान् महावीर ने जामालि से यह
क्यों नही कहा कि तुम्हारे और मेरे कहने में जो फर्क हैं, मैं कुछ
पीछे सरकूं तथा तुम कुछ आगे आओ ताकि अपने समझौता
करलें ? ऐसा नही करने पर भगवान् को संकुचित विचारों वाले या
प्रतिगामी कह सकेंगे क्या? यह सोचने की बात है कि वास्तव में
प्रगतिशीलता क्या होती है और प्रतिगामिता क्या होती हैं?

{796}

{797}

मस्तिष्क के तनाव को मिटाने
के लिये आम आदमी विविध प्रकार
के उपाय करता है, लेकिन उन से तनावों का
मिटना तो दूर रहा, वे और अधिक बढाते जा
रहे हैं, मानसिक तनावों को मिटाने की एक
अचूक साधना है-समता साधना।

{798}

जीवन के
महत्व को समझ कर
आध्यात्मिक जीवन की
उत्क्रांति में प्रत्येक
मानव को सन्नद्ध
हो जाना चाहिए।

{799}

सद्-विनियम
का सूत्र यदि मानव अपने
जीवन में उतार लें तो
उसका जीवन भव्य एवं
महान् बन सकता है।

{800}

विश्व गत सभी समस्याओं
का एकमात्र समाधान है-समता।
अगर सारा मानव समाज समता के
धरातल पर सोचने, समझने एवं व्यवहार करने
लग जाये तो किसी भी समस्या का हल
कठिन नही हे।

{801}

मस्तिष्क की पवित्रता शुद्धि
शरीर के आधार पर टिकी हुई हे।
शरीर के भीतर वात,पित्त, कफ का वेपम्य हे तो
उससे रोगों का प्रादुर्भाव सम्भव हे ओर यदि
समता हे तो शरीर स्वस्थ एवं मस्तिष्क भी
स्वस्थ रहता हे। इसलिए हर क्षेत्र
में समता की नितांत आवश्यकता हे।

{802}

श्रोतेन्द्रिया
का उपयोग वीतराग वाणी
श्रवण करने की ओर हो।

{803}

चक्षुइन्द्रिय
का उपयोग पवित्र
आत्माओं के दर्शन की
ओर हो।

{804}

स्वार्थ का कीचड मानव ने
अपने आत्म-वसन पर लगा रखा
है। उस कीचड को साफ करने के लिये उसे
समता सरोवर के पास पहुंचना चाहिए।
समता सरोवर में समता का निर्मल जल
आत्म-वसन को स्वच्छ, सुन्दर बना डालेगा।

जो व्यक्ति अनीति पर आधारित
धूर्तता का जीवन जीते हैं, वे सामान्य रूप से शान्ति-प्रिय समाज
में विविध प्रकार से समस्याएँ खडी कर देते हैं। धनार्जन और
यशोऽर्जन के क्षेत्रों में ऐसी फर्जी कार्यवाहियों से सामान्य जन के
लिये कई तरह की समस्याएँ पैदा हो जाती हैं, वे ही इह
लोक की लोकिक समस्याएँ हैं।

{805}

समत्व के महत्व को वही ऑक
सकता है। जो स्वयं की आत्मा का अवलोकन
करता है, दूसरों के आत्म-भावों की अनुभूति लेता
है तथा अपने हितों को दूसरों के हितों से जोड देता है। वस्तुतः जो ऐसा
करता है, वह धीरे-धीरे अपने हितों को भी भूल जाता है तथा स्वहित को
परहित में समाविष्ट कर लेता है। अपने आचरण को इस रूप में वही
ढाल सकता है जो सुसंस्कार, सद्व्यवहार एवं सहकार की त्रिवेणी प्रवाहित
कर सकता हो ऐसी त्रिवेणी जो उसके विकारों को भी परिमार्जित कर दे
तथा जो भी प्राणी उसके शीतल जल का स्पर्श करें, उसके
जीवन को भी रूपान्तरित कर दें।

{806}

एक व्यक्ति धर्म करनी का मूल्यांकन
करता है, लेकिन उसमें मूल्य की कामना
नही करता है। धर्म करनी का मूल्यांकन करने वाला जब वन्दन
करने की स्थिति में आता है तो सोचता है कि मेरी धर्म करनी का
फल हो तो मुझे अमुक वैभव मिले, सन्तान मिले या अन्य प्राप्ति
हो। ऐसी फल कामना उस धर्म करनी को बेचने के समान होती
है। ऐसी फल-कामना बंधनकारी होती है।

{807}

{808}

जिसका मानसिक
बल मजबूत नही है वह
कभी तपस्चरण नही कर सकता।
मानसिक शक्ति के आधार पर
ही तप का आराधक
बन सकता है।

{909}

घ्राणेन्द्रिय का
उपयोग राग-द्वेष
को बढाने वाले न होकर
गंध के प्रति समत्व भाव को
बढाने की
ओर हो।

{810}

जिह्वन्द्रिय का
उपयोग निःस्वार्थ भाव से
गुणीजनों के गुणों का
वर्णन करने की ओर हो।

{811}

समता के छोटे-छोटे प्रयोग
जब मानव अपने जीवन के धरातल
पर करने लग जाता हे, तो एक दिन ऐसा भी
आता है कि वह सम्पूर्ण समता को आत्मसात्
कर लेता है। *"बूंद-बूंद से सागर भरता है"*
वाली कहावत उसके लिये
चरितार्थ हो जाती है।

{812}

सच्चे शारीरिक चिकित्सक
तो आज के जमाने में महंगे एवं
कठिनाई से प्राप्त होते हैं। पर समता चिकित्सा
करने वाले चिकित्सकों को प्राप्त करके जागृत
होकर इस प्रणाली को अपना कर
कर्म-रोग से मुक्त
होने का प्रयास कीजिए।

{813}

स्पशेन्द्रिय का
उपयोग संयम में पराक्रम
करने तथा दुःखी, दर्दी,
असहाय
की सेवा करने की
ओर हो।

{814}

अनादि अनन्त
काल से संचित
कर्मों को क्षण भर में
भस्मसात् करने का एटम
बम्ब है -
"तपश्चरण"।

{815}

जिसके पास कुछ नहीं है-
वह आवश्यकता के मारे कुछ पाना चाहता है,
लेकिन जिसके पास काफी कुछ है, वह भी और
अधिक पा लेने के लिये और पाते रहने के
लिये पागल बना हुआ है।

परमात्मा की प्रार्थना का जो प्रयोजन
वताया गया है वह यही हैं कि इसमें सुख
और सम्पत्ति मिलेंगी, लेकिन वह लोकिक नही, अलोकिक होगी ;
जिसकी सहायता से भवसागर में पुल वन जायेगा यानि कि
परमात्म-स्वरूप की दिशा में प्रयण हो जायेगा एवं शान्ति का
अमृत पीने को मिलेगा। प्रार्थना का प्रयोजन
कभी लोकिक
वांछा नही होना चाहिये।

{816}

चारित्र्य स्व को पर से जोडता हे एवं
पारस्परिक सम्वन्धों में समरसता लाता हे- उसी कारण
जो अपने सदाचार से- अपनी नैतिकता से सामाजिक सुप्रभावों की स्थापना
करता है, उसके चारित्र्य या आचरण की सामाजिक सराहना होती है। ऐसे
व्यक्तित्व को चारित्र्यशील मान कर उसका समादर किया जाता है। दूसरी
ओर अन्य प्रकार से कोई व्यक्ति कितना ही शक्तिशाली हो किन्तु यदि
उसका चारित्र्य बिगडा हुआ है तो उसकी भर्त्सना ही होगी चाहे वह भय या
आतंक के कारण भीतर-ही-भीतर हो । चारित्र्यहीनता को इस देश की
सभ्यता मे सम्मान या सदिच्छा का कोई स्थान नही है। तभी तो कहा गया
है कि यदि आपने धन गंवा दिया है तो समझिये कि कुछ नही गंवाया,
यदि स्वास्थ्य गंवा दिया है तो कुछ गंवाया है लेकिन यदि चारित्र्य गंवा
दिया है तो समझिये कि सब कुछ गंवा दिया है।

{817}

जो परमात्मा को नमस्कार किया
जाता है- वह व्यर्थ में जाने वाला नही हैं।
यह नमस्कार सुख-सम्पत्ति का हेतु हैं। सुख-सम्पत्ति का हेतु क्यों
हैं- इसे कुछ गहराई से समझना होगा। जब भी आप परमात्मा
को, गुणी जनों को, सन्त-पुरुषों आदि को नमस्कार करने
की स्थिति में होंगे।

{818}

{819}

साधु एवं श्रावक की मंजिल
एक है, पर चलने के रास्ते भिन्न-
भिन्न है। एक महाव्रतों को सडक पर चल
रहा है तो दूसरा अणुव्रतो की। एक हवाई जहाज
में जा रहा है, तो दूसरा बेल-गाडी में। पर पहुंचना
दोनों को एक जगह है। कौन कब पहुंचता है,
यह अपने-अपने सद् पुरुषार्थ पर निर्भर है।

{820}

अभ्यास से
सब कुछ साध्य हो
सकता है।

{821}

अगर अन्तर
चेतना का विकास
हो जाय तो अन्य सभी
तरह का विकास
होते कोई देर
न लगेगी।

{822}

सांवत्सरिक एकता के
लिए आवश्यकता है, अपनी-अपनी
पकड छोडने की, जब तक
अपनी-अपनी पकड रहेगी, एकता
आ नही सकती।

{823}

संवत्सरी पर्व का
एकमात्र दिव्य संदेश है-
उपशम ! स्वयं शांत बनिये
और दूसरों को भी शांति
दीजिये। मैत्री भाव को
स्थापित करिये।

{824}

दृश्य जगत्
में दिखने वाले सभी
पदार्थ भौतिक हैं। और
निर्माणकर्ता अभौतिक
आत्मा ही है।

{825}

जो दूसरों
को ठगता है, वह स्वयं
पहले ठगा
जाता है।

{826}

जो तत्वज्ञानी नही
है, वे अपने आचार और
व्यवहार को अन्य स्थल पर
समर्पित करके चलते हैं, जहां समर्पित
करना चाहिए वहां
नही करते है।

परमात्मा की प्रार्थना का जो प्रयोजन
बताया गया हे वह यही हैं कि इसमें सुख
और सम्पत्ति मिलेंगी, लेकिन वह लोकिक नही, अलोकिक होगी ;
जिसकी सहायता से भवसागर में पुल वन जायेगा यानि कि
परमात्म-स्वरूप की दिशा में प्रयण हो जायेगा एवं शान्ति का
अमृत पीने को मिलेगा। प्रार्थना का प्रयोजन
कभी लोकिक
वांछा नही होना चाहिये।

{816}

चारित्र्य स्व को पर से जोडता हे एवं
पारस्परिक सम्वन्धों में समरसता लाता हे- उसी कारण
जो अपने सदाचार से- अपनी नैतिकता से सामाजिक सुप्रभावों की स्थापना करता है, उसके चारित्र्य या आचरण की सामाजिक सराहना होती है। ऐसे व्यक्तित्व को चारित्र्यशील मान कर उसका समादर किया जाता है। दूसरी ओर अन्य प्रकार से कोई व्यक्ति कितना ही शक्तिशाली हो किन्तु यदि उसका चारित्र्य बिगडा हुआ है तो उसकी भर्त्सना ही होगी चाहे वह भय या आतंक के कारण भीतर-ही-भीतर हो । चारित्र्यहीनता को इस देश की सभ्यता मे सम्मान या सदिच्छा का कोई स्थान नही है। तभी तो कहा गया है कि यदि आपने धन गंवा दिया है तो समझिये कि कुछ नहीं गंवाया, यदि स्वास्थ्य गंवा दिया है तो कुछ गंवाया है लेकिन यदि चारित्र्य गंवा दिया है तो समझिये कि सब कुछ गंवा दिया है।

{817}

जो परमात्मा को नमस्कार किया
जाता है- वह व्यर्थ में जाने वाला नही हैं।
यह नमस्कार सुख-सम्पत्ति का हेतु हैं। सुख-सम्पत्ति का हेतु क्यों हैं- इसे कुछ गहराई से समझना होगा। जब भी आप परमात्मा को, गुणी जनों को, सन्त-पुरुषों आदि को नमस्कार करने की स्थिति में होंगे।

{818}

{819}

साधु एवं श्रावक की मंजिल एक है, पर चलने के रास्ते भिन्न-भिन्न है। एक महाव्रतों को सडक पर चल रहा है तो दूसरा अणुव्रतो की। एक हवाई जहाज में जा रहा है, तो दूसरा बेल-गाडी मे। पर पहुंचना दोनो को एक जगह है। कौन कब पहुंचता है, यह अपने-अपने सद् पुरुषार्थ पर निर्भर है।

{820}

अभ्यास से सब कुछ साध्य हो सकता है।

{821}

अगर अन्तर चेतना का विकास हो जाय तो अन्य सभी तरह का विकास होते कोई देर न लगेगी।

{822}

सांवत्सरिक एकता के लिए आवश्यकता है, अपनी-अपनी पकड छोडने की, जब तक अपनी-अपनी पकड रहेगी, एकता आ नही सकती।

{823}

संवत्सरी पर्व का एकमात्र दिव्य संदेश है- उपशम ! स्वयं शांत बनिये और दूसरों को भी शांति दीजिये। मैत्री भाव को स्थापित करिये।

{824}

दृश्य जगत् में दिखने वाले सभी पदार्थ भौतिक हैं। और निर्माणकर्ता अभौतिक आत्मा ही है।

{825}

जो दूसरों को ठगता है, वह स्वयं पहले ठगा जाता है।

{826}

जो तत्वज्ञानी नही है, वे अपने आचार और व्यवहार को अन्य स्थल पर समर्पित करके चलते हैं, जहां समर्पित करना चाहिए वहां नही करते हैं।

मन की वृत्तियॉ निर्मल होती
है तो वुद्धि में भी सदाशयता का प्रवेश
होता है एवं वुद्धि व मन की सहायता से जीवन
की समस्त प्रवृत्तियॉ स्व तथा पर के कल्याण में नियोजित हो
जाती हैं। इस रूप में अन्तराय
कर्म का क्षयोपशम होता हे तथा
अन्य कर्म भी टूटते जाते हैं।

{827}

अन्धानुकरण आज सामाजिक
दुर्व्यवस्था तथा कलंक का कारण वनता
जा रहा है। पश्चिमी सभ्यता की वुराइयों को तो
अपने जीवन में-रहन सहन के स्थान दे दिया, किन्तु न
तो पश्चिमी सभ्यता की अच्छाइयों को अपना सके तथा न अपनी सभ्यता
की श्रेष्ठताओं का ही निर्वाह कर पाये। नतीजा यह हुआ है कि आज की
जीवन प्रणाली अधिकांशतः गुणहीन और दिशाहीन हो गई है। ऐसी ही
दुर्दशा हुई है व्यक्ति के चारित्र्य की कि जो बिगडा है तो इस कदर कि
मानदण्ड ही बदले जाने लगे है। दुष्चरित्र्य की काली छाया में
ही एक गंभीर महापाप पूर्ण बुराई जो फैली है, वह
है गर्भपात की बुराई, जो चारित्र्य सम्बन्धी
घातक दोषों की अन्तिम परिणति के
रूप में समाने आती है।

{828}

हाथ-चक्की चलने से जिस रूप
में घर की सुन्दर सेवा बन पडती है,
उसी रूप में मन की चक्की में सद्‌विचारों और सद्‌गुणों के
दाने पडते रहें तो अन्तर्दर्शन का अभ्यास पक्का हो जाता है
और जीवन को सद्‌गुणी
बनाने की चेष्टा सफल बनती है।

{829}

{830}

मन की चक्की चलती है।
अगर उसको खाली चलाते हो तो
मन की शक्ति का अपव्यय होता है- इसीलिये
उसमे सन्तो के उपदेश और सद्‌गुणो
के दाने डालते रहना चाहिये ताकि उनका मंथन
होता रहे। मन की चक्की में जब उनका सार
निकल जाता है तो वे जीवन मे रम जाते हैं।

{831}

ईर्ष्या,
राग-द्वेष
आदि परिणतियां
ही स्वस्थ मानव को
अस्वस्थ बना
देती है।

{832}

बंधन से परे
हटने का एक मात्र उपाय
है -त्याग प्रत्याख्यान।

{833}

जितने समय तक यहां
सुनें उतने समय तक स्वयं के
विचारों को गौण करके जो बातें कही जाती हैं
उनको पूरे ध्यान से सुनें तथा अपने ध्यान से
उन बातों का प्रयोगात्मक निष्कर्ष निकालें।
कठिनाई आवे तो प्रश्न पूछकर हल करें।

{834}

जिस किसी आत्मा ने
सम्यग्-ज्ञान के प्रकाश में अपने
मूल स्वरूप को पहिचाना है, अपनी शक्तियों
का समीक्षण किया है तथा उन्हें प्रकट करने
का संकल्प बनाया है एवं बाहर और भीतर की पूर्ण
एकरूपता के साथ उस दिशा में
निरन्तर चला है तो वह अवश्य
सफल भी हुआ है।

{835}

वास्तविक विद्वान
वही है जो
आत्मिक गुणों की
ज्योति को जलाते हैं।

{836}

राग-द्वेष
की वृत्तियों का
शमन कर आत्मायि हो
जाना ही सच्ची
समाधि है।

{837}

लक्ष्य जब सामने रहता है तो
उसके अनुरूप वर्तमान जीवन को ढालने
के प्रति एकाग्रता का निर्माण होता है। यह जो
एकाग्रता है, वही सम्पूर्ण योगों की एक रूपता
पर बल देती है और यह एक रूपता जितनी
घनिष्ठ बनती है, जीवन की गति लक्ष्य के
प्रति उतनी ही केन्द्रित बन जाती है।

जव सम्पूर्ण एकाग्रता से,
समीक्षण दृष्टि से कोई लक्ष्य की तरफ
देखता है तो उसके मन, वचन, काया के
सम्पूर्ण योग-व्यापार की एकरूपता वन जाती
है। ऐसी वाहर और भीतर की सम्पूर्ण
एक रूपता के आधार पर ही सफल
लक्ष्य-वेध हो सकता है।

{838}

सौन्दर्य के संदर्भ में आत्मा एवं
शरीर के साथ प्राथमिक परिस्थितयॉ प्रायः
समान होती है। जैसे शरीर का सौन्दर्य जो जन्म से
मिलता है वह कर्मानुसार मिलता है, उसी प्रकार पूर्वकृत कर्मानुसार ही
आत्मिक सौन्दर्य अर्थात् आत्मीय सद्गुणों की प्राप्ति होती है। इसी कारण
कई व्यक्ति जन्म से शारीरिक सौन्दर्य से युक्त होते हैं और कई सामान्य
वर्ण व नाक नक्श के तो कई काले व कुरूप भी होते है। तद्नुसार कई
व्यक्तियों का स्वभाव जन्म से ही मधुर, करूणामय,
क्षमाशील आदि होता है तो कई समान्य व अप्राभाविक
स्वभाव वाले होते है जबकि कइयों का स्वभाव
क्रोधी, क्लेशी एवं दुःखदायक होता है।

{839}

अपने योग को साध लेने
वाले श्रेष्ठ पुरुष विघ्नों से संघर्ष करके
भी अपने अभीष्ट स्थान तक पहुँचने का सफल प्रयत्न
करते हैं। विघ्नों की ऑधियों और बाधाओं के तूफानों से वे
कभी भी अपने श्रेय मार्ग का परित्याग नही करते हैं,
बल्कि दृढता पूर्वक
अपने मार्ग पर चलते हैं।

{840}

{841}

प्रमत्त अवस्था में अनुशासन आत्मा का नही रहता, बल्कि इन्द्रियाँ आत्मा को अपने शासन में ले लेती हैं। शरीर का प्रत्येक भाग या उसकी प्रत्येक इन्द्रिय आत्म-प्रदेशों से संयुक्त होती है, लेकिन आत्म-शक्ति के ऊपर ये इन्द्रियाँ तथा इनकी लोलुपता हावी हो जाती है।

{842}

अनुभूति का ज्ञान अनुभूति से मिलता है आलस्य एवं प्रमाद को छोड अवधानता से काम करना चाहिए।

{843}

शरीर का ममत्व छोड़ना कोई सहज नही।

{844}

जो व्यक्ति अपनी बुद्धि का भी कुशल प्रयोग करते हैं तथा अनुभव के क्षेत्र में उतरते हैं, वे आत्म-शक्ति की वास्तविक अनुभूति प्राप्त करते हैं। उन्हें तथ्य रूप अनुभूति के समीक्षण से सत्य का साक्षात्कार होता है।

{845}

एकान्तवादिता हठ के आधार पर चलती है तथा हठ से मिथ्या मान्यताओं का ही पोषण होता है। इसलिये किसी भी, और खास तौर से वैचारिक अथवा दार्शनिक, समस्या का समाधान एकान्तवाद से नही, समन्वय से प्राप्त होता है।

{846}

साधना होती है, आत्म समाधि के लिए, लब्धियों की प्राप्ति के लिए नही।

{847}

जहां विद्वता सिर्फ कलात्मक हो, वह वास्तविक विद्वता नही है।

{848}

जिस पुरुष का कहना है कि भीतर ही सब कुछ है और बाहर से कुछ भी ग्रहण नही किया जा सकता है, वह पुरुष बाहर से अपने व्यवहार में कोई परिवर्तन नही लाता है। वह अपने बाहर के व्यवहार को यथावत् रखता है।

भिन्न-भिन्न दृश्टिकोणों के बीच में रहे
हुए सत्यांशों को परखना-पहिचानना तथा उनको
समन्वय के सूत्र में पिरोकर जीवन के विचार व
व्यवहार में उतारना- यह सद्विवेकी पुरुष ही कर सकता है। इसमें
समन्वय का स्वरूप समझौतावादी नही होना चाहिये, क्योंकि
समझौते का अर्थ पीछे पग धरना भी होता है। यह समन्वय पूर्णतः
सैद्धान्तिक तथा सत्यानुगामी होना चाहिये। ऐसा समन्वय ही
सच्ची अनुभूति का वाहक होता है।

{849}

भारतीय संस्कृति में जीवन के चार
लक्ष्य निर्धारित किये गये हैं- धर्म, अर्थ, काम
और मोक्ष। सांसारिकता की दृष्टि से अर्थ और काम
भी लक्ष्य कहे गये हैं, क्योंकि संसार के संचालन से अर्थ (धन) का भी
उपयोग है तो काम (मिथुन) का भी उपयोग है। किन्तु संस्कारित
जीवन धनियों ने इन दोनों के पहिले धर्म को रखा है। अर्थ धर्म से
उपार्जित किया जाय और धर्म से ही उसका उपभोग हो। इसी प्रकार
काम का उद्देश्य वंश या संसार को चलाने मात्र हो, वह भोगों की
आसक्ति में न बदल जाय। काम भी
धर्म की छायामें चले। इसी के अनुरूप मोक्ष
के लक्ष्य की पूर्ति सहज मानी गई है।

{850}

अनुभव यह बताता है कि
आत्मा सम्पूर्ण शरीर मे समस्त अवयवों में
यथास्थान व्याप्त होती है। अँगुली के ऊपरी हिस्से
में भी आत्म-प्रदेश रहे हुए हैं, इसीलिये अँगुली अगर आग से छू
जायेगी तो उसकी वेदना मात्र अँगुली को नही, सारे शरीर को
होगी। यह नही होता कि वेदना अँगुली पर हो रही हो और
मस्तिष्क में शान्ति बनी रहें।

{851}

{852}

आकाश का जैसे
कही ओर छोर नही वैसे
ही वीतराग देव के ज्ञान का भी
ओर छोर नही, वह सीमित
नहीं, सीमातीत है।

{853}

आनन्नद रस
प्रवाहिनी वीतराग वाणी
का महत्व यदि जानना है
तो श्रुति को अनुभूति का
रूप दें।

{854}

यदि मृत्यु
से बचना है तो सबसे
पहले अन्य को
मारना छोडो।

{855}

जो अठारह पापों से
अपने दिल को साफ कर लेता
है, उसी का जीवन ऊंचा उठता हैं,
और वही वीतराग देव का
सच्चा अनुयायी है।

{856}

जड की परिवर्तनशील
वृति के साथ जीवन के संस्कार
भी परिवर्तित होते रहें,
तो स्वभाव की अभिव्यक्ति
कभी नही हो सकती।

{857}

मोह, ममत्व
अहं के किले को
तोडने का उपाय है-तप।
उसके माध्यम से भीतर में
प्रवेश कीजिए।

{858}

हिंसक कार्यो
से जितनी अधिक निवृति
होगी, उतनी ही अधिक
जीवन में शांति आएगी।

{859}

आप भले मुझे मारवाडी
साधु समझे, राजस्थानी समझें
या अमुक सम्प्रदाय विशेष से आबद्ध समझें पर
मैं तो आप सबको अपनी आत्मा के तुल्य
समझता हूँ।

प्रत्येक व्यक्ति का अनुभव
यह है' कि शरीर के जितने अवयव
व अंगोपांग हैं, उन सबमें आत्म-प्रदेशों का निवास
होता है। यह बात ओर है कि आत्मा अपना संचालन
एक केन्द्र से करती हे या अलग-अलग स्थानों
से करती है। लेकिन संचालन की सूचना
सारे शरीर को मिलती हे।

{860}

सौन्दर्य और सुरूप किसे कहें- इस प्रश्न का
उत्तर इस सत्य में खोजें कि सोन्दर्य नाशवान नहीं,
शाश्वत होता है। जो नष्ट हो जाये, वह भला सोन्दर्य ही क्या? और यह आप
भली-भॉति जानते हैं कि शरीर की सुन्दरता एक न एक दिन विगडती है और
नष्ट हो जाती है, फिर मात्र शरीर की सुन्दरता को 'सोन्दर्य' के नाम से
अलंकृत ही कैसे करें? वही सौन्दर्य शाश्वत होता है जो आत्मा का होता
है-आत्मा के उत्कृष्ट भावों का होता है। वैसा सौन्दर्य तो क्या, वैसे सौन्दर्य का
प्रभाव भी अमिट होता है। आपके जीवन में ऐसी एकाध धटना अवश्य घटी
होगी जिसमें आपका ऐसे किसी विशाल हृदय पुरुष से मधुर सम्पर्क हुआ हो
और उसके आत्मिक सौन्दर्य की याद से आज भी आपका हृदय अभिभूत हो
जाता है। किसी न किसी रूप में सभी के जीवन में शाश्वत सौन्दर्य की
अनुभूति के क्षण आते हैं किन्तु यह दूसरी बात है कि कौन उन क्षणों को सॅजो
कर स्वयं भी आत्मिक सौन्दर्य को प्राप्त करने की साधना में जुट जाता है
और कोई उनके महत्व को भुला कर फिर बाहरी
सुन्दरता के भ्रमजाल में फॅस जाता है।

{861}

अनुभूति और तर्क में फर्क होता है ।
तर्क सही भी हो सकता है और गलत भी।
तर्क से पीछे भी हटा जा सकता है और आगे भी बढा जा
सकता है। लेकिन अनुभूति सच्चे अनुभव के साथ भीतर की
शक्ति को लिये हुए होती
है, इसलिये गलत नही होती।

{862}

{863}

विचारों में शुद्धता होगी तो
व्यवहार कभी भी अपवित्र नही होगा
यह एक स्वाभाविक प्रक्रिया होती है। इसका
कारण है कि अन्दर का प्रवाह ही बाहर प्रकट
होता है। अन्दर कुछ और हो और बाहर कुछ
और दिखाई दे-
ऐसी वस्तुस्थिति नही होती है।

{864}

विश्व की
समस्त आत्माओं
में अनंत शक्ति छुपी हुई
है, आवश्यकता
है उसे अनावृत
करने की।

{865}

जहां आत्मा
जागृत है, वहां
अन्य बल चल
नही सकता।

{866}

शरीर को चलाने मात्र के
लिए या परिवार के लिये जितना
चाहिए उतना ही अर्जित करे और बाहर को
भीतर से जोड कर रखे तो भीतर के श्रेष्ठ
लक्ष्य की तरफ उस आत्मा
की गति हो सकती है।

{867}

पंडित वही है जो एक-एक
क्षण को जानता है याने कि एक
क्षण को भी महत्वपूर्ण मानता है और उसको
आत्म-कल्याण के पवित्र कार्य में नियोजित
करता है। जीवन और आत्म
समीक्षण में लगाता है।
वह वीतराग देव की उद्घोषणा है।

{868}

अन्तर की
सफाई किये
बिना बाहरी सफाई
निरर्थक होगी।

वर्तमान
समय मानव जीवन
के लिए स्वर्णिम अवसर
है।

{870}

आध्यात्मिक क्षेत्र में प्रगति
करने के लिये तो इस बुद्धि का
प्रयोग आन्तरिकता से ओतप्रोत होना चाहिये।
जहाँ सिर्फ मस्तिष्क की कसरत होती है, वहाँ
जीवन की आन्तरिक अनुभूति का अभाव ही
रहता है।

{871}

नल छोटा होता है, लेकिन वह टेंक से
जुडा हुआ होता है और उससे टेंक का ही पानी
मिलता है। नल में आने पर भी वह पानी शुद्ध ही रहेगा, क्योंकि
टैंक और नल के पानी में भिन्नता नहीं रहती है। जैसा टैंक और
नल का सम्बन्ध है, वैसा ही आत्मा एवं शरीर का सम्बन्ध है। इस
शरीर के सभी अवयवों में आत्मा व्याप्त है। यह नही है कि
वह किसी एक अवयव में ही रही हुई हो।

{872}

सदाचरण एवं सच्चारित्र्य की शील रक्षा भी
करता है तो उनकी उत्कृष्टता को प्रेरित भी करता है।
शील चारित्र्यशील व्यक्तिव्य का प्राण होता है। वस्तुतः शील न
तो कोई विशिष्ट साहै और न कोई विशिष्ट उपलब्धि। जीवन की सभी
वृत्ति–प्रवृत्तियों तथा गतिविधियों में जो शुभता की रक्षक वृत्ति है, वही शील वृत्ति
है। शील की साधना अहर्निश की साधना है–मन, वचन एवं काया के प्रत्येक
योग व्यापार की साधना है। शील की साधना प्रतिफल चलती है और प्रतिफल
के आचार विचार में उसकी झलक देखने को मिल सकती है। शील की
उपलब्धि भी कोई पृथक उपलब्धि नही होती है। वह जब स्वभाव में ढल जाता
है तो मन, वाणी एवं कर्म के प्रत्येक अंश में वह समा जाता है। इस दृष्टि से
शल की साधना दैनदिन की या कि सम्पूर्ण जीवन व्यवहार की साधना है जो
श्रेष्ठतम मर्यादाओं में प्रतिफलित होती है।

{873}

भीतर और बाहर का सम्बन्ध ऐसा होता
है कि वह अँधेरी रात में भी शरीर की सावधानी
रख कर चलता है और किसी तरह की दुर्घटना नहीं घटती है।
यह विवेक की जो शक्ति होती है, वह समीक्षण की शक्ति होती है
और भीतर जो कुछ होता है, वही बाहर के व्यवहार में प्रकट होता
है। यह आत्मा यदि भीतर पवित्र है तो वही पवित्रता बाहर प्रकट
होगी, जैसे कि टैंक का ही पानी नल के जरि से बाहर आता है

{874}

{875}

जन्म के समय में जो
स्वाभाविक भाव थे, वे जन्मजात
भाव थे। उनमें निश्छलता थी। लेकिन बच्चा
ज्यों-ज्यों समझ पकडता जाता है तो अपने चारों
ओर के वातावरण से, शिक्षण से और आचरण से
नये-नये भावों को ग्रहण करता रहता है।
ये अर्जित भाव कहलाते है।

{876}

आत्मा में
जब समर्पणा होती है तो
परमात्मा का शुद्ध स्वरूप
स्वयं में दिखाई
देने लगता है।

{877}

ध्यान, योगा
साधना यह आत्मा
के नवनीत को पाने
की साधना है। फूलों के
मकरन्द की
साधना है।

{878}

कषायें घटेंगी तभी क्रियाएँ
आध्यात्मिक स्वरूप ग्रहण कर
सकेंगी और उन आध्यात्मिक क्रियाओं
के द्वारा ही आत्मानुभूति का सहज
अवसर उपस्थिति हो सकेगा।

{879}

बाहरी दण्ड की
यवस्था भी इसी कारण होती है
कि व्यक्ति स्वयं के दण्ड को सही
विधि से स्वयं नही ले पाता है। इसलिये
व्यवस्था की दृष्टि से उसको
दण्ड दिया जाता है।

{880}

परमात्म रूप
की अभिव्यक्ति ही
इस मनुष्य जीवन की
अंतिम साधना है।

{881}

जहां मौलिक
मर्यादा का अनुपालन
नही होता है,
वहां संयमी जीवन टिक
नही सकता।

{882}

आप सोचेंग कि दंड तो
सरकार के नियन्त्रण में है,
न्यायाधीश निर्णय सुनाता है, अपराधी को दण्ड
भुगताया जाता है। यह दण्ड स्थूल दृष्टि का
दण्ड होता है-बाह्य व्यवस्था का दण्ड है।

जिन भावों की पुनः पुनः आवृत्ति मन
में होती है, उनकी भी वह ठीक से समीक्षण
नही करता है। वह यही नही देखता या देखना नही जानता कि
कौन् से भाव असली और निजत्व की जानकारी कराने वाले हं
तथा कौन से भाव नकली होकर स्वयं को भी छलने वाले हं?
यह देखना ओर जानना तथा आत्म-भावों का समीक्षण कर
उन्हें अपनाना-भी क्षण को साधना है।

{883}

शास्त्रों का यह अमृत वाक्य हे-
''विणयं धमस्स मूल''-अर्थात् विनय
धर्म का मूल है। मूल से ही वृक्ष की उत्त्पत्ति हेती
है तथा स्थिति रहती है। यदि मूल ही कमजोर हो तो
वह वृक्ष भलीभांति पल्लवित, पुष्पित ओर फलित नहीं होता
है। जब निवय को धर्म का मूल माना गया है तो निश्चय ही विनय का गुण
सर्वाधिक महत्वपूर्ण हो जाता है। विनय का
मूल जमेगा तभी धर्म का वृक्ष हराभरा हो सकेगा और
हराभरा रह सकेगा। विनय नही तो धर्म कहॉ से आएगा?
धर्म के क्षेत्र में प्रवेश पाने के लिए विनय का द्वारा खुलना अनिवार्य है। धर्म
की वास्तविकता विनय के अभाव में प्रकट
ही नही हो सकती है-उनका विकसित होना और निखरना तो दूर की बात
है। विनय की बयार बहेगी, तभी धर्म की
कली खिलेगी और धर्मी का मन महकेगा।

{884}

जब राग भाव किन्ही पदार्थो या व्यक्तियों
के प्रति गहरा बनता है तो उसको अपने ही
लिये सुरक्षित रखने की भावना बलवती बनती जाती
है। जो भी उस सुरक्षा को तोडने की कोशिश करता है, या उनमें
बाधक बनता है, उसके विरूद्ध द्वेष भाव की उत्पत्ति होती है। राग
की प्रतिक्रिया के रूप में द्वेष पैदा होता है। इस राग-द्वेष की
परिणति में अन्य कषाय भाव पैदा होते हैं, और स्थायी रूप से
आत्मा के साथ रमते जाते हैं।

{885}

{886}

जो सम्यक्, रीति से अपनी
आत्मा को विकास के पथ पर आगे बढ़ाते हैं
तथा अपने स्वभाव को सौम्य, सद्गुण युक्त
एवं सहनशील बनाते हैं, उनकी आत्मा का
सौन्दर्य अतिशय
रूप से समृद्ध होता जाता है।

{887}

जन्म लेना
छोड़ना है तो सबसे
पहले जन्म देना
छोडना होगा।

{888}

जीवन दीप
की ज्योति प्रज्ज्वलित
करने के लिये
संस्कार -स्नेह तेल
का काम करता है।

{889}

जो सुन्दरता शाश्वत होती
है-अनश्वर होती है, वही आत्मा
की,अन्तः करण की या स्वभाव की सुन्दरता
होती है। और यही असली सुन्दरता है। यह
असली सुन्दरता सबको सुलभ है, बशर्ते कि कोई
असली सुन्दरता को समझे तथा उसे अपने
भीतर से बाहर प्रकट करें।

{890}

लगता है, भारत के मानवों
का हृदय जो पुष्प की पंखुडीवत् था
वह आज कुम्हला ही नही गया अपितु पत्थर के
समान कठोर हो गया है, तभी तो आज देश में
नये-नये कत्लखाने खुलते जा रहे है, निरपराध
प्राणियों की नृशंस हत्याएं हो रही है।

{891}

जब दृष्टि में
समीक्षणता आती
है, तभी अन्तरश्चेतना
यथार्थ वस्तु विज्ञान
में सक्षम बन
सकती है।

{892}

बृद्धि की
निर्मलता तथा
समीक्षण अवस्था को पाने
के लिए साधक को सबसे
पहले अहमत्व और मत्व
को विसर्जित करना
आवश्यक है।

{893}

डा. की स्थिति से समझे
कि एक इंजेक्शन भी बिना, उबले
पानी से धोये एक दूसरे को नही लगाया जा
सकता है तो फिर दूसरे पशु-पक्षियों का मांस
पेट में कैसे डाला जा सकता है ?

अहंकार की वृत्ति हटती हे,तभी
अहं याने आत्मा की सच्ची अनुभूति
होती है। आत्मानुभूति होने पर ही आध्यात्मिकता जागती हे
और उच्चतम त्याग वृत्ति कर्मठता में उतरती हे। भगवान्
महावीर की भाषा में वह ऐसा पंडित होता हे जो एक-एक क्षण
का समीक्षण कर लेता हे।

{894}

नमना सीमित नही होता - सदा
व्यापक होता है। वह क्षेत्र, समय या व्यक्ति
की सीमा में भी नही बॅधता है। इसका प्रमाण हे
नमस्कार महामंत्र। इसमें किसी क्षेत्र, समय या व्यक्ति
विशेष की महानता को ही नमस्कार नही किया गया है, बल्कि तदनुसार
गुणधारक सभी अनाम महान् आत्माओं को नमस्कार किया गया है। यहॉ
तक कि पॉचवें पद में किसी खास मत या समुदाय के साधु को नही
बल्कि साधुत्व की गुण सम्पन्नता वाले सम्पूर्ण लोक के सभी साधुओं को
नमस्कार किया गया है। अतः यही नमस्कार की गुणवत्ता है और
गुणानुसार व्यापकता है। नमस्कार में न गुण
भेद किया जाता है और न संकोच।

{895}

गर्भपात व्यक्तिगत समस्या तो है ही,क्योंकि
गर्भपात का मॉ के शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य
पर बहुत ही बुरा प्रभाव पड़ता है। एक बार के गर्भपात के
बाद भी कहा जाता है कि रक्त प्रवाह आदि के कारण मॉ की शरीर
शक्ति बहुत दुर्बल हो जाती है जो लम्बे अर्से तक वापिस सम्हल
नही पाती है। फिर यदि किसी के साथ बार-बार गर्भपात का मौका
पड जाय तो उस की शारीरिक शक्ति तो टूट ही जायगी।

{896}

{897}

तीर्थकर देवों का
संसार की आत्माओं पर
अनंत उपकार है। समग्र आत्माओं
के संरक्षण का करूणाभाव था जिसमें सूक्ष्म से
सूक्ष्म जीवाणु भी सम्मिलित हैं।

{898}

दूसरों को
लाभ देने के पहले
स्वयं के जीवन को
सुरक्षित रखना
आवश्यक है।

{899}

हिंसा और
परिग्रह विचित्र ढंग
का पाप है,जो मानसिक रोग
एवं कैंसर आदि सारी
बीमारियों की
जड है।

{900}

जिनकी दृष्टि मात्र शरीर
तक सीमित रह जाती है। वे न तो अपनी
आत्मा की आवाज को सुनते या मानते हैं
और न ही अन्य प्राणियों की आत्माओं
के साथ अपनी आत्मा की समानता
को महसूस करते हैं।

{901}

भारतीय संस्कृति में व्यक्ति
के चारित्र्य को सर्वाधिक महत्व
दिया गया है। इस देश में विभिन्न रीति रिवाजों
का निर्धारण भी इसी दृष्टि
से हुआ है कि सत्चारित्र्य की रक्षा
हो-उसकी महत्ता सबके मन
मस्तिष्क में बनी रहे।

{902}

जो अनुशासन
पालन करता है,
वही अनुशासन दे
सकता है।

{903}

अनुशासन
जीवन की
विशिष्ट शक्ति
होती है।

{904}

अधिकतर देशवासियों ने अपनी
सभ्यता का श्रेष्ठ परम्पराएँ त्याग दीं और
भोगप्रधान संस्कृति की विकृत परम्पराएँ ओढ़
ली। त्यागप्रधान देश में भोगप्रधान सभ्यता का
प्रवेश एक विडम्बना के रूप में ही हुआ।

कोई साधक एक ही बात अपना ले
कि ममत्त्व भाव को दूर करना है चाहे वह
किसी के भी प्रति हो तो इस एक ही प्रयोग द्वारा
कोई आत्मा मोक्ष प्राप्ति तक के अपने चरम लक्ष्य को भी प्राप्त कर
सकती है। मन का यही ममत्त्व भाव जिसे मोह, तृष्णा, मूर्छा,
आसक्ति, लालसा आदि किसी भी नाम से सम्बोधित कर लें-आत्मा
को विकारों के गहरें कीचड में घसीटता है ओर उसके स्वरूप को
कुटिल एवं कलुपित बनाता हे। {905}

आत्मा की सुन्दरता को पाने के लिये
आगे बढते हैं तो आपको ही आनन्द नही मिलता
बल्कि आपके सम्पर्क में आने वाले सभी लोगों को आनन्द मिलता है
तथा समूचे वातावरण में भी आनन्द का संचार हो जाता हे। दूसरी ओर
मात्र शरीर की सुन्दरता में जब कोई आसक्त बनता है तो वह स्वयं ही
अनेक प्रकार के दुःखों से ग्रस्त नही हो जाता बल्कि जिसके प्रति
आसक्ति होती है उसे भी दुःख की आग में झोंक देता है। इतना ही
नही अपने कदाचार के मैले के छींटों से वह सारे समाज के धरातल
तथा वातावरण की शुद्धता को भी कलंकित कर देता है। {906}

भारतीय संस्कृति में इस 'सुन्दरम्' की
परिकल्पना बडी भावपूर्ण है। 'सुन्दरम्' अन्तिम परिणति
मानी गई है 'सत्यम्' और 'शिवम्' की। जीवन में जब सत्य का
पूर्ण प्रकाश प्रसारित हो जाता है तब कल्याण की ओर चरण बढ़ते
हैं। सत्य और कल्याण की परिपक्वता से आत्मा की अलौकिक
सुन्दरता का उद्‌भव होता है जो अन्तिम लक्ष्य के रूप में प्राप्त
होती है। इस क्रम में ही रचित हुआ है- ''सत्यं, शिवं, सुन्दम्'' का
मन्त्र। यह मन्त्र आत्मा के अत्युच्च सौन्दर्य का परिचायक है। {907}

{908}

आपके खून में क्रान्ति
करने का जोश है तो मैं कहता
हूं, क्रान्ति करिये, किन्तु वह क्रान्ति मर्यादा
की सुरक्षा के लिये हो न
कि उसे तोडने के लिये।

{909}

समता, शान्ति
को पाने की यदि सच्ची
जिज्ञासा, सच्ची भूख हो तो
उस सत् चित आनन्दधन
को नमन करें।

{910}

जब तक
अन्तरंग दृष्टि से
राग-द्वेष का मनोमालिन्य नही
हटता, विचारों में समत्व नही
आता,तब तक धर्म की यथार्थ
विवेचना नही हो सकती।

{911}

बाहर का कितना ही
विज्ञान प्राप्त कर लें, बाहरी
डिग्रियॉ कितनी भी क्यों न प्राप्त कर लें पर
वह स्व-पर के जीवन का
सही रुपान्तरण नही
कर सकती ।

{912}

जब तक भौतिकता
का रंग जमा हुआ रहेगा, तब
तक बुद्धि निर्मल नही बन सकती और जब
तक बुद्धि निर्मल नही बनेगी तब तक दृष्टि
में भी समीक्षण अवस्था
नही आ सकती।

{913}

समीक्षण ध्यान
साधना से जीवन में
आश्चर्यजनक शक्तियों का
प्रकटीकरण
होने लगता है।

{914}

समीक्षण
वृति को विकसित
करने के लिए सबसे पहले
अपने आप का संशोधन एवं
समीक्षण करना होगा।

{915}

पंच परमेष्ठी को
नमस्कार करना तो बहुत है,
यदि केवल एक ही पद को सम्यक्
विधि से नमस्कार हो जाय तो सत्‌चित
आनन्दधन का स्वरुप प्राप्त
किया जा सकता है।

आत्माओं की समानता के सिद्धांत
को जो हृदयंगम कर लेते है, वे तो प्रत्येक
प्राणी के प्रति सहृदय हो जाते हं। वे प्रत्येक प्राणी में
रही हुई आत्मा को अपनी ही आत्मा के समान समझते हं तथा
अपना वैसा ही आचरण एवं व्यवहार वनाते हं जैसा कि उनकी
आत्मा को प्रिय एवं सुखकारी महसूस होता हे। जो व्यवहार उन्हें
अप्रिय अथवा कष्टदायक लगता वैसा व्यवहार वे कभी भी अन्य
प्राणियों के साथ नही करते हं।

{916}

आप में से वहुत सारे ऐसी घटनाओं से
परिचित होगें कि अमुक स्थान पर वलात्कार या
हत्याएँ हुई या कि अमुक की कुंवारी लडकी, वल्कि वच्चों वाली महिला
तक किसी दूसरे के साथ भाग गई। ऐसी घटनाओं से एक वार आप
चौंकते भी होगें किन्तु फिर वेभान हो जाते हैं और सोचने का कष्ट नही
करते कि इस प्रकार की घटनाएँ क्यों घटित होती हैं ? ये 'दूसरे' लोग
जो ऐसी फैशनपरस्ती को देखते हैं तो अनायास ही आकर्षित हो जाते हैं।
उस अवैध आकर्षण का ही किसी में प्रवल वेग चलता होगा कि वह ऐसी
घटनाओं को घटित करने का दुस्साहस कर लेता होगा।

{917}

शरीर तक सीमित दृष्टि का ही आज
यह दुष्परिणाम सामने है कि अनेक बहिनें और
भाई अपनी सहृदयता एवं संवेदना खोकर अपने शरीर
को सुन्दर बनाने के अज्ञानपूर्ण प्रयत्न में ऐसे-ऐसे सौन्दर्य एवं
श्रृंगार प्रसाधनों का उपयोग करते हैं जिनके निर्माण में अनेक
अबोले प्राणियों की हिंसा की जाती
है एवं उनका निर्दोष खून बहाया जाता है।

{918}

{919}

इत्र की शीशी का मुंह
बंद हो, और आप उसे जेब में
छुपाकर बैठ भी जायें तथापि उसकी
खुशबू छूप नही सकती, वैसे ही जीवन
में अगर सद्गुणों की सौरभ भरी है तो व्यक्ति
कही भी रहे, जन-मानस के पास उसकी
सौरभ पंहुचे बिना रह नही सकती।

{920}

साहस और
धैर्य के साथ की
जाने वाली प्रगति
एक दिन परिपूर्णता को
प्राप्त करने वाली
होती है।

{921}

सांसारिक
दृष्टि से आध्यात्मिक
जीवन ठीक तरह से
अवलोकित नही हो
सकता।

{922}

कर्म-बंध आत्मा
के लिए एक प्रकार का कर्ज है।
जब तक इस कर्ज को आत्मा नही
चुकाती, तब तक कर्मो के भार
से हल्की नही होती।

{923}

रोग को दूर करने के
लिए रोगोत्पति के मूलभूत कारणों
को नही हटाया जाएगा, तब तक रोग समूलतः
नष्ट नही हो सकता। कर्म का विदारण भी
समूलतः जब तक नही होगा,
तब तक कर्मबंधन की
प्रक्रिया भी चलती रहेगी।

{924}

परम शान्ति
की उपलब्धि के लिए
जीवन में परिपूर्ण रूप से
समीक्षण की स्थिति लानी
होगी।

{925}

मुमुक्षु
आत्माओं को
कर्म कर्ज से मुक्त होने के
लिये वीतराग प्रणीत
सत्पुरुषार्थ को जीवन में
स्थान देना आवश्यक है।

{926}

मृत्यु के भय से आतंकित
व्यक्ति को कितना ही आहार
दान, औषध दान, ज्ञान दान दिया जाय,
तथापि उसे शांति नही मिल सकती।
अतः मृत्यु के भय से आतंकित व्यक्ति
को निर्भय बनाने वाला अभय दान
ही सर्वश्रेष्ठ दान हे।

आपसे एक सीधा सादा सवाल करूं कि
आप अपने शरीर का श्रृंगार क्यों करना चाहते हैं?
श्रृंगार से शरीर का खून नही बढता या कि उसे किसी तरह
की पुष्टि नही मिलती। आपका शरीर सज्जा विहीन हो या साज सज्जा
युक्त-इससे आपके सुख मे कोई अन्तर नही आता। फिर सारी सज्जा
सामग्री एवं कोशिशो पर अपार धन, समय एव शक्ति का अपव्यय
क्यों? इतना ही नही अनेक प्राणियो की घात
का महापाप अपने सिर पर लेकर निकाचित कर्म
वंध के साथ ऐसा आत्म-पतन क्यो।

{927}

धन लूटने वाला वेसा वेरी नहीं हे,
जैसा वेरी कुसंस्कारों को डालने वाला होता हे।
क्योंकि कुसंस्कारों की काली छाया में व्यक्ति ही नही, नई पीढी औश्र
समाज व राष्ट्र तक इतने अंधे हो जाते हैं कि वे हिताहित का भान
खोकर बाह्य सत्ता और सम्पत्ति को हथियाने की दोड में निकल पडते
हैं। कुसंस्कारों का बुरा असर इस तरह वढता ही रहता है जिस बोझ
को ढोते हुए कई पीढियॉ अपने स्वस्थ विकास से वंचित हो जाती है।
इसलिये सुसंस्कारों का धन अधिक से अधिक उपार्जित कीजिये, नई
पीढी में उसको बीज की तरह बोइये एवं राष्ट्रों तथा संस्कृतियों के
नवनिर्माण में अपना पवित्र योगदान अवश्य दीजिए।

{928}

संस्कारें के संशोधन एवं परिमार्जन की ऐसी
प्रक्रिया भी निरन्तर व्यक्तिगत एवं सामाजिक स्तारों
परचलती रहनी चाहिए। यह प्रक्रिया साधु-सन्त और प्रबुद्ध
व्यक्ति चलायेंगे किन्तु इस प्रक्रिया का आधार वीतराग देवों द्वारा
उपदेशित धर्म को ही बनाना होगा। इस धर्म के सर्वजन हितकारी
सिद्धान्तों में ही वह बल है जो मानवीय मूल्यों की सर्वत्र
प्रतिष्ठा करते हैं तथा व्यक्ति को विश्व के समस्त
प्राणियों के साथ मैत्री की सीख देते है।

{929}

{930}

जो अधिक प्रबुद्ध
होते हैं, उनका विशेष दायित्व
बनता है कि वे समाज में प्रचलित पारस्परिक
संस्कारों के विकारों को दूर करने के
लिए विशेष अभियान चलावें
तथा सामाजिक वातावरण पर
से कुसंस्कारों का प्रभाव मिटावें।

{931}

कर्मो का
विदारण सिर्फ बाह्य
उपायों से नही हो सकता,
उसके लिए तो आंवटिक
दृढ संकल्प अनिवार्य है।

{932}

समीक्षण
ही जीवन के
काषायिक
उबड-खाबड पथ
कोसपाट बनाने वाला है।

{933}

जब जीव संसार की
समस्त आत्माओं के साथ अपना
आत्मीय व्यवहार रखता है, प्रत्येक प्राणी के प्रति
करूणावंत बना रहता है, तब उसकी यह
आत्मीय भावना स्वयं के परमात्म स्वरूप को
उजागर करने में सहायक होती है।

{934}

जिस प्रकार प्रकाशमान हीरा
रजकण द्वारा मलीन हो जाता है,
चमकता गोल्ड (सोना) मिट्टी के कारण
मलीमष बन जाता है,उसी प्रकार
अनन्त -अनन्त गुण सम्पन्न
आत्मा भी कर्मो के मल से
मलीमष बन जाती है।

{935}

जीवन के
प्रत्येक कार्य में,
हर गतिविधि में
समीक्षण दृष्टि होना
आवश्यक है।

{936}

समीक्षण की
परिपूर्णता ही आत्मा
से परमात्म रूप की
अभिव्यक्ति है।

{937}

चेतनना अपनी समीक्षण अन्तः
प्रज्ञा को जगा कर जडत्व से विलग
हो सकती है। पुद्‌गलों में दृश्यमान, मनोज्ञता,
कमनीयता,रमणीयता, आकर्षणता, पुद्‌गलों के
ही परिवर्तन से अमनोज्ञ, अकमनीय, अरमणीय,
अनाकर्षण में परिवर्तित हो जाती है।

अधकार मे भटकते हुए मनुष्य
ने जहाँ भी किसी शक्ति का रूप देखा, वरा
उसे देवता मान लिया। इस प्रकार पानी, अग्नि, रोशनी,
धन, ज्ञान आदि अनेकानेक पदार्थ और वृत्तियाँ उसके लिए देवी-देवता
वन गये। अंधकार मे नही देख सका तो वह अपना ही शक्ति भंडार
नही देख सका जो उसके पद को मान्य सभी देवी-देवताओ से ऊँचा
उठाते है और यदि वह अपनी शक्तियो का उद्घाटन कर ले तो उसे
ईश्वर के समकक्ष वना देते ह।

{938}

प्रभु के भजन से प्रभु का स्वरूप पा
लेना कोई हँसी खेल नही हे। अपने स्वरूप
को इतनी गहराई से परखना होता हे और उसे
इतनी आत्मलीनता से विगलित करदेना होता हे कि अपनेपन का
ध्यार ही विस्तृत सा हो जाता हे। जो पानी की सतह पर ही तैरता है,
उसे अपनेपन का खयाल रहता है, लेकिन जो प्रभु के स्वरूप की
गहराई में पूर्ण रूप से डूब जाता है तो वह खुद रहता ही कहाँ है?
वह तो उसी रंग में रंग जाता है-प्रभुमय हो जाता
है। उस स्तर पर जाकर अन्तर की सारी
रेखाएँ मिट जाती हैं और पहिचान की
एकात्मकता निखर उठती है।

{939}

भाषा ही वह माध्यम है जिससे मनुष्य
की सभ्यता और संस्कृति का ज्ञान होता हैं,
उसके चारित्र का परिचय मिलता है तथा उसके मानवीय मूल्यों
की पहिचान स्पष्ट होती है। मन एक अंधा कुँआ होता है तो जिह्वा
उसकी खिडकी बनती है, जिससे मन की गति की झलक
मिलती है। मनुष्य की महत्ता और हीनता, शिष्टता और अशिष्टता
वाणी में तत्काल झलक जाती है, अतएव संस्कारी पुरुषों को
बोलते समय भाषा-विवेक रखना चाहिये।

{940}

{941}

बचपन का सुन्दर रूप
यौवनत्व में और यौवनत्व वृद्धत्व
में जरा-जीर्ण होता हुआ नष्ट हो जाता है।
परिवर्तन के इस ध्रुव सिद्धान्त को परिवर्तित
करने का सामर्थ्य संसार
के किसी भी व्यक्ति में नही हैं।

{942}

''अभयदान''
ग्राहक को तो अभयी
बनाता ही है किन्तु
प्रदाता के कर्म निर्जरा एवं
पुण्यार्जन में
हेतु बनता है।

{943}

मानव जब
ईर्ष्यालु बन जाता है तब
अपने विवेक चक्षु खो बैठता
है।

{944}

साधक को स्वात्व बोध के
साथ समीक्षण पूर्वक पुद्‌गलों के परिवर्तन को
समझते हुए अमरत्व रूप, अनन्त सुख को
प्राप्त करने के लिये प्रयत्न करना चाहिये।

{945}

आत्मानंद वह आनन्द
है जो सदा सर्वदा के लिए
परम आनन्द प्रदान करने वाला है,
जिसकी अभिव्यक्ति के बाद
कभी भी दुःख की संप्राप्ति
नही हो सकती।

{946}

ईर्ष्या-दग्ध
मानस कभी भी
अपनी उन्नति नही कर
सकता, आत्म-विकास
का तो कोई प्रश्न ही नही
उठता।

{947}

निःस्वार्थ
करूणाभाव की चरम
परिणति ही परमात्म भाव
को उजागर करती है।

{948}

आत्मभिमुख आत्मा
पौद्‌गलिक सुखों में कभी
भी आनंदित नही होती , वह
तो पौद्‌गलिक आवर्त में रह
कर भी उससे निरपेक्ष रहती है।

भारतीय संस्कृति का यह आदर्श वाक्य है कि 'सत्यंब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्' अर्थात् सत्य बोलो, प्रियकारी बोलो। सत्य बोलो-यह आधारगत सिद्धान्त है। सत्य क्या है? जो आप देखते, सुनते और महसूस करते हो उसे उसी रूप में व्यक्त करो, उसमें दुराव व छिपाव की कोई जगह नही होनी चाहिए। यथावत् का व्यक्तिकरण सत्य का पीठबल होता है। सत्य ही ऐसी शक्ति है जो जीवन के विचार और आचार को सदा एक रूप बनाये रखती है। पतन के जितने भी कारण होते हैं वे विचार और आचार के विभेद से ही पैदा होते हैं।

{949}

{950}

भाषा सदा सत्य से मंडित हो, यह विवेक सदा जागृत रहना चाहिये। सत्य बोलो का यही सार है। किन्तु सत्य बडा पैना होता है और उसकी मार सभी सहन नही कर सकते हैं- इस कारण नीतिकारों ने आगे जोडा कि सत्य भी प्रियकारी बोलो। दूसरों के चित्त पर आघात लगावें ऐसा सत्य भी मत बोलों याने कि उस सत्य को इस तरह मिठास में घोलकर बोलो कि उसका बाह्यरूप प्रियकारी बन जाय। नंगा सत्य सामान्य रूप से असत्य होता है। सत्य प्रियकारी हो-यह सामान्य नियम है किन्तु कभी-कभी ऐसे अवसर आते हैं जब किसी की हितकामनना से उसका ठोस सत्य से आमना-सामना करना ही होता है ठीक उसी तरह जैसे एक सर्जन डॉक्टर फोडे की चीर-फाड इसलिये करता है कि शरीर का वह भाग तन्दुरुस्त हो जाय। इस दृष्टि से उपरोक्त वाक्य में परिवर्धन किया जा सकता है कि सत्य बोलो, प्रियकारी या हितकारी बालो। सत्य प्रिय हो और हितसाधक भी हो, लेकिन प्रियकारिता और हितकारिता में टकराव पैदा हो जाय तो वहाँ पर हितकारिता को प्रमुखता देना समीचीन रहेगा।

जिह्वा वही होती है, लेकिन बोली-बोली का भारी अन्तर पड जाता है। इसी जिह्वा मे जहर भी होता है तो शहद भी होता है। यह भाषा के कर्त्ता पर निर्भर करता है कि वह जिह्वा के किस तत्त्व का प्रयोग करे। भाषा का जहर किसी के भी दिल को घातक चोट पहुँचाता है, उसके प्रतिशोध को उभारता है तथा समग्र वातावरण को विषाक्त बनाता है। वहीं शहद मिली भाषा शत्रु तक के दिल को मुधरता का स्पर्श करा देती है, प्रेम की नई लहर पैदा करती है और हृदय परिवर्तन तक का आदर्श उदाहरण भी उपस्थित करवा सकती है।

{951}

{952}

निराबाध रूप से व्यतीत
हो रहे, आयुष्य के क्षणों में जो
आत्मा स्व की क्रियावती शक्ति को शाश्वत
शांति की उपलब्धि कराने वाले लक्ष्य की ओर
गतिशील करती
है, वे धन्य बनती है।

{953}

पुद्गलों में
आसक्त होकर आनंद
मनाने वाला व्यक्ति कभी भी
शाश्वत सुख की
अनुभूति नही
कर सकता।

{954}

जो साधक
पुद्गलासक्ति से
निरपेक्ष हो जाता है, वह
प्रगतिशील हो जाता
है-आत्मन् की
दिशा में।

{955}

आत्मा का परम उत्कर्ष एवं
मुक्ति की अवाप्ति मात्र मनुष्य गति
से ही हो सकती है। मानव साधना के क्षेत्र में
बढकर एक के बाद एक सोपानों को पार
करता हुआ चरम लक्ष्य का
वरण कर सकता है।

{956}

एक माता के उदर
से युगपद् उत्पन्न दो बच्चों
में भी अंधकार-प्रकाश जैसा
अंतर पाया जाता है, वह क्यों ?
इन सबका
अदृष्ट कारण है-कर्म।

{957}

सुख रूप दिखने
वाले पुद्गल वास्तव
में सुख रूप नही होकर
सुखाभास रूप है, अतः
पुद्गला नंदी नही,आत्मा
-नंदी बनिये।

{958}

उठिये,
जागें प्रमाद करने
का अवसर नही
है।

{959}

मानव तन में रही हुई
आत्मा श्रेय मार्ग को यदि
नही अपनाती है तो कोई ऐसी
जिंदगी नही ऐसा कोई उपस्थान नही,
कि जिससे वह व्यष्टि से समष्टि
की ओर जा सके।

वास्तव मे वे ही वचन बाण के समान तीखे
और गहरे घाव करने वाले होते है जो कषाय के
तरकस से निकल कर सामने वाले के दिल को बेध डालते हैं। इन
वचन बाणों के घाव हमेशा हरे रहते हैं और प्रतिक्रियाओ के तूफान
उठते रहते हैं। ऐसी प्रतिक्रियाएं कितनी विनाशकारी सीमाओं तक
पहुँची हैं–ऐसी उदाहरणों से इतिहास के पन्ने भरे पड़े हैं। महाभारत
स्वयं किसका परिणाम था?वचन–बाण
के घाव से ही तो यह विनाश रिसा था।

{960}

मान का अहंकार से बढकर इस
आत्मा का कोई अन्य शत्रु नही हैं क्योंकि इस
दुर्भाव का सीधा आक्रमण आत्म भाव पर होता है। यह अहंकार सभी प्रकार
की उपलब्धियों का हो सकता है। अपनी धन शक्ति, सत्ता शक्ति, शरीर
शक्ति अथवा इन्द्रिय शक्ति पर मनुष्य अभिमान करता है किन्तु कभी कभी
साधक को भी अपनी साधना शक्ति वि तपः शक्ति पर भी अभिमान हो
जाता है। यों सभी प्रकार का अभिमान सर्वत्र वर्ज्य माना गया है। अभिमान
या अहंकार ऐसा घातक विकार होता है जो आत्म स्वरूप को स्वयं विकृत
नहीं बनाता, बल्कि अपने साथ नाना प्रकार के विकारों को भी भीतर में
प्रविष्ट करा देता है। इस कारण आत्म स्वरूप की अत्यधिक
मलिनता उभर कर ऊपर आ जाती है।

{961}

वचन–बाण तलवार से भी अधिक तीखे
होते हैं और तलवार से भी ज्यादा गहरा घाव
करते हैं। अतः सोचकर ही बोलना चाहिये। यह सोचना भी उस
परिमाण में गहरा होना चाहिये जिस परिणाम में कषायों की
कलुषता का आधिक्य हो। भाषा विवेक
का सामान्य नियम भी यह है कि एक–एक
शब्द पहिले तोलो फिर बोलो।

{962}

{963}

जो साधक एन्द्रियक
विषयों के लोलुपी हैं, भौतिक
सुखों में आसक्त है, वे आत्मरामी
न होकर इन्द्रियरामी है। वे प्रेय
मार्ग के पथिक है न कि
श्रेय मार्ग है।

{964}

संसार रूप
''चकडोलर'' की चार
पालखियां है-नरक,तिर्यच,
मनुष्य, देवता- जिसमें
संसारी जीव निरन्तर
घूम रहे हैं।

{965}

संसार की
समस्त आत्माओं के
पास क्रियावती शक्ति है
आवश्यकता है,उसे सही
दिशा में नियोजित
करने की।

{966}

जो साधक एन्द्रियक
सुखों में निरासक्त है, अदीन
भाव से आत्म साधना में रत है,
वे ही सच्चे अर्थो में श्रेय मार्ग
के पथिक है।

{967}

जिस इन्द्रिय को जिस
पदार्थ से सुख की अनुभूति
होती है, उस इन्द्रिय को उसी पदार्थ से
बार-बार सम्बन्धित किया जाय तो वह विषय
सुख देने के स्थान पर दुःखप्रद बन
जायेगा।

{968}

अब भी समय
है जगने का,जागिये
और इस अमूल्य जीवन में
मुक्ति रूपी परम सुख
को पाने के लिये
आगे बढिये।

{969}

आत्मानन्द
से विपरीत होने वाली सभी
क्रियाएं-प्रतिक्रियाएं प्रेम
मार्ग की कोटि
में आती है।

{970}

परमानंद का स्त्रोत
तो स्वयं के भीतर ही
विद्यमान है, आवश्यकता है ज्ञान, क्रिया की
सम्मिलित साधना से उस स्त्रोत पर आए
कर्म कलिमल
को हटाने की।

सावधानी का यह भी अर्थ होगा कि आप
मितभाषी वनें, कम से कम वोलें। कम से कम
वोलेंगे, तभी अपनी वोली के स्वरूप का पूरा ध्यान रख सकेंगे।
अधिकतम वोलने वाला अपने शव्दो के स्वरूप पर कहां तक ध्यान
दे पायेगा ? कम से कम जितना आवश्यक हो उतना ही वोलना
होगा। तो एक-एक शव्द पर पूरा ध्यान दिया जा सकेगा। जिससे
वह किसी को कष्टकर न लगे। वाण जेसा तीखा वचन
तो कभी नही निकलेगा।

{971}

सामायिक के अभ्यास से साधी गई समता
सांसारिकता से जीवन को दूर हटाती हे ओर उसे
आत्मा से जोडती है। इस संयोग में आत्मा के अवगुणों का शमन होता
जाता है और उसके दृष्टिकोण में समता याने सहनशीलता पनपती
जाती है। भावों में समता व्याप्त होती हे तो वह वचन में प्रकट होती है
तथा व्यवहार एवं कार्यकलापों में समाहित वनती है ओर इस प्रकार
विचार, वचन तथा व्यवहार सहनशील भी बनते हैं तो समानता के प्रेरक
भी। आन्तरिक समानता बाह्य परिस्थितियों में भी समानता लाने को
प्रोत्साहित करती है। इस रूप में
भीतर बाहर समता की सहजता स्थापित होती हैं तथा
इसी सहजता से सभी आत्मीय सद्‌गुण इस
जीवन को विभूषित बनाते रहते हैं।

{972}

वचन आपके सम्पूर्ण जीवन का आईना
होता है। यह आईना जितना मैला, ऊबडखाबड,
बेतुका और धूलसा होगा, उतनी ही आपकी आकृति क्रूर, कुटिल,
कुरूप और कलुषित दिखाई देगी। लोग आपकी जैसी आकृति
देखेंगे, वैसा ही प्रतिष्ठा देंगे। इस पर आपके वचनबाण और तीखे
हुए तो उसका घाव खाये हुए दिल कभी भी आपकी हितकामना
नही करेंगे, क्योंकि वैसे घाव भरते नही हैं और दीर्घकाल
तक पीडा पहुँचाते रहते हैं।

{973}

{974}

नमस्कार स्वयं एक उत्कृष्ट अनुष्ठान है क्योंकि यह अतिशय विनम्रता एवं अपूर्व श्रद्धा का संगम होता है और फिर ऐसा नमस्कार जब साधुत्व के सतत् विकास शील चरणों में किया जाता है तो उससे बढकर महत्व और किस सुकृत्य का हो सकता हैं?

{975}

वचन-बाण तलवार से अधिक तीखे होते हैं। वे तलवार से भी ज्यादा गहरा घाव करते हैं। अतः सोच करके ही बोलना चाहिए।

{976}

भावानत्मक रूप से मन-मस्तिष्क का निर्माण इस रूप में हो अथवा किया जाय कि कर्त्तव्य-निष्ठा स्वतः स्फूर्त बने तथा बनी रहे।

{977}

मनुष्य किसी की रचना नही है अथवा किसी भी अन्य शक्ति पर आश्रित नही है। वह अपने भाग्य का स्वयं नियन्ता है और अपने पुरुषार्थ से सर्वोच्च पद को प्राप्त कर सकता है। अपनी कर्मण्यता का विश्वास ही सबसे बडा सम्बल होता है।

{978}

प्रभु के भजन में ज्यों-ज्यों गहराई से डूबते जाएँगें, अपनी आत्मा के स्वरूप में तथा परमात्मा के स्वरूप में एक प्रकार से एकरूपता दृष्टिगत होने लगेगी।

{979}

कथनी और करनी अर्थात् वाणी और कर्म में जब एकरूपता की बात कीजाती है तो उसका गूढार्थ सत्या चरण में ही निहित होता है।

{980}

कथनी और करनी एकरूपता से सत्य सम्यक्त्व और सद् का विकास होगा तथा असत्य, मिथ्यात्व और असद् से नाता टूटेगा।

{981}

आत्मा की सुख सुविधाओं का स्वरूप देह की सुख सुविधाओं के स्वरूप से कतई भिन्न है तथा आत्मशिक्त का नियोजन मात्र आत्मा की सुख-सुविधाओं को प्राप्त करने में ही किया जाना चाहिये।

गाली देने वाले को गले लगा लो और
फिर देखो कि व्यक्ति ओर समाज के जीवन में प्रगतिशील
परिवर्तन कितनी तेजी से लाये जा सकते
हैं। गाली देने वाले को गले लगाने में आपकी मानवता की जीत
होगी, आपके मानवीय मूल्य और आपकी मानवीय सवेदनाएं
निखरती जायेंगी तथा एक वाती से हजारों बातियां जलाते जाने के
समान पीडित एवं दलित मानवता के उद्धार का एक भगीरथ
कार्य प्रारम्भ किया जा सकेगा।

{982}

सांसारिक कार्यों में रीतियों का
निर्धारण तथा उनका प्रचलन सामान्य रूप
से शुद्ध भाव के साथ शुद्ध भावों को जगाने तथा
जगाकर बनाये रखने के उद्देश्य से ही होता हे। अपने प्रचलन के प्रारम्भ में
रीतियों का स्वरूप भी शुद्ध होता है
तथा लोग भी उत्साह के साथ उनकी उपादेयता को समझकर ही उन्हें
अपनाते हैं। यह प्रचलन तब तक शुभ और सुखदायक रहता है जब तक
रीतियों के पालन का क्रम शुद्ध बना रहता है। पालन करने वालों में ही दोष
पैदा होते हैं कि इन रीतियों का 'सु' धीरे धीरे 'कु' मेंबदलता जाता है। अतः
इन रीतियों के विकृतीकरण तथा पुनर्शुद्धीकरण की
प्रक्रिया को भी समझ लेना चाहिये।

{983}

इस ससार मे दो शक्तियो का सघर्ष निरन्तर
चलता रहता है। यह संघर्ष है अच्छाइयों का और
बुराइयों का-सद् और असद् का। यह सघर्ष अपने आप
नही चलता। इसे मुख्यत मानव जीवन ही चलता है। किसी भी जीवन
मे इन दोनो शक्तियो का आमना-सामना होता रहता है और पग-पग पर
इस चेतना की जरूरत होती है कि वह किस शक्ति का योग ले और
किस शक्ति का विरोध करे। इस दृष्टि से कि जीवन का साध्य किसी
भी समय ऑखों से ओझल न हो। यही कर्त्तव्य का मूल है।

{984}

{985}

आध्यात्मिक ऊँचाइयों को
पाने में मात्र आत्म-पुरुषार्थ की आवश्यकता
होती है जो सफल बन जाय तो पलों में चरम
लक्ष्य मिल जाय और जो अधूरा बना रहे तो
उसमें कई जन्म जन्मान्तर लग जाएँ।

{986}

पाप करने
वाला कोई भी हो, किन्तु
उससे सम्बन्धित सभी
व्यक्ति उस
पाप के सहभागी
होते है।

{987}

प्रेय मार्ग में
प्रवृत्ति जहां मानव
को अवनति की ओर ले
जाती है वहां श्रेय मार्ग की
प्रवृति मानव को उन्नति
की आरे ले
जाती है।

{988}

अपूर्व शान्ति और
असाधारण सुख की अनुभूति
आत्म-साधना पर ही प्रतिफलित होती है और
साधना प्रतिफलित होती है भावना की उत्कृष्ट
श्रेणियों में पहुँच जाने पर।

{989}

मनुष्य की महत्ता
और हीनता, शिष्टता और अशिष्टता वाणी
में तत्काल झलक जाती है। अतएव
संस्कारी पुरुषों को बोलते समय भाषा
विवेक रखना चाहिए।

{990}

बिना सत्पुरुषार्थ
के उपार्जित किया
गया धन जल्दी से
पच नही सकता।

{991}

न्याया और
नीति से उपार्जित
थोडा सा धन भी
वहुत लाभदायक
होता है।

{992}

जो अपनी जीवन नोका
की डोर को सत्य के हाथों में
थमा देता है, उसकी नोका इस संसार रूपी
समुद्र के किसी भी अंधड या तूफान में न
टकराती है और न टूटती-फूटती हे, वह कही
भी क्षतिग्रसत नही होती।

जीवन के विशाल पथ पर भी एक-एक पग
आगे बढाते हुए पथ की अवस्था एवं चारों ओर
की वातावरण परिस्थितियों के अनुसार स्वयं को ही कर्त्तव्य का
निर्धारण करना होता है कि क्या करने
से चाल स्वस्थ बनी रह सकेगी और गति रूकेगी नहीं। चाहे
सांसारिक कार्यो के क्षेत्र हो या आध्यात्मिकता का क्षेत्र वस्तुतः
कर्त्तव्य-निर्धारण की प्रक्रिया को स्वयं
के ज्ञान और अनुभव पर ही चलानी होती है।

{993}

प्रत्याख्यान और त्याग की जो समुन्नत
परम्पराएँ एवं स्थापित मर्यादाएँ हं, उन्हें प्राणहीन
होने से बचाना चाहिये। यह कार्य बढत हुई भोगवादी प्रवृत्तियों का
सार्थक विरोध करने से ही पूरा हो सकेगा। देश के महानगरों एवं नगरों
में जिस प्रकार की भोगवादी विलासमय जीवन प्रणाली पनप रही है,
वास्तव में वही त्याग परम्परा के लिये खतरा बन रही है। इस खतरे
को कम किया जाना चाहिए तथा देनंदिन जीवन में प्रत्याख्यान की
परम्परा पुष्ट बनाई जानी चाहिये कि प्रतिदिन कुछ न कुछ त्याग लेने
की आदत अवश्य बने। छोटे-छोटे
त्याग से बडे और सर्वस्व त्याग तक की अपूर्व
वृत्ति का विकास किया जा सकेगा।

{994}

आत्म धर्म यह है कि आत्म स्वरूप की
शुद्धता को विषय कषायों के नाना प्रकार के विकार
नष्ट करते हैं और इसके मददगार बनते हैं अनियंत्रित मन तथा
लोलुप इन्द्रियों के विश्रृंखल कार्य। इस कारण मन को
आत्मानुशासन में स्थिर बनाकर इन्द्रियों की वासनाओं को जीतें एवं
विकारों को नष्ट करते जावें यह निजात्मा के प्रति कर्त्तव्य है जो
सभी के प्रति सभी प्रकार के कर्त्तव्यों का मूल होता है।

{995}

{996}

भाषा विवेक के
परिपक्व विकास से कोई
साधक अपनी वचनशक्ति को पूर्णतया हित,
मित, इष्ट और मिष्ट बना लेता है, तब वह
एक प्रकार से सिद्धवचन हो जाता है।

{997}

अनीति से
उपार्जित करोडों
का धन भी शान्ति
देने वाला नही
बनता।

{998}

सुख
पौद्‌गलिक
पदार्थो में नही है,
स्वयं आत्मा
में है।

{999}

जहॉ-जहॉ कटुता दीखे,
कलुष नजर आवे और क्रूरता तांडव मचाती
हो, वहॉ प्रेम और सहयोग की वचन गंगा को
बहाते चलो। प्रेम की रसधारा में डूब कर कौन
अधम से अधम भी अपना हृदय-परिवर्तन
नही कर लेगा ?

{1000}

विवेक का तकाजा यही
होता है कि उपलब्ध प्राप्ति के
पूर्ण महत्व का अंकन किया जाय तथा सभी
पहलुओं से सोचा जाय कि उसका
अधिकतम सदुपयोग किस प्रकार
किया जा सकता हैं?

{1001}

आत्मा
ही अपने अच्छे
या बुरे जीवन का सर्जन
करने
वाली है।

{1002}

मानव अपनी
विवेकशील प्रज्ञा
द्वारा सत्पुरुषार्थ के बल
पर अपने जीवन का नव
निर्माण कर सकता है।

{1003}

आज का मनुष्य
भी यदि ऑखें खोल कर
देखे तो प्रकाश की कमी नही हे।
अंधेरा भी बहुत है लेकिन प्रकाश की किरणें
उससे अधिक व्यापक और तेजस्वी हे।

अध्यात्म की आंतरिक दृष्टि के
अनुसार मन का सविशेष महत्त्व होता है किंतु सांसारिक दृष्टि से
अप्रत्यक्ष रूप में उसकी थाह ही
ली जा सकती है। अतः संसार मे वाणी और कर्म को ही प्रमुख
माना है क्योकि मन का समावेश बाह्य रूप से इन दोनों में हो
जाता है। अतः कथनी और करनी की एकरूपता को ही संसार
में प्रामाणिकता का मानदण्ड माना जाता है।

{1004}

जेसे अग्नि थोडे ही समय से
रूई के ढेर को भस्म कर देती है, उसी
प्रकार कषाय आत्मा के समस्त गुणों को भस्म कर
देते है। कषाय शव्द कष से वना हे जिसका अर्थ होता हे कषाय
याने कि नष्ट करना। इस प्रकार जो वृत्तियॉ इस आत्मा को कषती
हैं याने कि उसके गुणों को नष्ट करके उसके लिये कर्म वंध की
आय करती है, उन वृत्तियों को कषाय कहते हैं। इस रूप में कषायों
की काषायिकता अर्थात् विनाश शक्ति को घातक
की संज्ञा ही दी जा सकती है जो आत्म
चेतना का घात करती है।

{1005}

माता-पिताओं को अपनी सन्तान के प्रति
तथा सन्तानों को अपने माता-पिताओं के प्रति
अपने कर्त्तव्यों का पालन पूरी निष्ठा के साथ करना चाहिये
क्योंकि कर्त्तव्यनिष्ठा की ऐसी परम्परा जब क्रमिक रूप में आगे से
आगे चलती रहती है तो उस समाज व राष्ट्र का व्यवस्था क्रम
सुव्यवस्थित रूप से ही नही चलता, अपितु वहॉ
उन्नति की उत्कृष्ट ऊँचाइयॉ भी परिलक्षित होती है।

{1006}

{1007}

कर्त्तव्य-पालन ऐसा कार्य है
कि थोडी सी भी चूक कर जॉय या
आलस्य आ जाय तो कभी-कभी कर्त्तव्य -पालन
की पूरी प्रक्रिया व्यर्थ हो जाती है अथवा जो
कुछ उससे प्राप्य होता
है,वह नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है।

{1008}

अन्तर की
अनुभूति रखने
वाला व्यक्ति कभी भी
एन्द्रियक सुखों में आसक्त
नही
होता।

{1009}

जिस साधक
का मन आत्मीय व्यवहार
में तन्मय है उस साधक के
विचारों का प्रभाव निश्चित
रूप से अन्य प्राणियों पर
भी पडता है।

{1010}

माता-पिता की मुख्य
जिम्मेदारी होती है संस्कार-दान
की जिम्मेदारी-जिन संस्कारों को
उनकी सन्तान उनसे गर्भ से लेकर जन्म के
बाद कम से कम शिशुकाल में एकल उत्सुकता
से ग्रहण करती है।

{1011}

भौतिक पदार्थो की
उपलब्धि के लिए भी जब उन
तत्त्वों के बोध की आवश्यकता होती है
तो आध्यात्मिक पथ पर बढने के लिए तो
तद्‌विषयक सम्यक् बोध की
अनिवार्य आवश्यकता है।

{1012}

योगों की
अशुभ प्रवृति से
आत्मा का अधः पतन होता
है तो शुभ प्रवृति से
उर्ध्वगमन।

{1013}

आध्यात्मिक
क्रिया वही है
जिससे निज स्वरूप
की अभिव्यक्ति
होती है।

{1014}

जब भव्य साधक
अपनी मानसिक, वाचिक कायिक
क्रिया का समीक्षण करने लगे और समीक्षण के
साथ उन्हें अशुभ से हटाकर शुभ में
नियोजित करेगा तो लक्ष्य
तक पहुंच जाएगा।

तीर्थकर देवो की तरणतारिणी वाणी
का एक अमृत वाक्य है—"पढमं नाणं तओ दया"
—अर्थात् पहले ज्ञान और बाद मे क्रिया। यो कहा गया है कि ज्ञान
और क्रिया दोनो से मुक्ति की प्राप्ति सम्भव होती है। किन्तु इस
वाक्य में दोनों का क्रमाल्लेख है। प्रश्न उठता है पहले ज्ञान क्यों ?
सीधा सा उत्तर है—पहले जानेगे तभी तो तदनुसार क्रिया कर
सकेगे। हर क्रिया सप्रयोजन होती है और प्रयोजन के पूर्व निर्णय
किये बिना क्रिया कैसे की जा सकेगी ?

{1015}

मुख्य रूप से अपूर्ण शक्ति एक दिशा
से अधिक विकसित होती है। भौतिकता में मुख्य
ध्यान रहता है तो आध्यात्मिक शक्ति का हास होता है। विभिन्न भौतिक
शक्तियां विकसित होती है। भौतिक शक्ति के चकाचौंध में आध्यात्मिक
शक्तियां विस्मरण के गर्त की ओर प्रवाहित होती हुई अव्यक्त दशा को
प्राप्त होती है। यही कारण है कि आत्मा कुछ हद तक विकसित होकर
पुनः कुण्ठित हो जाती है। यह एक तरह का चक्र—सा बन जाता है।
प्राणी किंकर्तव्यविमूढ़ता का अनुभव करता हुआ दुःख परम्परा का
निर्माण करता रहता है।

{1016}

ज्ञान और क्रिया की अन्योन्याश्रितता होती
है। ज्ञान का प्रकाश पहले होगा, तभी क्रिया का
चरण आगे बढ़ सकेगा। ज्ञानहीन क्रिया को त्याज्य बताया गया
तो, क्रियाहीन ज्ञान को भी विशेष महत्त्व नहीं दिया गया है। ज्ञान
के अभाव में क्रिया अन्धी होती है तो क्रिया के अभाव में ज्ञान
लंगड़ा, किन्तु यदि अंधे और लंगडे मिल जॉय तो दोनों मिलकर
अपनी मंजिल तक आसानी से पहुँच सकते हैं।

{1018}

{1019}

जिस साधक के मन में
जरा सी भी यह भावना रही है
कि मेरी साधना से लोगों पर अच्छा
प्रभाव पडे, मेरी यश कीर्ति का प्रसार हो ऐसे
साधक की साधना बाह्य रूप से कितनी ही
कठोर एवं अध्यात्म प्रसाधिका हो, किंतु यथार्थ
में वह भौतिकी होती है।

{1020}

मनुष्य जीवन
के उन्नयन का यदि कोई
मार्ग है तो वह
श्रेय मार्ग है।

{1021}

श्रेय मार्ग
परमात्मा तक
जाने का व्यवस्थित
और श्रृंखलाबद्ध
मार्ग है।

{1022}

बच्चा रंग-बिरंगे खिलौनों
से कुछ समय खेलकर जल्दी ही
दुसरी तरफ आ जाता है,पर मानव वह
तो अपने हाथों से निर्मित बंगले, फर्नीचर, आभूषण,
सिनेमाघर रुपी खिलौनों से पूरी जिंदगी ही खेलता
रहता है, क्या कभी इन खिलौनों से
विराम लेने की मन में आती है?

{1023}

चन्द्र से अधिक शीतल और
सूर्य से अधिक प्रकाश मनुष्य
जीवन में ही पाया जाता है, उसे पाने के लिये
चौबीस घंटों में से कुछ समय तो निकालिये
और समीक्षण साधना में रत हो जाइये और
देखिये तो सही
कि कैसा आनंद मिलता है।

{1024}

मानव देह से
जहां सम्यक् दृष्टि
आत्मा आत्मदीप जगा
सकती है, तो उसी मानव
देह से आत्मा पतन
की ओर भी जा
सकती है।

{1025}

जब तक
लक्ष्यानुरूप गति नही होती,
तब तक आत्मा अभीष्ट
अर्थ सिद्ध नही
कर सकती।

{1026}

लाइट फिट है, किंतु फिट
होने मात्र से अंधकार दूर नहीं
होता। वैसे ही शास्त्रों को रट-रट कर मस्तिष्क
में जमा लेने मात्र से अज्ञान
अंधकार नही हटता। वे शव्द तो पौद्गलिक हे,
मैटर है, जव इन शब्दों का रस हम पी
लेंगे,अर्थ को हृदयंगम करेंगे
तभी ज्ञानालोक प्राप्त होगा।

अशुद्धि अशुद्धि होती है और विशुद्धि विशुद्धि। अशुद्धि
सम्पूर्ण बाहर भीतर को अशुद्ध और कलंकित बनाती रहती है.
जबकि विशुद्धि के बिना सम्पूर्ण वायु मण्डल को न तो प्रेरक बनाया जा सकता है
और न ही कार्य क्षम। चाहे अशुद्धि भीतर हो या बाहर की वह दोनों ओर फैलने
से रूकती नही है। बाह्य पर्यावरण की प्रदूषितता बाह्य पर्यावरण को निश्चित रूप
से प्रदूषित बनाती है। यह संसार वैसे ही दुःखो से भरा हुआ है लेकिन सम्पूर्ण
वायुमण्डल के प्रदूषित बन जाने से व्यक्तियो के दुःखो का पार नहीं रहता है।
अतः प्रदूषण मुक्ति के कार्य को सर्वोच्च प्राथमिकता दी जानी चाहिए।

{1027}

अभिमान की मनोवृत्ति जीवन-विकास मे घोरतम शत्रु है। मन
मे जब अभिमान का अंश रहता है, तब वह किसी छोटे व्यक्ति से
बात भी करना पसन्द नही करता। चाहे उस छोटे व्यक्ति से कितना भी महत्वपूर्ण
कार्य क्यों न हो, उससे बातचीत करने पर अपना बहुत भला हो सकता हो, फिर भी
अभिमान उसे बात नही करने देता। कभी-कभी यहां तक स्थिति आ जाती हेकि मृत्यु
के क्षणो तक भी अभिमान उसे झुकने नही देता। झुकना तो दूर, बात तक नही
करने देता। इस प्रकार अनेक तरह की हानियाँ तो वर्तमान जीवन में प्रकट दिखने
वाली होती है। इसके अतिरिक्त मन की कोमल वृत्ति से विकसित होने वाली अनेक
शुभ वृत्तियाँ कुण्ठित हो जाती हैं। उनके कुण्ठित हो जाने से इस जीवन की
आन्तरिक श्सक्तियाँ तो प्रय· नष्ट होती ही है, जो लाख प्रयत्न करने पर भी प्राप्त
नही हो सकती। इसके साथ-साथ अगली स्थिति बिगड जाती हे, क्योकि अभिमान की
दशा में दूसरे के प्रति सदा हीन भावना बनी रहती हे। उसकी हीन भावना के समय
अगले जन्म का आयुष्य-बन्ध भी नीच गति का होता हे। उस गति के प्राप्त होने पर
प्रायः उसी के अनुरूप ही आगे के विचार बनते रहते हैं। इस क्रम से अनेक
जिन्दगियाँ बरबाद हो जाती है। अतः विचारवानृ इन्सान को चाहिए
कि अपने मन के किसी भी कोने मे अभिमान न रहने दे।

{1028}

अहिंसा को पूर्ण स्वरूप प्रदान करना
है तो उसक दोनों पक्षों का पर्याप्त ज्ञान तथा
समन्वित आचरण होना चाहिये। किसी को दुःख न दें-यह कर्त्तव्य है
किन्तु किसी का दुःख देख कर हृदय द्रवित हो जाय और उसके
दुःख को दूर करने के लिये अर्थात् उसे सुख पहुँचाने के लिये
प्रयास किया जाय-
वह करूणा, रक्षा, मैत्री, बंधुता, प्रेम आदि सभी
अहिंसा के विधि मूलक पक्ष के अंग है।

{1029}

{1030}

भौतिक आनन्द क्षणिक (टेम्परेरी) आनन्द है। इससे ऊपर उठकर देखिये तो सही, असीम आत्मीय आनन्द सागर लहरा रहा है भीतर में।

{1031}

'सम्यकत्व' अवस्था निज स्वरूप का विज्ञान कराने का प्राथमिक प्रयास है।

{1032}

प्राणापहरण (आत्महत्या) वस्तुतः दुःख मुक्ति नही, अपितु दुःख की दीर्घ परम्परा को बढाने वाला महाद्वार है।

{1033}

जो प्रवाह रूप में बह जाता है, उसका कोई विशेष मूल्यांकन नही होता। महत्व उसी का है जिसने अपने जीवन को कुछ विशेष मार्ग पर आरूढ किया हो।

{1034}

अध्यात्म के चरम विकास हेतु भौतिकता के साथ यथायोग्य सामंजस्य होना अनिवार्य है। शरीर भौतिक है, जो अभौतिक आत्मा से सम्बन्धित है।

{1035}

तप संयम की आराधना हो केवल मुक्त स्वरूप की उपासना के लिये। भौतिक उपलब्धि के लिये नही।

{1036}

मनुष्य जहां प्राणियों की हिंसा करता है, वहां स्वयं की भी हिंसा करता हे।

{1037}

घडीसाज घडी से भिन्न है,कार चलाने वाला, कार का निर्माता इंजीनियर कार से अलग तत्व हे इसी प्रकार वह विज्ञान स्वरूप अलग तत्व हे-आत्मा।

शुद्ध पर्यावरण के माध्यम से एक ओर तो पृथ्वी, वनस्पति, जल, वायु आदि के सूक्ष्म जीव स्वतः सुरक्षित रहते हैं तो दूसरी ओर मनुष्य तथा उसके साथ रहने वाले अथवा वन प्रान्तर में मुक्त विचरण करने वाले पशु पक्षी व अन्य प्राणी शुद्ध पर्यावरण की विद्यमानता से स्वस्थ रहते हैं। इस प्रकार उनके प्राणों की भी रक्षा होती है। इस दृष्टि से पर्यावरण की शुद्धता को बनाये रखने की जो वृत्ति होनी चाहिये, वह दयापूर्ण कोमल हृदय से ही फूट सकती है और सर्वहित को सर्वोपरि रख सकती है।

{1037}

{1038}

जीवन में मूल कर भी उद्दण्डता को अवकाश नही देना चाहिये। यह वृत्ति जीवन की उष्णता बढ़ा देती है। जो माधुर्य रस आने की अवस्था जीवन में रहती है, उस रस में यह वृत्ति अत्यधिक बाधक बन जाती है। इससे आनन्द की अनुभूति के बदले भावना की अनुभूति होने लगती है। एकाकीपन की दशा का अनुभव होने लगता है। कारण कि उस वृत्ति से प्रायः सब के साथ विरोध की दशा बन जाती है। प्रायः लोग सोचने लगते हैं कि ऐसे व्यक्ति से जितना दूर रहा जा सके उतना अच्छा। यह विचार प्रायः हर व्यक्ति के मन में चलता है। ऊपर से वे उसे प्रेम भी दिखा सकते हैं, पर अन्दर में जो अलगाव के विचार रहते हैं, वे उस उद्दण्ड व्यक्ति को स्वयं परास्त करके स्वयं के मन में शल्य की तरह चुभते हुए एकाकीपन का अनुभव कराते रहते हैं, जिससे सब साधन–सामग्री रहने पर भी वास्तविक सुख–शान्ति का अनुभव नहीं हो पाता। अतः इस वृत्ति से प्रत्येक व्यक्ति को सावधान रहने की आवश्यकता है।

स्वाध्याय की प्रणाली ही ज्ञान–साधना की पुष्ट पृष्ठभूमि होती है। स्वयं अध्ययन कर के जो ज्ञान ग्रहण और सम्पादन कियाजाता है, वह सुबोध भी होता है तो स्मृतिगम्य भी। इतना ही नहीं, स्वाध्याय की नियमितता से मौलिकता की खोज होती है और चिन्तन की नई दिशाएँ मिलती हैं। नियमित चिन्तन ही श्रेष्ठ जीवन की सुरक्षा का सम्बल होता है क्योंकि इसी धरातल से आत्मावलोकन तथा आत्मालोचन की पद्धति का विकास होता है।

{1039}

{1040}

भौतिक और आध्यात्मिक दोनों पडौसी है। यदि पडौसी-पडौसी लडने लग जायें तो जीवन शांति से आगे नही बढ सकता है, इन दोनों में उचित सामंजस्य रखिये ।

{1041}

आध्यात्मिकता एवं भौतिकता के सही ज्ञान के अभाव में यथा योग्य हेय-उपादेय की स्थिति भी नही बन सकती।

{1042}

जो आध्यात्म को सही रूप से जान लेता है, वह भौतिक स्वरूप को भी यथार्थता के परिप्रेक्ष्य में जान लेता है।

{1043}

आज विश्व शांति खतरे में पड़ी है, बडे-बडे राष्ट्र एक दूसरे के सामने कमर कसकर खडे हो गए हैं, परन्तु उनमें यदि आध्यात्मिक प्रवेश कर जाए तो संघर्ष का नामोनिशान ही न रहे।

{1044}

मानव जीवन ऐसे ही जा रहा है-कपूर की टिकिया की तरह। यदि सुगंध लेना है तो ले लो और उड गया तो हाथ में कुछ भी नही आने वाला है।

{1045}

भौतिक पदार्थो की जो जीवन में चाह है, लोभ हैं, वही संसार का भंवर है।

{1046}

आगम (शास्त्र), जीवन का आलोक है। जिसके प्रकाश में निज-पर स्वरूप को देखा जा सकता है।

{1047}

कपूर की टिकिया को तिजोरी में वंद करके रख लो, तो क्या वह टिक सकेगी ? नही। वैसे ही हमारी आयुष्य उड़ती जा रही हे, इसे कितना ही सुरक्षित रखने का प्रयास करो, वह रह नहीं सकती।

वस्तुतः संस्कार मनुष्य के कृतित्त्व का ही प्रभाव रूप होता है जो परम्परा में ढलकर संस्कृति का स्वरूप ग्रहण करता है। ये संस्कृतियां ही विभिन्न काल खंडो, देशों अथवा जातियो के गुणावगुणों की परिचायक होती हैं। संस्कार जब कृति की क्रमिक श्रृंखला से जुड जाते हं, तभी वे संस्कृति वनते हैं। संस्कृति ओर कुछ नहीं, प्रतिष्ठित मूल्यों तथा निर्मित संस्कारों की थाती ही तो होती है। {1048}

इन्द्रिय ओर द्रव्यमन के साथ भावमन के अन्तर्गत उपयोग-मन की आसक्ति जिस भोतिक पदार्थ के प्रति वनती हे, उस पदार्थ के अनुरूप अत्यधिक सूक्ष्म परमाणु का स्कंदभाव मन के साथ ओत-प्रोत होते हुए भी वीजरूप से आत्मा के साथ संयुक्त हो जाता है जो कि कर्मसंज्ञा के रूप में कहलाने लगता है। उस स्कन्ध की अवधि भी भावमन के अन्तर्गत ही अध्यवसायसंज्ञक परिणाम के अनुसार वनती है। जव अवधि की समाप्ति का समय आता है, तब वह स्कन्ध फल देने की स्थिति में अंकुरित होकर मानो झाड़ का रूप धारण करता है। उस समय द्रव्यमन और इन्द्रियों पर यथासम्भव असर होता है एवं उपयोग की स्थिति के साथ अच्छे बुरे का अनुभव होता है और उस अवस्था को सही रूप में नही पहचानने के कारण आसक्ति और पुनः उसके अनुपात से सूक्ष्म स्कन्ध की बीजरूप में संयुक्त होने की प्रक्रियाएँ बनती-बिगडती रहती हैं। इन सबका यथास्थान सूक्ष्मज्ञान करना अत्यावश्यक है। {1049}

व्यक्ति से समाज का कोई पृथक् अस्तित्व नही होता है और वस्तुतः व्यक्ति-व्यक्ति मिल कर ही तो विभिन्न प्रकार के समूहों का निर्माण करते हैं तथा समूहों का समूह ही समाज कहलाता है। फिर भी मनुष्य की व्याख्या करते समय उसे प्रधान रूप से सामाजिक प्राणी कहा जाता है, क्योंकि समाज की रचना की क्षमता समस्त प्राणियों में केवल मनुष्य की ही होती है जो उसका व्यवस्थित रूप से संगठन करता है तथा प्रबन्ध चलाता है। {1050}

{1051}

स्वत्व की रक्षा
के लिये वैभाविक वृत्तियों
का विलगीकरण आवश्यक है।
वैभाविक परिणतियां कभी भी
आत्मा को त्राण या शरण देने
में समर्थ नही हो सकती।

{1052}

बार-बार
मोहासक्ति में रहने
वाला, साधक न संसार के
इस पर रह पाता है, न उस
पार, उसके साथ उभय जन्म
बिगड जाते है।

{1053}

शास्त्र, भवसागर
में डुबते हुए प्राणी के
लिए एक नौका रूप है,
अवलम्बन स्वरूप है।

{1054}

साधक को अपने अन्तरंग
का विचक्षण प्रज्ञा से समीक्षण करना
होगा, सम्यक् प्रकार से वीक्षण करने के बाद ही
संशोधन किया जा सकता है। जैसे कंकर युक्त
धान्य से संशोधन द्वारा कंकरों से धान्य अलग
किया जा सकता है वैसे
ही आत्मा और कर्म की एकाकारता का समीक्षण
कर सत्पुरुषार्थ के द्वारा
उनका संशोधन करना चाहिए।

{1055}

जो साधक अध्यात्म
साधना में तन्मय बनकर
समीक्षण ध्यान से स्वात्मा का
संशोधन करता है, वह
एक दिन परमात्म भाव
को पा लेता है।

{1056}

रक्षाबंधन पर्व पर
धागा बांधना महत्वपूर्ण कार्य
है, परन्तु धागा बाहर का नही
हो (धागे को गुण भी कहा
जाता है) गुण का धागा आत्मा
के बांध दिया जाय।

{1057}

बाहरी बंधन
तोडना तो फिर भी
आसान है, पर मोह के
बंधन तोडना मुश्किल है।

{1058}

आज मनुष्यों का गौरव,
समाज का गौरव, धर्म का गौरव
ये सव आपको रक्षा सूत्र बांधने को तत्पर हे,
क्या कोई भाई रक्षा बंधाने को तेयार हे? जव
उनके ऊपर आपत्ति आती हे,धर्म समाज, राष्ट्र
और विश्व का गोरव नष्ट होता हो तो भारतीय
अपना कर्तव्य अदा करने को
तेयार हे या नही?

वस्तुतः संस्कार मनुष्य के कृतित्त्व का
ही प्रभाव रूप होता है जो परम्परा में ढलकर
संस्कृति का स्वरूप ग्रहण करता है। ये संस्कृतिया ही विभिन्न
काल खंडो, देशों अथवा जातियों के गुणावगुणों की परिचायक
होती हैं। संस्कार जब कृति की क्रमिक श्रृंखला से जुड जाते हैं,
तभी वे संस्कृति बनते हैं। संस्कृति और कुछ नही, प्रतिष्ठित मूल्यों
तथा निर्मित संस्कारों की थाती ही तो होती है।

{1048}

इन्द्रिय ओर द्रव्यमन के साथ भावमन के
अन्तर्गत उपयोग-मन की आसक्ति जिस भौतिक
पदार्थ के प्रति बनती है, उस पदार्थ के अनुरूप अत्यधिक
सूक्ष्म परमाणु का स्कंदभाव मन के साथ ओत-प्रोत होते हुए भी बीजरूप से
आत्मा के साथ संयुक्त हो जाता है जो कि कर्मसंज्ञा के रूप में कहलाने
लगता है। उस स्कन्ध की अवधि भी भावमन के अन्तर्गत ही अध्यवसायसंज्ञक
परिणाम के अनुसार बनती है। जब अवधि की समाप्ति का समय आता है,
तब वह स्कन्ध फल देने की स्थिति में अंकुरित होकर मानो झाड़ का रूप
धारण करता है। उस समय द्रव्यमन और इन्द्रियों पर यथासम्भव असर
होता है एवं उपयोग की स्थिति के साथ अच्छे बुरे का अनुभव होता है और
उस अवस्था को सही रूप में नही पहचानने के कारण आसक्ति और पुनः
उसके अनुपात से सूक्ष्म स्कन्ध की बीजरूप में संयुक्त होने की प्रक्रियाएँ
बनती-बिगडती रहती हैं। इन सबका यथास्थान
सूक्ष्मज्ञान करना अत्यावश्यक है।

{1049}

व्यक्ति से समाज का कोई पृथक् अस्तित्व
नही होता है और वस्तुतः व्यक्ति-व्यक्ति मिल
कर ही तो विभिन्न प्रकार के समूहों का निर्माण करते हैं तथा
समूहों का समूह ही समाज कहलाता है। फिर भी मनुष्य की व्याख्या
करते समय उसे प्रधान रूप से सामाजिक प्राणी कहा जाता है,
क्योंकि समाज की रचना की क्षमता समस्त प्राणियों में केवल
मनुष्य की ही होती है जो उसका व्यवस्थित रूप से संगठन
करता है तथा प्रबन्ध चलाता है।

{1050}

{1051}

स्वत्व की रक्षा
के लिये वैभाविक वृत्तियों
का विलगीकरण आवश्यक है।
वैभाविक परिणतियां कभी भी
आत्मा को त्राण या शरण देने
में समर्थ नही हो सकती।

{1052}

बार-बार
मोहासक्ति में रहने
वाला, साधक न संसार के
इस पर रह पाता है, न उस
पार, उसके साथ उभय जन्म
बिगड जाते है।

{1053}

शास्त्र, भवसागर
में डुबते हुए प्राणी के
लिए एक नौका रूप है,
अवलम्बन स्वरूप है।

{1054}

साधक को अपने अन्तरंग
का विचक्षण प्रज्ञा से समीक्षण करना
होगा, सम्यक् प्रकार से वीक्षण करने के बाद ही
संशोधन किया जा सकता है। जैसे कंकर युक्त
धान्य से संशोधन द्वारा कंकरों से धान्य अलग
किया जा सकता है वैसे
ही आत्मा और कर्म की एकाकारता का समीक्षण
कर सत्पुरुषार्थ के द्वारा
उनका संशोधन करना चाहिए।

{1055}

जो साधक अध्यात्म
साधना में तन्मय बनकर
समीक्षण ध्यान से स्वात्मा का
संशोधन करता है, वह
एक दिन परमात्म भाव
को पा लेता है।

{1056}

रक्षाबंधन पर्व पर
धागा बांधना महत्वपूर्ण कार्य
है, परन्तु धागा बाहर का नहीं
हो (धागे को गुण भी कहा
जाता है) गुण का धागा आत्मा
के बांध दिया जाय।

{1057}

बाहरी बंधन
तोड़ना तो फिर भी
आसान है, पर मोह के
बंधन तोडना मुश्किल है।

{1058}

आज मनुष्यों का गौरव,
समाज का गौरव, धर्म का गौरव
ये सब आपको रक्षा सूत्र बांधने को तत्पर हे,
क्या कोई भाई रक्षा बंधाने को तैयार है? जव
उनके ऊपर आपत्ति आती है,धर्म समाज, राष्ट्र
और विश्व का गौरव नष्ट होता हो तो भारतीय
अपना कर्तव्य अदा करने को
तैयार है या नही?

{1059}

भाषा का जितना अधिक
महत्त्व होता है, विचारणीय है
कि उसका विवेक भी उतना ही
अधिक प्रखर होना चाहिये। एक-एक बात और
बोल का ध्यान होना चाहिये
कि उसके बोलने से उसके जीवन
की कैसी झलक दूसरे
को मिल रही है।

{1060}

संस्कार वह शक्ति
है जो मनुष्य को समाज से
जोड़ती है तो उसे समाज की
निरन्तरता का भी
बोध कराती है।

{1061}

कर्त्तव्य-पालन एक
ऐसी सबल और सुन्दर प्रक्रिया है
जो यदि निर्बाध रूप से चलती
रहे तो जीवन की संस्कृति एवं
प्रगति का सब कुछ उसमें
समाहित हो जाता है।

{1062}

धर्म ही आत्मा का
प्राण है क्योंकि धर्म के बिना आत्मा का
अस्तित्व शून्य जैसा होता है अतः धर्म
की उपेक्षा करने का साफ साफ मतलब
यही निकलेगा कि अपनी ही आत्मा की
उपेक्षा की जा रही है।

{1063}

ब्रह्मचर्य जीवन है। उससे
शक्ति का विकास होता है। जहाँ शक्ति
है वहाँ रोगों का आक्रमण नही होता है।
अशक्त एवं दुर्बल व्यक्ति ही रोगों द्वारा
सताये जाते हैं। निरोग बनने के लिये
ब्रह्मचर्य व्रत स्वीकार करें।

{1064}

यदि बहुमुखी तेजस्विता
से कोई अपने जीवन को
विभूषित बनाना चाहता है तो उसे
अधिकतम निष्ठा एवं कठोरता के साथ
ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना चाहिये।
एक ब्रह्मचारी व्रत की आन्तरिकता में
अलौकिक शक्तियों का
अपार भण्डार होता है।

कोई भी कुशल राजनेता
बोलता बहुत मीठा है, भले-भले आश्वासन भी
देता है, किन्तु उसकी
वह कथनी जब करनी में नही उतरती है तो
निन्दा का पात्र बनता है उसका भाषा-विवेक ही
तो। अतः संस्कारों के निर्माण में भाषा-विवेक
को पूरा-पूरा महत्व देना चाहिये।

{1065}

संस्कारहीनता
कहेंगे कि जो सबसे पहिले
निज के स्वार्थो पर ही अपने
ध्यान एवं पुरुषार्थ
को केन्द्रित
बना दें।

{1066}

{1067}

हरे वृक्षों में जान है।
उनको कटवाना,उनके फल,
फूल पत्तियों को उखाडना हिंसा है।
हिंसा कभी धर्म नही होती। अपने
प्राणों की जब हम रक्षा करना
चाहते हैं तो क्या उन प्राणियों
का रक्षण करना हमारा
दायित्व नही हैं?

{1068}

जैसे अग्नि थोडे
समय में रूई के ढेर को भस्म
कर देती है उसी प्रकार
कषाय आत्मा के समस्त
गुणों को भस्म कर देते हैं।

{1069}

मन जब
वीरता धारण
कर लेता है, तो वह सब
कुछ कर
सकता है।

{1070}

स्वाध्याय का पहला फल
चिन्तन शक्ति के उद्‌भव एवं विकास
के रूप में मिलता है। यह चिन्तन शक्ति जितनी
सबल होती है,समझिये कि जीवन शैली उतनी
ही शुद्ध और विकार रहित बनती है।
चिन्तन,ज्ञान का दूरबीन होता है जो तत्वों व
सिद्धांतों की सूक्ष्मता
को हृदयंगम कराता है।

{1071}

वन्दना शरीर से
बढकर आत्मा का मोड़
बनती है। यह कायिक क्रिया
समुन्नत होती हुई सूक्ष्म आत्मिक
क्रिया बन जाती है तथा सम्पूर्ण
वातावरण को विनय सम्पन्न
बना देती है।

{1072}

लोभ का कही अन्त
ही नही होता। ज्यों-ज्यों
धन बढता है त्यों-त्यों लोभ भी
बढता जाता है,और ज्यों- ज्यों
लोभ बढता है
त्यों-त्यों पाप बढता है।

{1073}

अगर अपनी
आत्मा की रक्षा
करना है, उसे निर्भय
बनाना है तो अप्रमत्त भाव
जागृत करना होगा।

{1074}

स्वाध्याय से प्राप्त ऊर्जा की
शक्ति के फलस्वरूप आध्यात्मिक क्षेत्र में कई
सिद्धियाँ प्राप्त की जा सकती हे किन्तु
सामान्यतया भी ऐसे सद्‌गुणों का विकास किया
जा सकता है जिनकी सहायता से व्यक्ति एवं
समाज के जीवन को संवारा जा सके।

{1059}

भाषा का जितना अधिक महत्त्व होता है, विचारणीय है कि उसका विवेक भी उतना ही अधिक प्रखर होना चाहिये। एक-एक बात और बोल का ध्यान होना चाहिये कि उसके बोलने से उसके जीवन की कैसी झलक दूसरे को मिल रही है।

{1060}

संस्कार वह शक्ति है जो मनुष्य को समाज से जोड़ती है तो उसे समाज की निरन्तरता का भी बोध कराती है।

{1061}

कर्त्तव्य-पालन एक ऐसी सबल और सुन्दर प्रक्रिया है जो यदि निर्बाध रूप से चलती रहे तो जीवन की संस्कृति एवं प्रगति का सब कुछ उसमें समाहित हो जाता है।

{1062}

धर्म ही आत्मा का प्राण है क्योंकि धर्म के बिना आत्मा का अस्तित्व शून्य जैसा होता है अतः धर्म की उपेक्षा करने का साफ साफ मतलब यही निकलेगा कि अपनी ही आत्मा की उपेक्षा की जा रही है।

{1063}

ब्रह्मचर्य जीवन है। उससे शक्ति का विकास होता है। जहाँ शक्ति है वहाँ रोगों का आक्रमण नही होता है। अशक्त एवं दुर्बल व्यक्ति ही रोगों द्वारा सताये जाते हैं। निरोग बनने के लिये ब्रह्मचर्य व्रत स्वीकार करें।

{1064}

यदि बहुमुखी तेजस्विता से कोई अपने जीवन को विभूषित बनाना चाहता है तो उसे अधिकतम निष्ठा एवं कठोरता के साथ ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना चाहिये। एक ब्रह्मचारी व्रत की आन्तरिकता में अलौकिक शक्तियों का अपार भण्डार होता है।

{1065}

कोई भी कुशल राजनेता बोलता बहुत मीठा है, भले-भले आश्वासन भी देता है, किन्तु उसकी वह कथनी जब करनी में नही उतरती है तो निन्दा का पात्र बनता है उसका भाषा-विवेक ही तो। अतः संस्कारों के निर्माण में भाषा-विवेक को पूरा-पूरा महत्व देना चाहिये।

{1066}

संस्कारहीनता कहेंगे कि जो सबसे पहिले निज के स्वार्थों पर ही अपने ध्यान एवं पुरुषार्थ को केन्द्रित बना दें।

{1067}

हरे वृक्षों में जान है। उनको कटवाना,उनके फल, फूल पत्तियों को उखाड़ना हिंसा है। हिंसा कभी धर्म नही होती। अपने प्राणों की जब हम रक्षा करना चाहते हैं तो क्या उन प्राणियों का रक्षण करना हमारा दायित्व नही हैं?

{1068}

जैसे अग्नि थोडे समय में रूई के ढेर को भस्म कर देती है उसी प्रकार कषाय आत्मा के समस्त गुणों को भस्म कर देते हैं।

{1069}

मन जब वीरता धारण कर लेता है, तो वह सब कुछ कर सकता है।

{1070}

स्वाध्याय का पहला फल चिन्तन शक्ति के उद्भव एवं विकास के रूप में मिलता है। यह चिन्तन शक्ति जितनी सबल होती है,समझिये कि जीवन शैली उतनी ही शुद्ध और विकार रहित बनती है। चिन्तन,ज्ञान का दूरबीन होता है जो तत्वों व सिद्धांतों की सूक्ष्मता को हृदयंगम कराता है।

{1071}

वन्दना शरीर से बढकर आत्मा का मोड बनती है। यह कायिक क्रिया समुन्नत होती हुई सूक्ष्म आत्मिक क्रिया बन जाती है तथा सम्पूर्ण वातावरण को विनय सम्पन्न बना देती है।

{1072}

लोभ का कही अन्त ही नहीं होता। ज्यों-ज्यों धन बढता है त्यों-त्यों लोभ भी बढता जाता है,और ज्यों- ज्यों लोभ बढता है त्यों-त्यों पाप बढता है।

{1073}

अगर अपनी आत्मा की रक्षा करना है, उसे निर्भय बनाना है तो अप्रमत्त भाव जागृत करना होगा।

{1074}

स्वाध्याय से प्राप्त ऊर्जा की शक्ति के फलस्वरूप आध्यात्मिक क्षेत्र में कई सिद्धियाँ प्राप्त की जा सकती है किन्तु सामान्यतया भी ऐसे सद्‌गुणों का विकास किया जा सकता है जिनकी सहायता से व्यक्ति एवं समाज के जीवन को संवारा जा सके।

{1075}

'स्व' का शुभ कल्याण आत्मा को सन्मुख रखने से ही सम्भव वनता हे। जो आत्मा की अधि-सन्मुख वनावे, वह अध्यात्म हे और इससे संवंधित ज्ञान को आध्यात्मिक ज्ञान कहा जाता है। यह आध्यात्मिक ज्ञान ही आत्म स्वरूप की पहिचान कराता है तथा उसके कर्मावरणों को दूर हटाकर उसे परम विशुद्ध वनाने के पुरुषार्थ का आह्वान करता हे।

{1076}

वन्दना सदा और सर्वत्र विजयी होती हे-वह कही भी, कभी भी, किसी से भी पराजित या अपमानित नही होती हे।

{1077}

अन्न वै प्राणा. जल वे प्राणाः- अन्न ही प्राण हे, जल ही प्राण हे, इसलिए अन्न ओर जल का सदुपयोग करना हमारा पुनीत कर्त्तव्य हे। उनको वर्वाद करना अथवा उनका दुरूपयोग करना धार्मिक एवं नैतिक अपराध है। इन अपराधों से वचना और वचाना प्रत्येक इन्सान का प्राथमिक धर्म हे।

{1078}

पर्यावरण के प्रदूषणों का निवारण तथा ऐसी स्थायी व्यवस्था जिससे कि प्रदूषण निवारण का काम दुःसाध्य या असाध्य न हो-आज की प्रमुख आवश्यकता हो गई हे क्योंकि इससे ही सर्व जीवों की हिंसा दूर करने तथा उनकी रक्षा करने का उपाय किया जा सकता हे।

{1079}

पर्यावरण की शुद्धता अथवा अशुद्धता संसार को प्रभावित किये बिना नही रह सकती है। पृथ्वी,वायु,जल, वनस्पति आदि की स्थिति रूप आवरण एक प्रकार से सारी धरती और आकाश को घेरे रहती है और इसके घेरे मे मनुष्य आदि सभी प्राणी आ जाते है, जो पर्यावरण से आवृति रहते है।

{1080}

पर्यावरण रक्षा का एक महत्वपूर्ण कार्य यह भी होता है कि वनस्पति, जल, वायु, पृथ्वी तथा उनके उत्पादनों की गुणवत्ता का श्रेष्ठ स्तर बनाये रखा जाय, जिसके कारण सूक्ष्म एवं स्थूल सभी प्राणियों के प्राणों का पोषण यथावत रीति से होता रहे।

मनुष्य अपने आत्म स्वभाव में स्थित रहने का पुरुषार्थ करें। यह जिस दिन सम्पूर्ण सफलता प्राप्त कर लेता है, उस दिन आत्मा इस संसार से मुक्त होकर सिद्ध रूप में ज्योति में ज्योति स्वरूप रूप बनकर सदा काल के लिये विराजमान हो जाती है, अतः स्वः भाव में स्थिति से ही धर्म की प्राप्ति होती है।

{1081}

विलासमय ज़ीवन व्यतीत करके विलास की गोद में मरने वाला उस कीट के समान है जो अशुचि में ही उत्पन्न होकर अशुचि में ही मरता है।

{1082}

{1083}

मन जो बाहर के
नश्वर सुखों की तरफ
भागता है और इन्द्रियों की गति
को भी उनके लिये भ्रष्ट बनाता
है,यदि आत्म नियंत्रण में आ जाय
तो वही आत्म- विकास की एक
प्रबल सहायक शक्ति
बन जाता है।

{1084}

त्यागमय जीवन की
धारा के प्रवाह को बनाये
रखने के लिये तीनों काल
में चलने वाले आचरण का अंकन
किया गया है। इसका परिचय
प्रतिक्रमण की क्रिया
से मिलता है।

{1085}

दूसरों के हित
में अपना हित तो
स्वयं ही समा जाता
है-स्वहित तथा परहित एक
तुला पर आरूढ
हो जाते हैं।

{1086}

आत्मा जब स्वस्थ चेतना और
ज्ञान में रमण करती है याने कि
धर्म साधना में मगन होती है, तब वह स्वभाव में
विचरण करती है तब अपूर्व सुख की अनुभूति
करती है और जब वह रूप,रस,गंध,वर्ण और
स्पर्श के विषयों में रमण करती है तब वह
तदनुरूप जड पदार्थो में विचरण करती है।

{1087}

श्रेष्ठ जीवन का
रहस्य कोई रहस्य नही
है, वह तो प्रत्याख्यान और त्याग
की खुली पुस्तक है जिसे हर कोई
पढ सकता है तथा व्रताचरण से
जीवन की श्रेष्ठता को प्राप्त
कर सकता है।

{1088}

आत्म पुरुषार्थ
की सक्रियता त्याग तप
के आचरण को कठोरतम वनाती
जाती हैं और इस
आत्मा का स्वरूप
समुन्नत होता जाता है।

{1089}

किसी को
भी किसी के प्राण
लेने का अधिकार नही है
चाहे वे उन प्राणों के
रचयिता ही क्यों
न हों।

{1090}

हम जिधर चाहे उधर जा
सकते हैं। एक संसार का मार्ग
है, दूसरा मुक्ति का मार्ग हे। एक
वन्धन का मार्ग हे, दूसरा स्वाधीनता का मार्ग
हे। स्वाध्याय हमें दिशा देता हे कि हम संसार
और वन्धन के मार्ग पर नही, मुक्ति
ओर स्वाधीनता के मार्ग पर चलें।

{1091}

प्रदूषण चाहे बाहर के पर्यावरण मे आवे या मन के पर्यावरण में-सहन नही किया जाना चाहिये तथा उसके शुद्धिकरण के यथासाध्य शीघ्र प्रयत्न करने चाहिये ताकि समग्र रूप से वायुमण्डल की प्रदूषण मुक्ति अन्ततोगत्वा आत्म-विकास को प्रेरित कर सके। बाह्य और आन्तरिक पर्यावरण पृथक नही होते-वे एक दूसरे को अपनी शुद्धता अथवा अशुद्धता से तदनुसार अवश्यमेव प्रभावित करते हं तथा जीवन निर्माण को ढालते हैं।

{1092}

सत्य और अहिंसा को मानव जीवन के साध्य और साधन मान लं तब भी सर्वोच्च विकास साधा जा सकता है क्योकि झूठ और हिंसा के त्याग मे सभी दुर्गुणों का त्याग समा जाता है।

{1093}

सभी प्रकार के प्रदूषणों से मुक्ति पाने के लिए यह आवश्यक है भीतर के प्रदूषणों से मुक्ति पाई जाय तथा आन्तरिक पर्यावरण का सुधार किया जाय। मूलतः अन्तःकरण की विशुद्धि ही सभी प्रकार की अशुद्धियों के निवारण की कारण-भूत बनती है।

{1094}

क्रोध से पराजित व्यक्ति कभी भी सुख का अनुभव नही करते हं। क्रोध एक पागलपन लाता हे-व्यक्ति के मन मानस में ऐसा विष फेला देता हे कि वह शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक रूप से क्षत-विक्षत हो जाता हे।

{1096}

मनुष्य के मन में धन, सम्पत्ति, पद, अधिकार, सत्ता या भोग्य सामग्री के प्रति जो ऐसी मूर्छा होती है वह उसकी तृष्णा का दुष्परिणाम होता है। इच्छाओं का कभी अन्त नही होता और उन इच्छाओं की लालसा में भडकी हुई तृष्णा भी अन्तहीन होती है।

{1097}

काम, क्रोध आदि विषय कषाय रूप विकारों का इस जीवन से निष्कासन समझिये कि एक दुःसाध्य कार्य होता है जिसे सम्पन्न करने के लिये अखूट आत्म विश्वास, सतत पुरुषार्थ प्रयोग एवं समत्त्व योग की सक्षमता का सद्भाव पूर्वक विकास किया जाना चाहिए।

{1098}

मन की शक्ति अपार और अद्भूत होती है। यह मन ही मनुष्यों के बन्धन का कारण होता है तथा इसी मन की सहायता से सभी प्रकार के बन्धनों से मुक्ति भी प्राप्त की जा सकती है।तो इसके अपने ही प्रदूषण से मुक्ति प्राप्त करना भी निश्चय रूप से इसी मन के हाथ मे है। कारण अपने भीतर दोष-प्रदोष का प्रवेश भी तो यह मन अपनी असावधानी तथा अपने अविवेक से ही होने देता है।

{1099}

जीवन के विकासशील उद्देश्य के निर्धारण तथा कार्यान्वयन पर प्रत्याख्यान, त्याग और व्रताचरण का बहुत ही कार्य -कारी प्रभाव होता है तथा प्रगति सरल और सुसाध्य बन जाती है।

{1100}

दान देने के लिये
धन का अपने पास
सद्भाव आवश्यक है, किन्तु धन
का सद्भाव हो-इतना मात्र ही
पर्याप्त नही है। धन हो और
हृदय की उदारता भी हो, तब
दान दिया जा सकता है।

{1101}

दान वास्तव में हृदय
की करुणामय या श्रद्धामय
भावना से उद्भूत आचरण या कि
सहयोग होता है, जिसके पीछे न
कोई स्वार्थ होना चाहिये और न ही
किसी के प्रतिदान का विचार।

{1102}

जैसे पृथ्वी
के आधार बिना
कोई वस्तु टिक नही सकती
वैसे ही सामायिक का आश्रय
पाये बिना दूसरे गुण टिक
नही सकते।

{1103}

मन का शुद्धिकरण आत्म-
पुरुषार्थ को कर्म क्षय की दिशा में
अग्रगामी बनाता है और उसे कर्म मुक्ति के
समीप ले जाता है। तब मन संयम की सीमाओं
मे स्थिर बनकर शुद्ध स्वरूप की ओर अग्रसर
होता हुआ आत्मा के अनुशासन में चलने लगता
है जिसके फलस्वरूप उसके फिर से
प्रदूषणग्रस्त बनने की सम्भावना
कम रह जाती है।

{1104}

दान मूलतः
भावनात्मक होने से धार्मिक
सुकृत्य तो है ही, किन्तु दान की
यदि व्यवस्थित रूप रेखा हो तथा
संविभाग का समुचित व्यवहार तो
दान का सुपरिणाम अर्थ के
विकेन्द्रीकरण में प्रतिफलित
किया जा सकता है।

{1105}

दान का अन्तर्भाव
होता है देने की उत्सुकता,
जो भी अपने पास हो और जो भी
लेने वाले के लिए अनुकूल हो।
दान सभी प्रकार से आत्मोन्नायक
यह आपेक्षिक कथन है।

{1106}

"अहिंसा परमोधर्म"
धर्म का मूल भाव अहिंसा
है। सब पुरुषों का परम
कर्तव्य बन जाता है कि धर्म
की रक्षा करें। जो धर्म की
रक्षा करता है, धर्म उसकी
रक्षा करता हे।

{1107}

पास में पडे गन्ने के टुकडे को
देखने मात्र से रस का आस्वादन नही
हो सकता। रसास्वादन तभी होगा जब उसे
चूसेंगे, रस को लेंगे, नीरस को फेकेंगे, वेसे ही
शास्त्रीय वाणी का रस सिर्फ याद करने मात्र से
नही, अपितु उसके साथ चिंतन मनन,
आत्म-समीक्षण व आत्म- संशोधन
करने से ही आ सकेगा।

{1108}

पंच परमेष्ठी को नित प्रति वन्दना करने से भव्य आत्माओ को प्रतिबोध मिलता हे, अपनी स्वरूप शुद्धि की ओर उनकी रूचि जागती हे तथा आदर्श के समक्ष रहने से धर्म मे कठिन पुरुषार्थ करने की प्रवृत्ति पनपती हैं। यह वंदना संकट चूर्ण करने ओर आशा पूर्ण करने वाली होती हे तथा इससे परमानन्द की प्राप्ति होती हे।

{1109}

समभाव के बिना संसार नरक के समान हे। उसके अभाव में जीवन अस्थिर, अशान्त, क्लेशमय और संताप- युक्त बनता है।जीवन में जितनी मात्रा में समभाव की वृद्धि होगी उतनी ही मात्रा में सुख मे वृद्धि होगी।

{1110}

जो लोग भोजन,वस्त्र मकान आदि के उपयोग में ही अपने जीवन की सार्थकता समझते है, वे घोर अन्धकार में हैं।जीवन की सार्थकता आत्मा के उस विकास में निहित है जो न केवल क्षुद्र वर्तमान में ही उपयोगी एवं कल्याणमय है वरन् जिससे अनन्त मंगल की प्राप्ति होती है।

{1111}

दान देने मे अपने हृदय की उदारता परमावश्यक हे। हृदय की यह उदारता धार्मिक संस्कारों से बनती और पनपती है तथा मानवीय संवेदना से परिपूरित हृदय हो तव भी उदारता निखरती है। दान आचरण भी होता है तो भाव भी और दान कर्त्तव्य भी होता है तो करूणा का परिणाम भी।

{1112}

सम्पूर्ण मानव जाति की दयनीय स्थिति मिटाने के लिए एक ही मार्ग है। और वह है – समता का आदर्श। इस आदर्श को उपस्थित करने के लिए व्यर्थ के भार स्वरूप रीति रिवाजों को छोड़ना परिवार, समाज, राष्ट्र के समुचित विकास के लिए आवश्यक है।

{1113}

केवल विनाश कर देना ही क्रान्ति नहीं होती है रीति रिवाजों का जो भार और दोष है उसे निकाल दीजिये लेकिन यहीं पर रूकिये नहीं। सही काम आगे होता है कि रीतियों को नया स्वरूप प्रदान किया जाय।

{1114}

वन्दनीयों को श्रेष्ठ भावों के साथ की जाने वाली वन्दना सदा अपराजेय रहती है। वह किसी के भी हाथों अपमानित अथवा पराजित नहीं होती है। झुकने वाले माथे को तो सभी हाथों हाथ उठाते हैं, बल्कि उत्कृष्ठ गुणवत्ता के विकास के साथ तो उस माथे को अपना माथा झुकाते हैं। अतिशय नम्रता सबका मान भंग कर देती है और सामने वाले को भी नम्रता से ओतप्रोत बना देती है।

{1115}

यह आत्मा ही सामायिक याने समत्वभाव रूप है और यही आत्मा सामायिक के अर्थ विशुद्धि के रूप में सुप्रकाशित होती है अर्थात् आत्मा ही सामायिक है और आत्मा ही सामायिक का अर्थ।

{1116}

जहां परिवार, समाज एवं राष्ट्र की निंदा होती हो वहां मनुष्य गर्दन नीची करके चलता बने, जहां बाहर के कर्त्तव्य का, बाहर के गौरव की रक्षा का भी ख्याल नही तो वह आध्यात्मिकता की रक्षा क्या कर सकेगा ?

{1117}

जितने कदम बढेंगे, उतना ही शहर को नजदीक लेंगे, जितना मोह का त्याग करेंगे उतने ही मोक्ष के नजदीक आयेंगे।

{1118}

छोटी सी चूक से कई बार बड़े बडे दंगे भड़क उठते हैं और सैकडों निर्दोष प्राणियों का होम हो जाता है।

{1119}

एक माँ को ममता का भंडार माना जाता है और ममता ही मातृत्व का सर्वोच्च लक्षण है। इस गर्भपात के रूप में जब माँ ही अपने मातृत्व के साथ ऐसा क्रूर खिलवाड करती है तो क्या वह माँ के माथे पर कलंक का काला टीका नही होगा? अपनी रचना के साथ माँ का ही इस रूप में क्रूर उपहास अकल्पनीय ही कहलायेगा।

{1120}

हर आत्मा अपनी शक्ति का परिपूर्ण जागरण कर सकती है, आवश्यकता है -आत्मिक टार्च से इन्द्रियों द्वारा आने वाले प्रकाश को सही दिशा में नियोजित करने की।

{1121}

धन, परिवार, वैभव से अगर कोई व्यक्ति यह कल्पना करता हो कि मेरा कल्याण हो जाय तो यह त्रिकाल में भी संभव नही।

{1122}

शरीर तो एक दिन जाने वाला है, इसमें से जितना माल निकालना चाहो, निकाल लो।

{1123}

वन्दना और विनय एक ही सिक्के के दो पहलू होते हे। विनय से जब किसी का हृदय ओतप्रोत होता हे तभी सहज भाव से वन्दना की क्रिया सम्भव होती हे। वन्दना कायिक क्रिया होती हे किन्तु इस क्रिया से शरीर के सारे अंग प्रत्यंगों मे ही एक सरलता का झुकाव नही आता बल्कि भीतर का मन भी विनयावनत हो जाता ह। सम्पूर्ण जीवन मे विनम्रता,मृदुलता आर सरलता की त्रिवेणी वहने लगती ह।

{1124}

संस्कार शब्द भी कार्य की
समानता अथवा समता का बोधक है।
इससे सम्यक् स्वरूप का बोध भी लिया जा सकता
है।जो करें वह समत्व से जुड़ा हुआ हो तो संस्कार
कहेंगे। यह व्याख्या कुछ अटपटी लग सकती है
क्योंकि सामान्य धारणा यह है कि संस्कार वह है जो
दिया-लिया जाता है। यह धारणा भी गलत नहीं है।
संस्कार तो किया जाता है किन्तु उसका
प्रभाव अवश्य लिया दिया जाता है।

{1125}

भौतिकता में
उलझा आज का
वैज्ञानिक चर्म चक्षुओं से दृष्ट
पदार्थों को ही अन्वेषणा कर
सकता है, अन्तरंग के सूक्ष्म
तत्त्वों की नहीं।

{1126}

जैसे पानी मिले दुग्ध
में हंस, चोंच के जाने से
दुग्ध व पानी अलग -अलग हो जाता
है, वैसे ही सर्वज्ञ के नाम पर कही गई
छद्मस्थ की वाणी का विभागीकरण,
सत्य का स्पष्टीकरण, शास्त्र विज्ञाता
व्यक्ति कर लेते हैं।

{1127}

विश्व का वैभव एक
तरफ, विश्व की सारी संपत्ति
एक पलड़े में रख दी जाय और
इधर मानव जीवन का मूल्य, मानव
जीवन की गरिमा दूसरे पलड़े में रख
दी जाये, तो भी इसकी तुलना
नहीं की जा सकती।

{1128}

युवकों में होश एवं जोश
दोनों ही होने चाहिए। केवल
होश रखें, जोश नही रखे या केवल
जोश रखें परन्तु होश नहीं रखे तो काम
नहीं चलेगा। जब दोनों आ जाते हैं तो
कोई कारण नहीं कि गति
और प्रगति में रूकावट हो।

{1129}

पानी गतिशील होता
है, वह कही भी गिरे, रास्ता
बना लेता है, यदि मानव की गति
पानी की तरह बन जाए,वह शीतल
बन जाय क्षमाशील होकर चल पड़े तो
उसकी गति कैसे रूक सकती ?

{1130}

रोग निरोध के उपाय उसकी
चिकित्सा से अधिक फलदायी होते हैं।
गर्भपात जैसी बुराइयों और महापाप के कुकृत्यों को
सीधे तौर पर भी रोकिये किन्तु इनके कारणों को ही
बुनियादी तौर पर निष्प्रभावी बना सकें तो सफलता
अधिक मात्रा में और अधिक तेजी से मिल सकेगी।
मूल में दिलों और दिमागों को स्वस्थ एवं सदाचारी
दिशा में मोड़ने का प्रयत्न किया जाय-वह निश्चय ही
अधिक प्रभावकारी होगा।

{1131}

मानव तन
की बात तो ज़ाने
दीजिये- विशिष्ट शक्ति
संपन्न देव तन भी स्थायी
रूप से नहीं
रह सकता।

{1132}

भंग की विकृति
मस्तिष्क के ज्ञान
तंतुओं को इतना अधिक विकृत
बना देती है कि इससे मानव की
क्षीर-नीर विवेकिनी बुद्धि विलुप्त
सी हो जाती है।

{1133}

आज तक कोई
भी आत्मा भौतिक
आसक्ति से संबद्ध हो अपने
आपकी रक्षा
नही कर पाई।

{1134}

आत्म
संशोधन तभी होगा,
जब आत्मा, आत्मा का
ही समीक्षण करने
लगेगी।

{1135}

पंच परम इष्ट होते हैं, नमस्कार
महामंत्र के पांच पद-अरिहंत, सिद्ध, आचार्य,
उपाध्याय और लोक में रहे हुए सर्व साधु। इन्हें
की जाने वाली वंदना सर्वोत्कृष्ट वंदना होती है
क्योंकि ये पंच परमेष्ठी संसार की समस्त
आत्माओं के लिए परम उपकारी होते है।
उनके चरम कल्याण के मार्गदर्शक होते हैं।

{1136}

भव्य पुरुष को
चाहिये कि जब तक मन-वचन
काया की ऊर्जा क्षीण नही होती,
उससे पूर्व ही सत्पुरुषार्थ द्वारा
आत्मिक जागृति लाने का
प्रयास करें।

{1137}

बाह्य पदार्थों के
संचालन, नियमन, संरक्षण,
संवर्द्धन में आत्मा मुख्य रूप
से कार्यकारी
होती हे।

{1138}

आध्यात्मिक
वल जहां होता
है, वहां भौतिक
वल टिक नही सकता।

{1139}

गुरु का पद अतुलनीय होता हें,
क्योंकि उनके द्वारा ही अरिहंत एवं
सिद्ध भगवान् का परिचय मिलता हे तो उन्हीं के
श्रीमुख से धर्म की अमृतवाणी कंठ में उतरती
हे। वे ही संसार रूपी समुद्र से पार उतारने वाले
जहाज हं। तभी तो कवि ने कहा हे कि-''गुरु
गोविन्द दोनों खडे, काके लागूँ पांय। वलिहारी
गुरुदेव की गोविन्द दियो वताय।''

{1140}

त्यागवादी जीवन शैली को अपनाने के बाद ही संयम के प्रति आस्था विकसित होगी तथा व्यक्त भी होगी। त्याग और संयम परस्पर सम्बन्धित ही नही, अन्योन्याश्रित भी होते हैं। त्याग की भावना होगी तभी संयम का विचार फलीभूत होगा। संयम का विचार होगा तभी त्याग भावना पन–पेगी। इस कारण संयम के प्रति आस्था के सुदृढ बनने से शील संस्कार समुन्नत होते हैं जो जीवन को विकारों की दिशा मे पतित बनने से रोकते हैं।

{1141}

सर्वत्यागी साधु को स्वत्व की आराधना के साथ अन्यों को भी आध्यात्मिक साधना का ही उपदेश देना चाहिये।

{1142}

जीवन रूपी रथ के दो पहिये हैं। एक तरफ अपना कर्म (भाग्य) है तो दूसरी ओर पुरुषार्थ। इन दोनों के संयोग से ही जीवन रथ निश्चित दिशा की ओर गतिमान हो सकता है।

{1143}

अध्यात्म जीवन में अध्यात्म के वैज्ञानिकों ने कैसे अनुसंधान किया, उस ओर न जाकर उन्होंने जो आविष्कार किया है, उसे अपनाना ही अभीष्ट है।

{1144}

अण्डा मांसाहार है, शाकाहार नही। अण्डाहार आत्मिक जीवन को क्षत–विक्षत करने के साथ ही शारीरिक एवं मानसिक जीवन को नष्ट करने वाला है।

{1145}

मानव अपने जीवन को निखार सकता है, अपनी लाइट जगा सकता है, परन्तु जगेगी कब ? जबकि खुद की तैयारी होगी।

{1146}

विनय के भाव को अभिवृद्ध बनाने वाली बाह्य क्रिया होती है वन्दना, जो बाहर और भीतर को आन्दोलित कर देती है तथा प्रत्येक वृत्ति व प्रवृत्ति में से मान को समाप्त करती है। वन्दना विनयावनत बना देती है समूचे अन्तःकरण से उठने वाले प्रत्येक भाव को। विनय की आर्जवता, मार्दवता और मृदुलता में डूबकर तब प्रत्येक भाव स्व–पर कल्याण में तल्लीन बन जाता है।

{1147}

आगम में आगत आध्यात्मिक साधना के मध्य भूगोल खगोल का वर्णन प्रासंगिक है, लक्ष्य नही।

{1148}

अगर आप सभी
प्रभु महावीर के सही माने में
अनुयायी हैं तो आप
भी जन्मना जाति वर्ग से हटकर
कर्मणा सिद्धान्त
को अपनाइये।

{1149}

युवक सोचे कि
ये बुजुर्ग हैं, अनुभवी
है और इनमें होश है तो हम
युवक जोश के साथ
इनकी छत्रछाया में
क्रान्ति करें।

{1150}

जब व्यक्ति
के अहंकार को
चोट लगती है तो
वह तिलमिला
उठता है।

{1151}

वीतरागता ही आत्मा का मोक्ष
है क्योंकि उसकी सभी प्रकार के जड
संबंधों से और तदनुसार संसार के भव
भ्रमण से सर्वथा मुक्ति हो जाती है। आत्म ज्योति
का सम्पूर्ण विकास इस मुक्ति से ही परिलक्षित
होता है तथा तदन्तर वह आत्म ज्योति
सदा काल के लिये निरन्तर
सुप्रकाशित होती रहती है

{1152}

आज प्राणी को
श्रेष्ठतम वस्तु मानव
तन प्राप्त हो गया है।
आवश्यकता है, इस संयोग की
सही दिशा में उपयोग करने की।

{1153}

प्रगतिशील युवक,
आपत्तियों में हतोत्साहित नही
होता, वह अबाध
गति से अपने रास्ते पर चलता
रहता है।

{1154}

भूगोल-खगोल
की व्यवस्थाओं का
व्यवस्थापक आत्मा ही है।
अतः आत्मा को
समझो।

{1155}

तृषित को पानी और डूबते
को तख्ते का सहारा मिलने से जसी शान्ति
मिलती है, उससे भी कई गुनी अधिक शान्ति
व्यक्ति को, प्रभु-प्रार्थना के साथ
एकावधानता लेकर परमात्म स्वरुप
के चिंतन से मिलती है।

{1156}

... है वह शौर्य जहां राजा ... ने एक कबूतर की रक्षा के ... जीवन समर्पित कर दिया। भगवान् ... की रक्षा के लिये शादी से मुख मोड़ ... अनुयायी पंचेन्द्रिय जीव हिंसा से ... चीजों को अपनाते हुए नही हिचक रहे ... दर्द के पीछे हो रही क्रूर हिंसाकितनी ... क्या कभी सोचा है आपने? आज धार्मिक ... को हो क्या गया है ? वे किस प्रवाह में बह रही है? कहां चली गई उनकी अहिंसक भावनाएं?

{1157}

जिस मानव तन में पशुत्व वृत्ति, दानवीय वृत्ति रही हुई है, वह मानव तन में रहकर भी पशु या दानव है।

निज-आत्मिक स्वरूप को साधने वाली प्रत्येक क्रिया आध्यात्मिक क्रिया है और जिस क्रिया से संसार के चतुर्गति भ्रमण का काम होता हो, वह क्रिया कभी भी आध्यात्मिक नही हैं।

{1159}

जो धारा के सम्मुख मुडा था,वह उस धारा के प्रवाह को सहन नही कर पाया तो तरकीब से विषयों की ओर लुढकने लगा और धारा से सम्मुख तैरने वालों को पुराणपंथी कहने लगा एवं अपने को प्रगतिशील।

{1160}

यही जीवन काल होता हे जब भूत और भविष्यत् की दोनों कल्पनाओं को सामने रखकर वर्तमान को भव्य बनाने का सुन्दरतम साध्य साधा जा सकता है एवं जीवन को समग्र रूप से पहिचाना जा सकता है।

{1161}

जिस आत्मा से संयुक्त शरीर रूपी जीवन को यह दुनिया देख रही है, उस जीवन का बाहरी और भीतरी हि... में कटे हुए नहीं ... से जु... एक ... होते

यदि दृढ संकल्प ... के साथ चिन्तन कर ... व्यवस्था बिठाकर यात्री अपनी ... करता है,तो वह आशा रखी ... उसकी यात्रा सफल होगी। क्यों ... भी आयें तो वह सफलता ... मुकाबला कर सकेगा।

{1162}

{1164}
यदि अहिंसा, सत्य
आदि को राष्ट्रीय नियमों से
निकाल दिया जाय तो कोई भी
राष्ट्र एक क्षण के लिये भी
व्यवस्थित नही चल सकता।
{1165}
स्वार्थ-लिप्सा में
व्यक्ति कृत्य, अकृत्य,
हिंसा, अहिंसा आदि को
भूल कर अकरणीय को करने में
भी नही हिचकता।
{1166}
हे साधक !
भूगोल-खगोल का नही,
अपना समीक्षण करो।
{1167}
मानव सोचता-मैं गरीब
हूँ? पर हे मानव ! तू गरीब
कहां? तेरे पास अमीरी का प्रतीक
यह अनमोल मानव तन है, जिसके एक- एक
अवयव की कीमत अरबों, खरबों रूपयों से भी
नही आंकी जा सकती। इस मनुष्य जीवन का
अवमूल्यन मत कीजिए।
{1168}
पारिवारिक जीवन
सुखमय बनाने के लिये
जनक-जननी, पुत्र-पुत्रियों को
अपना-अपना कर्त्तव्य बोध करना
अत्यन्त आवश्यक है।
{1169}
मांस व
अण्डाहार मानव की
प्रकृति के प्रतिकूल एवं
अनेक व्याधियों का
उत्पादक है।
{1170}
जिसमें लोभ
नही हैं, उसके सभी गुणों
का संरक्षण हो
सकता है।
{1171}
तलवार का दृष्टान्त ही ले लें।
उसका एक हिस्सा तीखा होता हे ओर दूसरा
हिस्सा (धार) मोटा होता हे, लेकिन तीखा हिस्सा
भी तभी काम कर सकेगा। जवकि दूसरे हिस्से
का पीठ वल उसको मिले। यदि तलवार का
तीक्ष्ण भाग ही कार्य करें आर उसको दूसरे भाग
का व वाहरी वल नही मिले तो क्या वह
तलवार काम मे आ सकेगी?

{1156}

कहां गया है वह शोर्य जहा राजा मेघरथ (शिवि) ने एक कबूतर की रक्षा के लिए अपना सारा जीवन समर्पित कर दिया। भगवान् नेमीनाथ ने पशुओ की रक्षा के लिये शादी रा मुख मोड लिया। आज उनके अनुयायी पंचेन्द्रिय जीव हिंसा रो निष्पन्न फेशनेबल चीजो को अपनाते हुए नहीं हिचक रहे हैं। फेशन के पर्दे के पीछे हो रही क्रूर हिंसाकितनी भयानक ? क्या कभी सोचा है आपने? आज धार्मिक जनता को हो क्या गया है ? वे किस प्रवाह में वह रही है? कहां चली गई उनकी अहिंसक भावनाएं?

{1157}

जिस मानव तन में पशुत्व वृत्ति, दानवीय वृत्ति रही हुई है, वह मानव तन में रहकर भी पशु या दानव है।

{1158}

निज-आत्मिक स्वरूप को साधने वाली प्रत्येक क्रिया आध्यात्मिक क्रिया हे और जिस क्रिया से संसार के चतुर्गति भ्रमण का काम होता हो, वह क्रिया कभी भी आध्यात्मिक नही हैं।

{1159}

जो धारा के सम्मुख मुडा था,वह उस धारा के प्रवाह को सहन नही कर पाया तो तरकीब से विषयों की ओर लुढकने लगा ओर धारा से सम्मुख तैरने वालों को पुराणपंथी कहने लगा एवं अपने को प्रगतिशील।

{1160}

यही जीवन काल होता है जब भूत और भविष्यत् की दोनों कल्पनाओं को सामने रखकर वर्तमान को भव्य बनाने का सुन्दरतम साध्य साधा जा सकता है एवं जीवन को समग्र रूप से पहिचाना जा सकता है।

{1161}

जिस आत्मा से संयुक्त शरीर रूपी जीवन को यह दुनिया देख रही हे, उस जीवन का बाहरी हिस्सा और भीतरी हिस्सा आपस में बिल्कुल कटे हुए नही हैं। ये दोनों हिस्से एक दूसरे से जुडे हुए होते हैं, बल्कि दोनों एक दूसरे के अभिन्न अंग होते हैं।

{1162}

यदि दृढ़ संकल्प और उत्साह के साथ चिन्तन करके तदनुरूप व्यवस्था बिठाकर यात्री अपनी यात्रा पर प्रस्थान करता है,तो वह आशा रखी जा सकती है कि उसकी यात्रा सफल होगी। क्योंकि मार्ग में यदि विध्न भी आयें तो वह सफलता पूर्वक उनका मुकाबला कर सकेगा।

{1163}

महापुरुषों ने क्या किया, उसे हमें नही दोहराना है, किन्तु महापुरुषों ने क्या कहा है, उस ओर ध्यान देना है।

{1164}

यदि अहिंसा, सत्य
आदि को राष्ट्रीय नियमों से
निकाल दिया जाय तो कोई भी
राष्ट्र एक क्षण के लिये भी
व्यवस्थित नही चल सकता।

{1165}

स्वार्थ-लिप्सा में
व्यक्ति कृत्य, अकृत्य,
हिंसा, अहिंसा आदि को
भूल कर अकरणीय को करने में
भी नही हिचकता।

{1166}

हे साधक !
भूगोल-खगोल का नही,
अपना समीक्षण करो।

{1167}

मानव सोचता-मैं गरीब
हूँ? पर हे मानव ! तू गरीब
कहां? तेरे पास अमीरी का प्रतीक
यह अनमोल मानव तन है, जिसके एक- एक
अवयव की कीमत अरबों, खरबों रूपयों से भी
नही आंकी जा सकती। इस मनुष्य जीवन का
अवमूल्यन मत कीजिए।

{1168}

पारिवारिक जीवन
सुखमय बनाने के लिये
जनक-जननी, पुत्र-पुत्रियों को
अपना-अपना कर्त्तव्य बोध करना
अत्यन्त आवश्यक है।

{1169}

मांस व
अण्डाहार मानव की
प्रकृति के प्रतिकूल एवं
अनेक व्याधियों का
उत्पादक है।

{1170}

जिसमें लोभ
नही हैं, उसके सभी गुणों
का संरक्षण हो
सकता है।

{1171}

तलवार का दृष्टान्त ही ले लें।
उसका एक हिस्सा तीखा होता हे ओर दूसरा
हिस्सा (धार) मोटा होता है, लेकिन तीखा हिस्सा
भी तभी काम कर सकेगा। जबकि दूसरे हिस्से
का पीठ बल उसको मिले। यदि तलवार का
तीक्ष्ण भाग ही कार्य करें ओर उसको दूसरे भाग
का व बाहरी बल नही मिले तो क्या वह
तलवार काम मे आ सकेगी?

{1172}

व्यवसाय यह वाहर की प्रवृति होती है, लेकिन यह प्रवृत्ति भी समीक्षण द्वारा भीतर की सद्वृत्ति से जुडी होनी चाहिये। कोई- कोई कह देते है कि धन्धे में धर्म नही देखा जाता है याने कि धन्धे मे उचित-अनुचित सव कुछ करना उचित है। यह गलत दृष्टिकोण है और अन्तःकरण को अनेतिकता से रँगने वाला है। अधिक व्याज खोरी के धन्धे का आज का रूप महा-आरम्भ वाला हो गया है।

{1173}

हर प्राणी के साथ आत्मीय भावना रखिये, और चिन्तन करिये कि ये मेरे भाई हैं, मं इनका भाई हूं।

{1174}

वाह्य पदार्थो के ममत्व का वायु मण्डल आत्मिक अनुभूति को शिथिल एवं संज्ञा- शून्य वनाकर विकृति से दूषित कर देता है।स्वयं विकृत व्यक्ति अपने आपको विकृत नही मानता यही आत्मा की विभावगत अवस्था है।

{1175}

वाहरी वेभव पर मदांध वनना यह अपने आत्मिक स्वरूप को भुलाना है। इसे एक तरह से सभ्य वेहोशी कह सकते हैं। यह मदिरा की तरह वाहरी वेहोशी नही होती है।दुनिया को मालूम होता हे कि व्यक्ति होश हवास मे चल रहा है। किन्तु इसमें आत्मा की वेहोशी होती हे।

{1176}

पूर्व की पुण्यवानी का उदय होता है तब तक सारी खुशहाली दिखाई देती है, लेकिन जिस वक्त यह पुण्यवानी समाप्त हो जायेगी, तब मन, वचन और काया दण्ड रूप बनकर इस आत्मा को दुःखित बना देंगे।

{1177}

दुनिया की नजर में कोई व्यक्ति वडा होशियार और योग्य हो सकता है। किन्तु उसका अगर भीतरी जीवन में प्रवेश नही है तो आत्मा की दृष्टि से वह पागल ही कहलायेगा। यह ज्ञानीजनों की दृष्टि है। शास्त्रकारों ने ऐसे व्यक्ति को बाल कहा हैं।

{1178}

प्रभु के समवशरण में मानसिक अन्याय वृत्तियॉ तो क्या जन्मजात की विरोधी क्रूरतम वृत्तियॉ भी समाहित हो जाती हैं। ऐसा जन्मजात विरोध रखने वाले प्राणी स्वयं श्रद्धा में इतने ओतप्रोत हो जाते हैं कि जिससे अहंकार आदि की वृत्तियॉ तो दर किनार रही, हिंसक वृत्तियॉ भी अपना मुख विस्फारित नही कर सकती।

{1179}

यदि आप दृढ विश्वास के साथ आध्यात्मिक साधना में लगते हैं तो अवश्य ही परम आनंद की अनुभूति को पा सकते हैं।

{1180}

आत्मा जब इस मन की अधीनता में आ जाती है तो वह बेभान हो जाती है। उद्दण्ड मन के हाथों में पडकर आत्मा अपने स्वरूप को विकृत बनाती है तथा इस लोक और परलोक को बिगाडती है।

{1181}

जो वस्तु जैसी है उसे वैसी न समझकर उसमें जो विपरीत श्रद्धान करता है, उसे अज्ञानी कहा जाता है।

{1182}

भीतरी शत्रुओं के प्रबल बनने पर ही बाहरी शत्रु प्रबल बनते हैं।

{1183}

मन के कार्यकलापों अथवा इसकी चक्रव्यूह मय क्रियाओं का मापक यन्त्र केवल समीक्षण ध्यान ही है। समीक्षण ध्यान की संवैधानिक प्रक्रियाओं के द्वारा एक ओर हम मन की सूक्ष्म गतिविधियों को पकडते हैं तो दूसरी ओर जगत के सूक्ष्म रहस्यों के ज्ञाता, बन क्षणभंगुर स्थूल पदार्थों से अलग हट जाते हैं।

{1184}

महावीर प्रभु की वाणी के आधार पर वर्तमान जीवन को सुखी बनाना है। परम आनन्द का अनुभव करना है तो वह वीतराग वाणी का प्रयोग इसी जीवन में करके देखें।

{1185}

अवसर आपके हाथों में हैं, आप अपने अशुद्ध आचरण से निम्न गति में भी जा सकते हैं, तो शुद्ध आचरण से उन्नत गति में भी ।

{1186}

यदि कषाय सर्वथा क्षीण हो जाय, तो उसका कोई शत्रु नही रहता।

{1187}

शास्त्रों में जो दण्ड बताया गया हे, वह आत्मा की स्वयं की दुष्प्रवृत्ति को रोकने के रूप में होता हे। दण्ड मिलता अवश्य हे चाहे वह आत्मा के स्वयं के विवेक से मिले अथवा प्रकृति से। इतना अवश्य ह कि स्पयं अपने अपराध की आलोचना करके योग्य गुरु से उसका अन्त.करण से दण्ड ग्रहण करता ह तो आत्मस्वरूप का परिष्कार होता ह।

{1212}

व्यक्ति संवेदनशील है तो यन्त्र की आवश्यकता नही रहती। टैलीपैथी की प्रक्रिया से एक दूसरे के भाव इतनी द्रुतगति से जाते हैं कि उन भावों को रोक नहीं सकते।

{1213}

जैनत्व की दृष्टि से तो जैन-दर्शन विश्व व्यापक है। हां जैनानुयायी अल्प परिलक्षित हो सकते हैं।

{1214}

वीतराग वाणी किसी व्यक्ति विशेष या संप्रदाय विशेष से आबद्ध नही हैं, वरन् सभी के लिये है।

{1215}

कोई यह सोचे कि महाराज मन के अनुकूल बोलें वह सही और प्रतिकूल बोलें वह गलत, तो ऐसे मन के गुलाम को तो भगवान् भी नही समझा सकते हैं।अगर आप अपने जीवन को समुन्नत बनाना चाहते हैं तो मन के गुलाम नही, मन के स्वामी बनिये और उसका अपनी आत्मा की अधीनता में चलाइये।

{1216}

सम्पूर्ण ज्ञानियों के सिद्धान्तों में जो भी जीवन विकास एवं योग सम्बन्धी प्रावधान रहा हुआ है, उसे ही आधार मानकर की जाने वाली साधना समीक्षण साधना है, और वही साधना आत्म शान्ति का अंग बन सकती है।

{1217}

स्वर्गीय आत्मा शारीरिक-सोन्दर्य में असाधारण है, पर जो क्षमता मानव तन में हैं, वह उनमें नही।

{1218}

उत्तम व्यक्ति वही है, जिसके आचार-विचार और उच्चार शुद्ध हो।

{1219}

देखने की प्यास सच्ची हे लेकिन जिसको देखना चाहिये उसको वह देख नही पा रहा है। जो दिखाई दे रहा है वह देखने की प्यास को शान्त करने वाला नही हे। जो दृश्य देख रहा ह वह या तो दखने की शक्ति को देख नही पा रहा ह, या फिर उसके पास अन्दर देखने की विधि नही ह।

{1204}

मन एक घोडे के समान है। जेसे किसी घोडे की लगाम ढीली है तो वह रास्ते से भटक जाता है और सवार को ऊबड- खाबड में गिरा देता है। किन्तु उसकी लगाम सवार के हाथ में हो तो वह बराबर रास्ते पर चलता रहेगा। तेज चाल से चलता रहेगा ओर गन्तव्य स्थान पर समय व सुविधा से पहुँचा देगा।

{1205}

मन की उलझनें मिटेंगी तो नया पाप कम होगा तथा पुराने पापों को धोने का प्रसंग आयेगा।

{1206}

किसी भी वस्तु का जायका, रस लेना है तो वह जिह्वा से लिया जाता है। उसकी शरीर में परिणति जठराग्नि से होती है। वेसे ही सुनने का काम कान का है। इसे अच्छे या बुरे रूप में परिणत करना मन का काम है।

{1207}

जिसके मन में पवित्रता होती है, वह मन के संस्कारों को ठीक करता रहता है। उसे कुछ अच्छा निमित्त मिलता है, उसे मारने का प्रयास करता है तब भी नही मार सकता और मारने वाला मारने की भावना का दण्ड पहले ही पा लेता है।

{1208}

समीक्षण ध्यान का साधक यदि आत्मा की सूक्ष्म वृत्तियों के अवलोकन में अपने आपको अक्षम अनुभव करे तो इसकी पूर्व स्थिति में मन को साधने के लिये जीवन की,अतीत दिवस की वृत्तियों का अवलोकन करें।

{1209}

विष से भरे हुए केप्सूल को किसी नीरोग, स्वस्थ व्यक्ति को खिलाने के लिये उसके हाथों मे कोई पकडाता है, तो वह स्वस्थ व्यक्ति उस केप्सूल के ऊपरी चमकते कवर को देखकर भी यह जानता है कि इसके भीतर जहर भरा हुआ है, अतः उसे खायेगा नही।

{1210}

किसी भी प्रतिज्ञा का पालन तभी हो सकता है जब उसके योग्य मन की तैयारी बन जाती है। सरकार कानून बनाकर नशाबन्दी कर सकती है। लेकिन कानून से मन की तैयारी तो नही करा सकती है। इसके लिये तो लोगों के मन को ही सुधारना और तैयार करना पडेगा और तभी वचन दण्ड और काय दण्ड से बचा जा सकता है।

{1211}

जैसे अनेक बार पानी के प्रवाह मे भॅवर बनता है। उस भॅवर के बीच कोई वस्तु गिर जाती है तो उसका बाहर आना अति कठिन हो जाता है। चैतन्य पर विषमता का उससे भी अधिक जटिल भॅवर बना हुआ है।

{1212}

व्यक्ति संवेदनशील है तो यन्त्र की आवश्यकता नही रहती। टैलीपैथी की प्रक्रिया से एक दूसरे के भाव इतनी द्रुतगति से जाते हैं कि उन भावों को रोक नही सकते।

{1213}

जैनत्व की दृष्टि से तो जैन-दर्शन विश्व व्यापक है। हां जैनानुयायी अल्प परिलक्षित हो सकते हैं।

{1214}

वीतराग वाणी किसी व्यक्ति विशेष या संप्रदाय विशेष से आबद्ध नही हैं, वरन् सभी के लिये है।

{1215}

कोई यह सोचे कि महाराज मन के अनुकूल बोलें वह सही और प्रतिकूल बोलें वह गलत, तो ऐसे मन के गुलाम को तो भगवान् भी नही समझा सकते हैं।अगर आप अपने जीवन को समुन्नत बनाना चाहते हैं तो मन के गुलाम नही, मन के स्वामी बनिये और उसका अपनी आत्मा की अधीनता में चलाइये।

{1216}

सम्पूर्ण ज्ञानियों के सिद्धान्तों में जो भी जीवन विकास एवं योग सम्बन्धी प्रावधान रहा हुआ है, उसे ही आधार मानकर की जाने वाली साधना समीक्षण साधना है, और वही साधना आत्म शान्ति का अंग बन सकती है।

{1217}

स्वर्गीय आत्मा शारीरिक-सौन्दर्य में असाधारण है, पर जो क्षमता मानव तन में हैं, वह उनमें नही।

{1218}

उत्तम व्यक्ति वही है, जिसके आचार-विचार और उच्चार शुद्ध हो।

{1219}

देखने की प्यास सच्ची ह लेकिन जिसको देखना चाहिये उसको वह देख नही पा रहा हे। जो दिखाई दे रहा है वह देखने की प्यास को शान्त करने वाला नही हे। जो दृश्य देख रहा ह वह या तो दखने की शक्ति को देख नही पा रहा हं, या फिर उसके पास अन्दर देखने की विधि नही ह।

{1220}

मन रूपी घोड़े को
कहाँ बांधेगे। इस मन रूपी
घोड़े पर जब तक आपका नियंत्रण
नही होगा तब तक आप इस संसार मे स्वतन्त्र
नही होगे, विजयी नही होगे। आपने अब तक
किस पर विजय प्राप्त की? क्या परतंत्र व्यक्ति
विजयी माना जा सकता है?

{1221}

जब इस मानव
तन का उपयोग निज
स्वरूप की गवेषणा मे करने की
दृढ़ संकल्पमूलक जिज्ञासा
जागृत होती है, तब यह चैतन्य
देव सर्वज्ञ देव के सिद्धान्तों का
सम्बल लेकर चलने का
प्रयत्न करता है।

{1222}

विषमता दु.ख एव द्वन्द्व की
जननी वन कर चैतन्य देव को
परतन्त्र वना रही है। चैतन्य ने इसके
अधीन विकारग्रस्त होकर अपनी स्वतन्त्रा
-वस्था को विलुप्त कर दिया है और
अहर्निश इसी दु.ख द्वन्द्व एव तनाव की
अवस्था मे रहता हुआ वह सही दिशा
निर्देशन भी नही ले पाता है।

{1223}

स्वयं की अवस्था को
विकृत बनाता हुआ विश्व के
समस्त प्राणियों की अवस्था को भी विकृत
बनाने मे निमित्त भूत होता है। यह सब
विषमता रूप राक्षस का अभेद्य सा विस्तृत
जाल है। इस जाल को समझना
असम्भव नही तो कठिन अवश्य है।

{1224}

जब चेतन्य देवसाधक
का रूप स्वीकार कर अन्तर्यात्रा
का पथिक वनता हे तव वह स्थूल
शरीर से सम्बन्धित आवारक कर्मो के
समग्र हेतुओं को अनुभूतिपूर्वक जान
कर भविष्य के लिये उन हेतुओं
की पुनरावृत्ति को रोकता है।

{1225}

मनुष्य गति के अतिरिक्त
गति वाले प्राणी समीक्षण ध्यान की
परिपूर्ण उपलब्धि नही कर सकते।उसकी
उपलब्धि तो आर्य संस्कारो से सम्पन्न व
स्वयं के स्वरूप को अभिव्यक्त करने के
लिए तीव्र जिज्ञासावान व्यक्ति
ही कर सकता हे।

{1226}

जो संपरिपूर्ण ज्ञानियों के
रहस्य को स्वानुभूति पूर्वक निकाल
कर अभिव्यक्त करता है, वह विद्वान्
भले ही संपरिपूर्ण ज्ञानी न हो, पर सम्पूर्ण ज्ञानियों
के सिद्धान्तों का अवलम्बन लेकर साधना विषयक
योग पद्धति की विवेचना करता है तो वह स्वयं के
लिए और अन्य साधकों के लिये सर्वथा
ग्राह्य बन सकती है।

{1227}

जब तक आत्मा
कर्म नोकर्मादि अवस्थाओ
से युक्त हे, तव तक रूपी कहलाती
है। किन्तु इन अवस्थाओं से सर्वथा
रहित होने पर आत्मा सदा सर्वदा
के लिए अरूपी अवस्था मे
अवस्थित हो जाती है।

{1228}

मानव समाज में जितने घातक से घातक दुर्गुण दिखलाई देते हैं-यदि आप उनकी जडों को खोजने जायेंगे तो वे आपको समग्र रूप से विषमता के वृक्ष में मिल जायेंगे।

{1229}

आज आदमी धन की लिप्सा में पागल है, सत्ता की लिप्सा में उन्मत हुआ है तो यश और झूठे यश की लिप्सा में अपने अन्तर को कालिमामय बनाता जा रहा है।

{1230}

केवल भाग्याश्रित मानव कभी भी उन्नति के चरम छोर को नही छू सकता।

{1231}

जिसने बून्द का नही समझा है, वह कभी सागर को नही समझ सकता, जिसने परमाणु को नही समझा, वह कभी अणुबम्ब को नही समझ सकता। लघु को समझने से ही विराट का विज्ञान हो सकता है। वैसे ही जिसने समता को नही समझा है, वह कभी परमात्मा के विराट स्वरूप को नही समझ सकता।

{1232}

धन लिप्सा सत्ता में बदलकर और अधिक आक्रामक बन रही है ऑखें मूंदकर सत्ता लिप्सा अपना अणुबम इस तरह गिराती है कि वहां दोषी और निर्दोष के विनाश मे भी कोई भेद नही रह जाता।

{1233}

सत्तालिप्सु एक तरह से राक्षस हो जाता है कि उसे अपनी कुर्सी से मतलब हैं फिर दूसरों का कितना अहित होता हैं-यह सब उसके लिए बेमतलब हो जाता है।

{1234}

भाई-भाई से प्रेम करना सीखें और मानवता का भव्य प्रसंग उपस्थित करें।

{1235}

ढीले हाथों से पकडी गई पतंग कभी भी दूसरी पतंग से काटी जा सकती है। पर मजवूत एवं सावचेती से पकडी गई पतंग दूसरों की पतंग को काट सकती ह। इसी तरह समता की पकड को मजवूती के साथ पकडिये और कर्मो की पतंग को काटकर मुक्ति के अनन्त गगन में मुक्त विचरण करिये।

{1236}

धन, कम हाथों में अधिक
और अधिक हाथों में कम से कम
होता जा रहा है। इसका नतीजा है कि कुछ
सम्पन्न लोग विलास की कगार पर इठलाते हे तो
अधिक संख्य–जन अपनी प्रतिभा, अपनी
गुणशीलता और अपने सामान्य विकास की बलि
चढ़ाकर विनाश की कगार पर खड़े हैं।

{1237}

तपाराधना से
शारीरिक शक्ति कुछ
शिथिल हो जाती हे पर
आत्मिक शक्ति निरन्तर
बढ़ती है।

{1238}

शान्ति देने लेने की
वस्तु नही, पर अपने में
ही अभिव्यक्त करने की वस्तु है।
स्वयं के पास जो वस्तु है उसी को
प्रकट करने की आवश्यकता है।

{1239}

"शान्ति क्रान्ति" आत्म
साधना से ही परात्मसाधना
के उदय का अभियान है। जो आत्म
पक्ष, परात्म पक्ष एवं परमात्म पक्ष
तीनों को उजागर करने में सक्षम हैं।

{1240}

जब तक मानसिक जीवन
स्वच्छ, नैतिक एवं धार्मिक नही बनता
तब तक व्यावहारिक
जीवन में नैतिकता, प्रामाणिकता एवं
सुख की वास्तविक
स्थिति नही आ सकती।

{1241}

अग्नि सम मन का
वेग संसार को बढाने वाला होता है,
जब कषाय सीमा से अधिक समय
तक रह जाती है तो उससे सम्यक्त्व
गुण का नाश हो जाता है।

{1242}

विषमता कुछ व्यक्तियों के
कुप्रयास से बनती और बढ़ती है,
लेकिन इसके कुप्रभाव से सामूहिक विगति
आरम्भ होती हैं और वह इतनी तेज गति से
चलती है कि इसके चक्र में दोषी और निर्दोष
समान रूप से पिसते चले जाते हैं।

{1243}

पकड़ के
अभ्यासी मानव को पकड़ने
का उपदेश है कि वह
सद्गुणों को पकडे, समता
को पकड़े।

{1244}

जब तक मन
का समीक्षण-परीक्षण
नही होगा तब तक वास्तविक
आत्मिक शान्ति की अनुभूति
नहीं हो सकती।

{1245}

बाह्य वैभव से
अन्तर की तृप्ति-संतुष्टि कभी
संभव नही है। अन्तर के वैभव
से ही अंतर की तृप्ति -संतुष्टि
बन सकती है।

{1246}

धर्म का
स्वरूप आत्मा के
मौलिक स्वरूप से भिन्न
नही है।

{1247}

शीतल पानी के पास जैसे
कोई गर्मी से तपा हुआ प्राणी
पहुँचता है, वह जैसी ही शीतलता, शान्तता
प्राप्त करता है उससे भी बढ़कर संसार की
विषय-वासनाओं की आग से संतप्त बना हुआ
मानव साधु के सन्निकट जाकर अनल्प शान्ति
की अनुभूति करता है।

{1248}

संसार के
समस्त पौद्गलिक
पदार्थ परिवर्तनशील हैं। पुद्गलों
के परिवर्तन से सुगन्ध दुर्गन्धमय
और दुर्गन्ध सुगन्धमय हो
जाती है।

{1249}

दूसरे की
शान्ति,दूसरा नही ले
सकता और न वह दे ही सकता
है। चाहे वह ईश्वर
रूपी महासत्ता भी
क्यों न हो।

{1250}

जो व्यक्ति
अपने मानवीय धरातल पर
रहता है, वह सारे राष्ट्रों
को झुका
सकता है।

{1251}

जिस प्रकार पतंगे
जलते प्रदीप के रूप में आकर्षित
होकर उस पर झंपापात करते हुए अपना
प्राणान्त कर देते हैं। उसी प्रकार दृष्ट एवं श्रुत
वस्तुओं के व्यामोह में फंसकर अज्ञ जन भी
अपने जीवन का पतन कर लेते हैं।

{1252}

किसी शिला के नीचे किसी का हाथ आ जाता है तो उस शिला के नीचे से अपने हाथ को वापिस बाहर निकालने के लिए काफी श्रम, साहस और बुद्धि से कार्य करना होता है, जो सहज नही होता है। सारा बल लगाकर झटके से हाथ को बाहर निकालने की कोशिश की जाती है तो अंगुलियों के टूट जाने का खतरा रहता है और अन्य हानि भी हो सकती है, पूरी सावधानी जरूरी होती है। उस समय श्रम, साहस और बुद्धि की परीक्षा होती है।

{1253}

मांसाहार परलोक में तो हानिकारक होता ही है किन्तु इस जीवन के लिये भी घातक सिद्ध होता है।

{1254}

बाहर की कसौटी पर भीतर का तथा भीतर की कसौटी पर बाहर का मूल्यांकन किया जा सके और वैसा मूल्यांकन खरा उतरे,तब समझना चाहिये कि बाहर और भीतर की एकरूपता स्थापित हो गई है।

{1255}

संसार के वर्तमान जीवन का जो वायु मण्डल है, वह अधिकांश रूप से भौतिकता के संस्कारों से प्रभावित है और उस भौतिकता के भावों की प्रबलता के कारण जीवन में कषायों का भी बाहुल्य है।

{1256}

अपनी पाप प्रवृत्तियों से सरकार की निगाह से बचा जा सकता है लेकिन कुदरत की निगाह से नही बचा जा सकता। कर्मो की स्थिति बडी विचित्र होती है। कर्म अपनी विचित्र दशा से आत्मा को दण्डित करते रहते है।

{1257}

जिस इन्द्रिय को जिस विषय से सुख की अनुभूति होती है, उस इन्द्रिय को उसी विषय से बार-बार सम्बन्धित किया जाय तो वह विषय सुख देने के स्थान पर दु:ख देने वाली बन जायेगी।

{1258}

जिन तौर तरीकों से अन्य पदार्थो का ज्ञान किया जाता है उनके अतिरिक्त एक माध्यम इतना विशिष्ट है जिससे ज्ञान का ज्ञान भी किया जा सकता है। ज्ञान विषयी होता है। अन्य पदार्थ विषय होते हैं। पर जिस समय ज्ञान को विषय बनाया जाय और विषयी वह विशिष्ट ज्ञान हो उस वक्त की घडियॉ, उस समय का स्वरूप कुछ अलग ही होता है।

{1259}

इन्द्रियरामी जीव अच्छे पर राग और बूरे पर द्वेष कर बैठता है, जो कि उसके पतन का कारण बन जाता है।

{1260}

इन्द्रियों के माध्यम
से जो शक्ति पौद्‌गलिक तत्त्वों में
खर्च हो रही है,उसे अन्दर में
नियोजित करें तो अन्तस् में
विद्यमान सुख का अक्षय स्त्रोत
उद्‌घाटित
हो उठेगा।

{1261}

आत्मा इन्द्रियों
के माध्यम से कभी पौद्‌गलिक
वस्तुओं से शाश्वत सुख की
अनुभूति नही कर सकती है।

{1262}

सुखी बनने
के लिये भौतिकता की
पकड छोडनी होगी।

{1263}

वर्तमान के परिवर्तन के
आधार पर ही श्रेष्ठ भविष्य का
निर्माण किया जा सकता है। इस रूप
में भविष्य का आदर्श वर्तमान से सामने रहता हे
तो परिवर्तन की प्रक्रिया सहज वन जाती हे।
भविष्य का आदर्श
होना चाहिए-सिद्ध स्वरूप।

{1264}

पॉचों इन्द्रियों
की वैषयिक शक्ति से,
जो विषय सुख पाना है, वह
भीतर से पाने का प्रयास किया
जाय, क्योंकि जो सुख भीतर में
हैं, वह वाहर में नही।

{1265}

जो सुख वाहरी
आवाज से नही मिलने
वाला हे, उसकी अपेक्षा
अनिर्वचनीय सुख भीतरी आवाज
को सुनने से
मिल सकेगा।

{1266}

अर्हत
सिद्धान्त अहिंसा
आदि सार्वजनीय,
सार्वभौमिक
है।

{1267}

जीवन इसी क्षण चमक सकता
हे,जिस क्षण जीवन का समीक्षण होता
हे, उसी क्षण से आत्मिक स्वरूप के
लिये प्रतिक्षण को कार्य रूप में परिणित करने
लगता ह। ऐसी अलभ्य परिणति को विरल भव्य
पुरुष ही अपने जीवन
मे उद्‌घाटित कर सकते ह।

{1252}

किसी शिला के नीचे किसी का हाथ आ जाता है तो उस शिला के नीचे से अपने हाथ को वापिस बाहर निकालने के लिए काफी श्रम, साहस और बुद्धि से कार्य करना होता है, जो सहज नही होता है। सारा बल लगाकर झटके से हाथ को बाहर निकालने की कोशिश की जाती है तो अंगुलियों के टूट जाने का खतरा रहता है और अन्य हानि भी हो सकती है, पूरी सावधानी जरूरी होती है। उस समय श्रम, साहस और बुद्धि की परीक्षा होती है।

{1253}

मांसाहार परलोक में तो हानिकारक होता ही है किन्तु इस जीवन के लिये भी घातक सिद्ध होता है।

{1254}

बाहर की कसोटी पर भीतर का तथा भीतर की कसौटी पर बाहर का मूल्यांकन किया जा सके और वैसा मूल्यांकन खरा उतरे,तब समझना चाहिये कि बाहर और भीतर की एकरूपता स्थापित हो गई है।

{1255}

संसार के वर्तमान जीवन का जो वायु मण्डल है, वह अधिकांश रूप से भोतिकता के संस्कारों से प्रभावित है और उस भोतिकता के भावों की प्रबलता के कारण जीवन में कषायों का भी बाहुल्य है।

{1256}

अपनी पाप प्रवृत्तियों से सरकार की निगाह से बचा जा सकता है लेकिन कुदरत की निगाह से नही बचा जा सकता। कर्मो की स्थिति बडी विचित्र होती है। कर्म अपनी विचित्र दशा से आत्मा को दण्डित करते रहते है।

{1257}

जिस इन्द्रिय को जिस विषय से सुख की अनुभूति होती है, उस इन्द्रिय को उसी विषय से बार-बार सम्बन्धित किया जाय तो वह विषय सुख देने के स्थान पर दुःख देने वाली बन जायेगी।

{1258}

जिन तौर तरीकों से अन्य पदार्थो का ज्ञान किया जाता है उनके अतिरिक्त एक माध्यम इतना विशिष्ट है जिससे ज्ञान का ज्ञान भी किया जा सकता है। ज्ञान विषयी होता है। अन्य पदार्थ विषय होते हैं। पर जिस समय ज्ञान को विषय बनाया जाय और विषयी वह विशिष्ट ज्ञान हो उस वक्त की घडियॉ, उस समय का स्वरूप कुछ अलग ही होता है।

{1259}

इन्द्रियरामी जीव अच्छे पर राग और बूरे पर द्वेष कर बैठता है, जो कि उसके पतन का कारण बन जाता है।

{1260}

इन्द्रियों के माध्यम से जो शक्ति पौद्गलिक तत्त्वों में खर्च हो रही है,उसे अन्दर में नियोजित करें तो अन्तस् में विद्यमान सुख का अक्षय स्त्रोत उद्घाटित हो उठेगा।

{1261}

आत्मा इन्द्रियों के माध्यम से कभी पौद्गलिक वस्तुओं से शाश्वत सुख की अनुभूति नही कर सकती है।

{1262}

सुखी बनने के लिये भौतिकता की पकड़ छोडनी होगी।

{1263}

वर्तमान के परिवर्तन के आधार पर ही श्रेष्ठ भविष्य का निर्माण किया जा सकता है। इस रूप में भविष्य का आदर्श वर्तमान से सामने रहता है तो परिवर्तन की प्रक्रिया सहज वन जाती है। भविष्य का आदर्श होना चाहिए-सिद्ध स्वरूप।

{1264}

पॉचों इन्द्रियों की वैषयिक शक्ति से, जो विषय सुख पाना है, वह भीतर से पाने का प्रयास किया जाय, क्योंकि जो सुख भीतर में हैं, वह वाहर में नही।

{1265}

जो सुख वाहरी आवाज से नही मिलने वाला है, उसकी अपेक्षा अनिर्वचनीय सुख भीतरी आवाज को सुनने से मिल सकेगा।

{1266}

अर्हंत सिद्धान्त अहिंसा आदि सार्वजनीय, सार्वभौमिक है।

{1267}

जीवन इसी क्षण चमक सकता है,जिस क्षण जीवन का समीक्षण होता है, उसी क्षण से आत्मिक स्वरूप के लिये प्रतिक्षण को कार्य रूप में परिणित करने लगता है। ऐसी अलभ्य परिणति को विरले भव्य पुरुष ही अपने जीवन में उद्घाटित कर सकते ह।

{1268}

एक दृष्टि से इस जीवन
को भी इसी रूप मे देखने की
आवश्यकता है। ऊपर से ऑख, कान,
नाक आदि की सारी की सारी संरचना दिख रही है
एवं उसकी प्रवृत्तियॉ भी ज्ञात हो रही हैं, लेकिन
उनका मूल संचालन कहॉ से होता है और कहॉ से
होना चाहिये- इसको जाने विना जीवन का
सदुपयोग नही किया जा सकता।

{1269}

जितने संसार में
भव्य जन हैं और जो अपने
आत्म-कल्याण के अभिलाषी
है, वे सभी वीतराग की भक्ति
करते हैं।

{1270}

आज निश्छल मन छल
के तारों में उलझता कसता
जा रहा है। अन्तर सोचता कुछ हे किन्तु
उसका प्रकटीकरण किसी अन्य रूप मे ही
होता है। यह द्वेष भरा व्यवहार मनुष्य को
सत्य से विमुख वनता
जा रहा है।

{1271}

स्वार्थ का स्वभाव
संकुचित होता है वह सदा छोटा से
छोटा होता जाता है, उसका दायरा
वरावर घटता ही जाता है। जितना यह
दायरा घटता है,उतनी ही मनुष्यता
वोनी होती है,पशुता
बडी बनती जाती हैं।

{1272}

जीवन निर्वाह के लिये
धन चाहिये, वह निरपेक्ष भाव
से अर्जित किया जाय और चारों और
समता के वातावरण की पुष्टि की जाय
तब धन जीवन में प्राथमिक न रहकर
गौण हो जायगा।

{1273}

सार्थक जीवन वह है
जो स्वयं चले स्वस्थ एवं
सुदृढ गति से चले बल्कि अपने चलने
के साथ अन्य दुर्बल जीवनों में भी
प्रगति का बल भरता हुआ चले।

{1274}

दूसरे व्यक्ति लडेगे या नही
लेकिन उसने स्वयं अपने अन्दर
द्वन्द्वात्मक संघर्ष करने की दुष्प्रवृत्ति को जन्म देकर
कर्म बन्धन कर ही लिया। उसका दण्ड तो उसको
भोगना ही पडेगा। ऐसी होती है मन के
संकल्प-विकल्पों की भूमिका- जिसके आधार पर
मन,वचन और काया तीनो दुष्प्रवृत्तियों में संलग्न होते
हैं तथा उन दुष्प्रवृत्तियो का दण्ड भुगते हैं।

{1275}

ऐन्द्रियक विषयों
मे रमण करने
वाला प्राणी संसार के
भव-प्रपंच को
बढाता है।

{1276}

श्रोतेन्द्रिय जिसके
माध्यम से शब्दों को सुना जाता
है तो इसी श्रोतेन्द्रिय की शक्ति
से आत्मा की आवाज को
सुनने का प्रयास करना चाहिये।

{1277}

आत्मा की आवाज
कभी भी व्यक्ति को
गलत दिशा में नियोजित नहीं
करती है। वह सदा उसे सही
दिशा निर्देशन
देती है।

{1278}

आज का
मानव आत्मा की आवाज
को सुनने लग जाय तो
वह कभी
भी दु:खी नही
हो सकता।

{1279}

इन्द्रियाँ स्वयं में जड़ हैं—
जड़ाभिमुख हैं। आँखें देखने का स्वरूप
नही जानती, कान सुनने की कला नही जानते।
नासिका सूंघने के स्वरूप को नहीं समझती।
जिह्वा चखने की कार्य पद्धति का विज्ञान नही
रखती और त्वचा स्पर्श का स्वरूप समझ नहीं
पाती। समझने वाला इनसे भिन्न
कोई और ही है।

{1280}

इन्द्रियों के माध्यम
से जो शक्ति बाहरी विषयों को
पाने में विकेन्द्रित हो रही है, उसे
अन्तर चैतन्य को जागृत करने के
लिये केन्द्रित करने की
आवश्यकता है।

{1281}

जैसी शाश्वत
तृप्ति,आत्म रूप को
देखने से मिलेगी, वैसी तृप्ति
संसार के किसी भी जड तत्व को
देखने से मिलने
वाली नही।

{1282}

जैसा आत्मा
का मौलिक रूप
है। वैसा रूप संसार की
किसी वस्तु का नही है।

{1283}

ज्ञान का ज्ञान कराने वाला तत्त्व
कहाँ हैं—इसी तत्त्व को खोज के लिए
कम्प्यूटर का निर्माण किया गया है। शरीर विज्ञान
के लिए भी साधन उपलब्ध है लेकिन आत्म—ज्ञान
की खोज करने के लिए चरण नही उठाए गए
है। वह चरण वीतराग की वाणी में मिल रहे है।
प्रभु ने संकेत दिया "
नाणस्स सव्वस्स पगासणाए"।

{1268}

एक दृष्टि से इस जीवन
को भी इसी रूप मे देखने की
आवश्यकता है। ऊपर से ऑख, कान,
नाक आदि की सारी की सारी संरचना दिख रही है
एवं उसकी प्रवृत्तियॉ भी ज्ञात हो रही हैं, लेकिन
उनका मूल संचालन कहॉ से होता है और कहॉ से
होना चाहिये- इसको जाने विना जीवन का
सदुपयोग नही किया जा सकता।

{1269}

जितने संसार में
भव्य जन हैं और जो अपने
आत्म-कल्याण के अभिलापी
हैं, वे सभी वीतराग की भक्ति
करते हैं।

{1270}

आज निश्छल मन छल
के तारों में उलझता कसता
जा रहा है। अन्तर सोचता कुछ है किन्तु
उसका प्रकटीकरण किसी अन्य रूप मे ही
होता है। यह द्वेष भरा व्यवहार मनुष्य को
सत्य से विमुख वनता
जा रहा है।

{1271}

स्वार्थ का स्वभाव
संकुचित होता हे वह सदा छोटा से
छोटा होता जाता है, उसका दायरा
बरावर घटता ही जाता है। जितना यह
दायरा घटता है,उतनी ही मनुष्यता
बोनी होती है,पशुता
बडी बनती जाती हैं।

{1272}

जीवन निर्वाह के लिये
धन चाहिये, वह निरपेक्ष भाव
से अर्जित किया जाय और चारों और
समता के वातावरण की पुष्टि की जाय
तब धन जीवन में प्राथमिक न रहकर
गौण हो जायगा।

{1273}

सार्थक जीवन वह है
जो स्वयं चले स्वस्थ एवं
सुदृढ गति से चले बल्कि अपने चलने
के साथ अन्य दुर्बल जीवनों में भी
प्रगति का बल भरता हुआ चले।

{1274}

दूसरे व्यक्ति लडेगें या नही
लेकिन उसने स्वयं अपने अन्दर
द्वन्द्वात्मक संघर्ष करने की दुष्प्रवृत्ति को जन्म देकर
कर्म बन्धन कर ही लिया। उसका दण्ड तो उसको
भोगना ही पडेगा। ऐसी होती है मन के
संकल्प-विकल्पों की भूमिका- जिसके आधार पर
मन,वचन और काया तीनो दुष्प्रवृत्तियों में संलग्न होते
है तथा उन दुष्प्रवृत्तियो का दण्ड भुगते है।

{1275}

ऐन्द्रियक विषयों
मे रमण करने
वाला प्राणी संसार के
भव-प्रपंच को
बढाता है।

{1276}

श्रोतेन्द्रिय जिसके
माध्यम से शब्दों को सुना जाता
है तो इसी श्रोतेन्द्रिय की शक्ति
से आत्मा की आवाज को
सुनने का प्रयास करना चाहिये।

{1277}

आत्मा की आवाज
कभी भी व्यक्ति को
गलत दिशा में नियोजित नही
करती है। वह सदा उसे सही
दिशा निर्देशन
देती है।

{1278}

आज का
मानव आत्मा की आवाज
को सुनने लग जाय तो
वह कभी
भी दु.खी नही
हो सकता।

{1279}

इन्द्रियाँ स्वयं में जड़ हैं–
जड़ाभिमुख हैं। आँखें देखने का स्वरूप
नही जानती, कान सुनने की कला नही जानते।
नासिका सूंघने के स्वरूप को नही समझती।
जिह्वा चखने की कार्य पद्धति का विज्ञान नही
रखती और त्वचा स्पर्श का स्वरूप समझ नही
पाती। समझने वाला इनसे भिन्न
कोई और ही है।

{1280}

इन्द्रियो के माध्यम
से जो शक्ति बाहरी विषयों को
पाने में विकेन्द्रित हो रही है, उसे
अन्तर चैतन्य को जागृत करने के
लिये केन्द्रित करने की
आवश्यकता है।

{1281}

जैसी शाश्वत
तृप्ति,आत्म रूप को
देखने से मिलेगी, वैसी तृप्ति
संसार के किसी भी जड तत्व को
देखने से मिलने
वाली नही।

{1282}

जैसा आत्मा
का मौलिक रूप
है। वैसा रूप ससार की
किसी वस्तु का नही है।

{1283}

ज्ञान का ज्ञान कराने वाला तत्व
कहाँ है–इसी तत्व को खोज के लिए
कम्प्यूटर का निर्माण किया गया है। शरीर विज्ञान
के लिए भी साधन उपलब्ध है लेकिन आत्म–ज्ञान
की खोज करने के लिए चरण नही उठाए गए
है। वह चरण वीतराग की वाणी से मिल रहे हैं।
प्रभु ने सकेत दिया "
"नाणस्य सव्वस्स पगासणाए"।

{1284}

मुख्यतया मन ही मनुष्यों के कर्मबन्ध एवं कर्मक्षय का कारण होता है। इस मन की प्रवृत्ति से मनुष्य अपने जीवन को कर्मो से कुत्सित वनाता है। अपने लिये नये-नये कष्ट खडे करता है ओर अपने आपको वरवाद करता है। यह मन इतना वडा दण्ड हे कि जिसकी समानता की कल्पना भी नही की जा सकती है।

{1285}

क्रोध, मान, माया लोभ आदि कषाय अशुभ वृति के सूचक हें। इन पर नियन्त्रण ओर संयमन करके ही चेतना को ऊर्ध्वमुखी किया जा सकता है।

{1286}

समीक्षण ध्यान की विद्या इतनी विलक्षण एवं प्रभावोत्पादिका है कि उसकी विधिवत् साधना से साधक की अर्न्तदृष्टि जागृत होकर यथातथ्य अवलोकन में सक्षम बन जाती है।

{1287}

जो आत्मा अन्तर्मुखी साधना से हटकर इन्द्रियों के माध्यम से वैषयिक सुख पाने की दौड लगाती है वह भौतिकता मे उलझ जाती है, और अपनी आत्मा का गहरा अधःपतन कर लेती है।

{1288}

धर्म अन्धविश्वास, मन गढन्त कल्पना और भावोन्माद का परिणाम न होकर यथार्थ चिन्तन, उदात्त जीवनादर्शो और वृत्तियों के परिष्करण का प्रतिफलन है।

{1289}

अन्तर्दृष्टि समभावना एवं समदर्शिता के आधार पर एक ओर जड तत्वो की विभिन्न पर्यायो की भीतरी पर्तों को देख लेती है तो दूसरी ओर वह आत्मा की वृत्तियों तथा प्रवृत्तियो के रहस्यो का अवलोकन भी कर लेती है।

{1290}

जो मानसिक उलझनो में उलझ जाता है और मनोवृत्तियों का समीक्षण नही करता तो उन उलझनों में उसकी आत्म -प्रतीति मन्दी हो जाती है, वह अपने ही अन्तरंग मे उठती आवाज को समझ नही पाता है। परमात्मा किसी जिज्ञासा का क्या उत्तर देगा-यह तो स्वयं-की भीतर की आवाज होती है। यह आवाज उतनी ही सच्ची होगी जितनी आत्मा निर्मल और सूक्षम होगी।

{1291}

परम शान्ति के जिज्ञासु साधक को अतीन्द्रिय सुख की प्राप्ति के लिए समीक्षण के साथ ध्यान साधना मे गति करनी चाहिये।

{1292}

वीतराग वाणी के अनुसार वही मोक्ष का अधिकारी बनता है जो पुरुष सम्यक् ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र की आराधना करते हुए संयम का अनुपालन करता है।

{1293}

सिद्धात्मा और संसारी आत्मा के मूल स्वरूप में कोई अन्तर नही है। अन्तर है तो केवल उस स्वरूप की आवृतत्ता का एवं अनावृतत्ता का।

{1294}

समीक्षण के साथ की गई आत्मसाधना निश्चय ही शाश्वत शांति देने वाली होगी।

{1295}

जो हृदय की रसधारा में समरस बन कर न केवल अपने भीतरी बल्कि बाहर भी सब ओर आनन्द की उमंग उत्पन्न कर सकता है, वही हृदय विषमता की आग में जल कर स्वयं तो काला कलूटा बनता ही है, किन्तु उस कालिमा को वातावरण मे भी चारों ओर विस्तारित कर देता है।

{1296}

वैचारिक समता का आधार है प्राणीमात्र के स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार करना एवं स्वयं अपने लिये किसी को कष्ट न पहुँचाना।

{1297}

मोक्ष को समग्र रूप से समाहित कर लेने के लिए कषायों को विलग करने का पुरुषार्थ क्रियान्वित किया जाना चाहिये।

{1298}

वास्तविक सत्य के दर्शन करने हैं तो वे बाहर नही भीतर में ही होंगे।

{1299}

व्यक्ति के हृदय की आन्तरिक गहराइयों मे तो क्या बाह्य संसार में व्यक्ति से लेकर परिवार, समाज, राष्ट्र एवं समूचे विश्व में प्रायः विषमता फैलती जा रही हैं। गहराती जा रही है। इसे समझकर संशोधित करने की आवश्यकता हे।

{1300}

परमात्मा कही बाहर नही है। वह आपके अपने ही भीतर है। उसको आपने दवा रखा है। उसके ऊपर आपने आवरण डाल दिये हैं। फिर भी वह पूरी तरह दवता नही है, छिपता नही है ओर समय-समय पर आपको अपना आभास देता रहता है। यदि आप तल्लीनता से दृढ़-संकल्प पूर्वक समीक्षण प्रक्रिया के माध्यम से अपने अन्तःकरण को कुछ पूछे तो उसका सही उत्तर आपको मिलेगा।

{1301}

काषायिक वृत्तियों रूपी अवरोध को शास्त्रोक्त रीति से संयम का अनुष्ठान करके दूर कर सकते हैं।

{1302}

आत्मा की विकास यात्रा के सभी काषायिक अवरोध दूर हों और उसका मूल स्वरूप निरन्तर उज्जवल से उज्जवलतर होता रहे, तभी मोक्ष का अधिकारी निरन्तर समीप से समीपतर आता है।

{1304}

जैसे वेडियों से जडकर किसी को कारागार मे डाल देने से उसकी जिस रूप में बाह्य दशा देखी जा सकती है, वैसी ही आन्तरिक दशा का अनुमान क्रोध की अवस्था में किया जा सकता है।

{1305}

संस्कृति एवं समता के विकास का मूल बिन्दु ही यह होता है कि सुसंस्कृत एवं सभ्य मनुष्य पहले दूसरों के लिये सोचे दूसरों के लिये कुछ करें और अपने लिए बाद में।

{1306}

विषमता की वृत्ति मानव मन, वचन, काया के आन्तरिक आयामों तक में समाविष्ट होने से व्यक्ति परिवार समाज, राष्ट्र एवं विश्व को व्याकुल बनाये हुए हैं।

{1307}

साधना में बैठने वालों को अपने मन पर अंकुश रखना है तो उसे छुटपल्ले नही रखना है। साधना में बैठने के बाद आप मन को पकडने की कोशिश करेंगे तो उसे पकड नही पायेंगे, किन्तु साधना की विधि से उसका निग्रह करिए, उसके गुलाम मत बनिए, स्वामी बनिए। उसके साथ मित्रता करेंगे तो मन रूपी वह घोडा आपके वश में आ जाएगा।आप मन के घोडे पर सवार हो जायेंगे।

{1308}

जो साधक अपनी आत्मा के भीतर उभरता है और भीतर के स्वरूप को अपनी ज्ञान दृष्टि से देखता है, वही आत्मदृष्टा कहलाता है।

{1309}

विषभरी यह विषमता
सबसे पहले मानव हृदय
की भीतरी परतों में घुसकर उसे
क्षत–विक्षत बनाती है और हृदय
की सौजन्यता और शालीनता को
नष्ट कर देती है।

{1310}

इस आत्मा
ने जो भी, जैसे भी,
शुभ या अशुभ कर्मों का उपार्जन
किया है, उन्हीं
का शुभाशुभ फल
वह पाता है।

{1311}

पौद्गलिक
पदार्थ स्वयं
आनन्द रूप नहीं है।
उसमें आनन्द थोपा जाता
है।

{1312}

सहकार के सूत्र में अतीत से
बन्धे हुए भारत पर ही यदि दृष्टिपात
करें तो क्या यह स्पष्ट नही होगा कि ज्यों–ज्यों
सब ओर विषमता फैलती जा रही है त्यों–त्यों
सरकार की कडियॉं ही नहीं टूट रही हैं ? बल्कि
मानवीय सद्गुणों का शनै· शनै· ह्रास भी
होता चला जा रहा है।

{1313}

स्वार्थ के घेरे में
जो विचार जन्म लेते हैं,
वे उदार त्यागमय नहीं होते और
त्याग के बिना मन अपने मूल
निर्मल स्वरूप को ऊचाईयों में
ऊपर कैसे
उठा सकता है ?

{1314}

अनियंत्रित विज्ञान
के विकास ने मानव
को असन्तुलित बना दिया है।
लेकिन व्यक्ति का मानसिक
सन्तुलन, उसे
बचा सकता है।

{1315}

मनयोग से
किये जाने वाला
कार्य अच्छा होगा
और साथ ही मन
की साधना भी
सधेगी।

{1316}

विषमता से अधिकाधिक विषम
बन कर जब इन्सान भौतिकता को
पाने के लिये बेतहाशा भागता है तो भौतिक
उपलब्धियॉं उसे मिले या नही यह दूसरी बात
है, लेकिन वह उस भाग दौड़ और
भगदड़ में दुर्गुणों का संचय तो
अवश्य ही कर लेता है।

{1317}

शरीर के भीतर में विषवर्षी ग्रंथितंत्र भी होते हैं, तो अमृतवर्षी ग्रन्थितंत्र भी होते हैं। बाहर के मारक विष का प्रभाव होने पर अमृतवर्षी ग्रंथितंत्र निष्क्रिय होने लगते हैं तथा विषवर्षी ग्रंथितंत्र सक्रिय, जिसके कारण बाहर के जहर तथा भीतर के जहर के संयुक्त हो जाने से एक नई विष शक्ति का स्त्रोत फूट पड़ता हैं।

{1318}

विज्ञान जहाँ वास्तव में निर्माण का साधक बनना चाहिए, वहाँ वह उसके दुरूपयोग से विनाश और महाविनाश का साधन बनता जा रहा है।

{1319}

आज विषमता मनुष्य के मन की गहराईयों मे समा रही है, वाणी के छल में फूट रही है और कर्म की प्रवचनाओं के रूप में प्रलय ढा रही है। उस विषमता की वृत्ति को रूपान्तरित करना होगा।

{1320}

श्री गणेश ही जहाँ विषमता के कुप्रभाव से विकृत भूमिका पर हो रहा हो वहाँ भला आगे का विकास सुप्रभावी एवं कल्याणकारी बनें- इसकी आशा निराशा मात्र ही सिद्ध होगी।

{1321}

व्यक्ति से लेकर विश्व तक समूचे रूप में प्रायः विषमता फैली हुई है। इससे विश्व के कोने-कोने में आत्मीयता का हास होता जा रहा है।

{1322}

विलास की कगार पर खडा इन्सान अट्टहास कर रहा है तो विनाश की कगार पर खडा इन्सान इतना स्वार्थ ग्रस्त है कि दोनों को यह भान नही हैं कि किसी भी क्षण पतन की खाई में गिर सकते हैं।

{1323}

राजनीति में, अर्थनीति, में यथायोग्य समानता के जब पग उठाये जायेंगे, उसे अधिक से अधिक वास्तविक रूप दिया जायेगा तो समता की द्विधारा बहेगी-भीतर से बाहर और बाहर से भीतर। तब भौतिकता और आध्यात्मिकता संघर्षशील न रहकर एक दूसरे की पूरक बन जाएगी जिसका समन्वित रूप जीवन के बाह्य और अन्तर को समतामय बना देना।

{1324}

विचार प्रकट होता है वाणी के माध्यम से और विषम विचार वाणी को भी विषम बना देता है एवं कार्य में भी वैसी ही छाप छोडता है।

{1325}

आर्थिक विषमता
की विषमतम स्थितियों मे
भूलते भटकते समाज में कहाँ
खोजें मनुष्यता की मृदुल भावना
को कहां करे सौम्य एवं सरलता
से परिपूरित समता के दर्शन ?

{1326}

समता का
विचार जहाँ जीवन
का आह्वान करता है, वहाँ
विषमता जन्य विचार मृत्यु को
बुलाता है।

{1327}

आचरण की
धारा सम्यक् ज्ञान
के चट्टानी तटबंधों में ही
मर्यादित रहनी चाहिए।

{1328}

शुभ भावना भरना कठिन
लगता है, क्योंकि जो सम्पन्नता
उसे किसी भी आधार पर प्राप्त हुई
हैं, उसके आनन्दोपयोग से वह अपने आपको
क्यों विलग करें ? भोगग्रस्त उसकी चेतना
शिथिल और श्लथ हो रही है।

{1329}

आज दलन, दमन
शोषण और उत्पीड़न की कठिन
चोटों को झेलता हुआ मायूस
इन्सान विवशता के भार से दबता
हुआ प्रतिपल अपनी स्वस्थ
चेतना को खोता जा रहा है।

{1330}

विषमता के
वशीभूत होकर व्यक्ति हृदयहीन,
गुणहीन और कर्त्तव्यहीन होता
जा रहा है।

{1331}

जिसके
जीवन में समता
स्वर प्रस्फुटित नही होते,
उसका जीवन महान् नही
बन सकता।

{1332}

मनुष्य के मन में और
उसके बाहर परिवार से लेकर
समूचे संसार में ऐसा नव जीवन लाने का एक
मात्र उपाय है कि सभी तरह की विषमताओं पर
घातक आक्रमण किया जाय और समतामय
जीवन शैली का विकास साधा जाय।

{1333}

जिसका लक्ष्य विपरीत है, श्रद्धान सही नहीं है, वह व्यक्ति कितनी भी कुछ क्रियाएं करे, चाहे वह संसार के अंदर परोपकार के नाम से क्रिया करे। चाहे किसी अन्य सेवा की दृष्टि से काम करे,अथवा धार्मिक क्षेत्र की पोशाक लेकर के कठिन से कठिन तप भी करें, परन्तु वह मोक्ष साधक न होकर संसार वर्धक है। लक्ष्य से विपरीत दिशा में चलने वाली गाड़ी की तरह, जीव की वह यात्रा व्यर्थ हो जाती है।

{1334}

हमारी संस्कृति का जो मूलधार गुण और कर्म पर किया गया था, वह इस असन्तुलित वातावरण के बीच उखड़ता जा रहा है।

{1335}

यशलिप्सा का इच्छुक साधक साधना करके भी संसार में भटकता है। और अपने भक्तों को भी संसार में भटकाता है। इन्सान का सत्कार्य यश लिप्सा से ऊपर उठकर करना चाहिये।

{1336}

जब तक इच्छाएँ बनी रहेगी तब तक दुःखो से मुक्ति नहीं हो सकती। अतः इन्सान को चाहिये, अपनी इच्छाओं को सीमित करें। और एक न एक दिन इच्छाओं के भंवर से पूरी तरह बाहर निकल जाय।

{1337}

भव्यात्माएं महापुरुषों के आदर्श रूप जीवन के साथ जब अपनी आत्मा का तुलनात्मक अध्ययन करती है तो उन्हें कर्म का काला धब्बा स्पष्ट नजर आ जाता है।

{1338}

आहार दान, ज्ञान–दान, औषध दान, भी अपने–अपने स्थान पर उपयोगी है, किन्तु इन सभी दानों का आधार भूत अभयदान है। मरते हुए व्यक्ति की रक्षा करना सबसे बड़ा दान है।

{1339}

वृद्धावस्था तत्क्षण नहीं आती, अपितु निरन्तर पौद्गलिक परमाणुओं के परिवर्तन से आती है। लेकिन यदि जवानी का भाव बना रहे तो पुद्गलों के घटने पर भी युवावस्था बनी रहती है। क्योंकि यौवन शब्द की व्युचित करते हुए कहा गया है –*"मनोभाव यौवनम्"* जवानी का भाव ही यौवन है।

{1340}

विचार सर्वप्रथम हृदय तल से ही फूटता है और इस प्रस्फुटन का रूप वैसा ही होता है, जैसा कि साधन मिलता है।

{1341}

जड़ पदार्थ में
उत्पाद–व्यय होते हुए भी
वे जड़त्व की अपेक्षा ध्रुव होते है।
उस जड़ पदार्थ का आकर्षण
आत्मा को भी जड़ता की ओर ले
जाने वाला बनता है।

{1342}

आत्मा की चरम
परिणति परिपूर्ण, शांत– प्रशान्त
अवस्था पाने के लिये
आवश्यकता है, दृढ़
संकल्प–शक्ति की।

{1343}

शरीर की
चिकित्सा डाक्टर करते हैं।
मन एवं कर्मों की चिकित्सा
समता
करती है।

{1344}

मृत्युभय से आतंकित
व्यक्ति को दुनियां की सारी सम्पत्ति
क्यों न दे दी जाय फिर भी वह सुखी नहीं बन
सकता। वह तभी सुखी बन सकता जब मृत्यु के
भय से मुक्त हो। आत्मसाधना में रमने वाला
व्यक्ति मृत्यु –जंयी बन जाता है उसे मौत का
कोई डर नहीं रह जाता।

{1345}

कितना भी परिवर्तन
हो जाय किन्तु जड़ कभी चैतन्य
नहीं होता। जड़,चेतन से विजातीय
होने से उसे सुख नहीं दे सकता।
चेतन ही चेतन को सुखी बना
सकता है।

{1346}

करूणावंत साधक
अखिल प्राणियों के
दु:खों को दूर करने की
नि:स्वार्थ भावना वाले
होते है।

{1347}

मानसिक
एवं कर्म–रोगों से रूग्ण
मानवों को समता
चिकित्सा प्रणाली अपनानी
चाहिए।

{1348}

निष्कपट रहने पर
प्रामाणिकता आती है और इसके
आने पर जीवन में एक स्वस्थ एवं व्यवस्थित
परिपाटी के निर्माण का संकल्प जगाता है। इसी
व्यवस्था का नाम है मर्यादा, नियम एवं
संयम का अनुपालन।

{1349}

समीक्षण ध्यान की साधना पद्धति आगम वर्णित सहज योग की साधना पद्धति का ही मूल रूप है। जैनागमों में ध्यान साधना का विहंगम एवं गहनतम विवेचन--वर्णन उपलब्ध होता है वहां ध्यान,ध्याता और ध्येय के संबंध में ही नही, इनकी सुव्यवस्थित क्रिया विविधों के संदर्भ में भी सुविस्तृत हुआ है।

{1350}

अपने निज स्वरूप को भूल कर संसार के विज्ञान को ही सब कुछ मानता है, वह अज्ञानी है।

{1351}

जिन धर्म के उपासक कहलाने वाले जैनी, जो कि छोटे से छोटे जन्तु को मारने में हिचकते हैं, ऐसे अहिंसक व्यक्ति यदि दहेज प्रथा के रोग से ग्रस्त है तो वे सच्ची तरह से अहिंसा की उपासना नही कर सकते।

{1352}

जिह्वा के वश होकर अण्डे जैसे अभक्ष्य नॉनवेज मिश्रण दिया जाता है। अतः शाकाहारी वस्तुओं को भी समझकर उपयोग करने की आवश्यकता है जिसमें अधिक रूप में नॉनवेज हो, वह शाकाहार भी घातक है।

{1353}

उच्चवर्ग का पाखण्ड रूपी विष आज इस तरह सब ओर रमने लगा है कि दीप लेकर भी प्रामाणिकता को खोज निकालना कठिन हो गया है।

{1354}

प्रामाणिकता की धारा उन लोगों से बहेगी तभी वह सारे समाज में फैलेगी, जो समाज में किसी भी नजर से जिम्मेदार जगहों (पदों) पर काम करते हैं अथवा परम आध्यात्मिक है।

{1355}

मन एक ऐसा अश्व है कि यदि लगाम हाथ मे न हो तो सवार को किसी भी बीहड वन में भटका सकता है या भयंकर गड्ढे में डाल देता है किन्तु यह भी उतना ही सत्य है कि मन की दशा बदल जाय, उसे सम्यक् मार्ग मिल जाये तो वह प्रचण्डतम ऊर्जा का संभाग बन कर परमात्म साक्षात्कार का माध्यम भी बन सकता है।

{1356}

वीतरागी महापुरुषों की गुण स्तवना स्वात्मीय जीवन को आलोकित करने में सहायक होती है।

{1357}

स्वात्माभिमुख
साधक यह जान लेता
है कि मनोज्ञता या
अमनोज्ञता पुद्गल के
परिणाम से है, इस पर राग द्वेष
कर कर्म बंधन
नही करना चाहिये।

{1358}

चैतन्य उत्पाद-व्यय
स्वभाव वाला होते हुए
भी चैतन्यत्व की अपेक्षा ध्रुव है।
उस चैतन्यत्व के जागृत करने के
लिए चेतन का ही
सम्पर्क प्रभावी बनता है।

{1359}

शान्ति का
स्वरूप सम्यक्
प्रकार से मन के समीक्षण
से ही जाना जा सकता
है।

{1360}

जिस प्रकार आत्माएं मूल में
समान होती है किन्तु कर्मो का मैल उनमें
विवाद पैदा करता है, उन्हें संयम और नियम
द्वारा समान बनाया जा सकता है। उसी प्रकार
समग्र मानव समाज में भी स्वस्थ नियम प्रणाली
एवं सुदृढ संयम की सहायता से समाज
में समता का भी प्रसारण किया
जा सकता है।

{1361}

रुपासक्ति इस
जीवन को ही नही जन्म जन्मान्तर
को बर्बाद कर देती है। व्यक्ति के
मानसिक तंत्र को खराब करके
इस जीवन की गतिविधियों को भी
अस्त- व्यस्त कर देती है।

{1362}

आप सभी श्रेय
मार्ग के राही बनना चाहते हों,
तो प्रेय मार्ग को सबल बनाने
वाली दहेज प्रथा को त्याग देना
चाहिए।

{1363}

वर्तमान
युग में सन्तोष की सीमाएँ
टूट गई और वितृष्णा
व्यापक हो रही है।

{1364}

वर्तमान विषमता के मूल
में सत्ता व सम्पति पर व्यक्तिगत
या पार्टीगत लिप्सा की प्रवलता ही विशेष रूप से
कारण भूत है। यही कारण
सच्ची मानवता के विकास में वाधक है।
समता ही इसका स्थायी व सर्वजन
हितकारी निराकरण हे।

{1365}

भौतिकता और आध्यात्मिकता में जड़त्व और चैतन्य शक्ति में अथवा अन्तर बाह्य दृष्टि में जितना अधिक भेद होगा उतनी ही विषमता अधिक कटु, कुटिल और कष्टदायक होगी। इनमें जितना समन्वय बढेगा उतना ही स्वार्थ मोह घटेगा परिग्रह के प्रति मूर्छा एवं ममत्व कम करेगा तो उतने ही अशों में सबको सुख देने वाली समता का सदाशयता का श्रेष्ठ विकास होगा।

{1366}

सुगंधित पदार्थ एन्द्रियक रमण एवं दुर्गन्धित पदार्थ पर घृणा आत्मा के पतन का कारण है। कस्तुरी मृग सुगंध में आसक्त होकर ही भटकता रहता है।

{1367}

कर्णेन्द्रिय पर आसक्ति जब सर्प और मृग को परतंत्र बना देती है, उनके जीवन प्रणाश का कारण बन जाती है तो उसी कर्णेन्द्रिय के विषय में आसक्त इन्द्रिय सभी मानव की क्या दशा होगी?

{1368}

सम्यक् निर्णायक समतामय जीवन की प्राप्ति का लक्ष्य जब अपने सामने रखा जायेंगा तो मिथ्या धारणाएँ निर्मूल होगी तथा ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र का निर्मल आलोक चारों और फैलेगा।

{1369}

जहाँ पाखण्ड, दंभ या हिप्पोक्रेसी है जहां मन वाणी और कर्म की एकरूपता का प्रश्न ही नहीं तो उस आचरण से भयंकर विषमता ही फैलेगी।

{1370}

महावीर का मार्ग एक दृष्टि से निवृत्ति प्रधान मार्ग कहलाता है वह इसलिए की उनकी शिक्षाऐं मनुष्य को जड पदार्थो के व्यर्थ व्यामोह से हटा कर चेतन के ज्ञानमय प्रकाश में ले जाना चाहती है।

{1371}

मानव मस्तिष्क में नये-नये विचारों का उदय होता है। ये विचार प्रकाशित होकर अन्य विचारों को आन्दोलित करते हैं। फिर समाज में विचारों में आदान-प्रदान एवं संघर्ष समन्वय का क्रम चलता है। इसी विचार मन्थन में से विचार नवनीत निकालने का कार्य युग पुरुष किया करते है।

{1372}

रूप में आसक्त मानव अपना भान खो बैठता है, हित-अहित के विवेक से विकल हो उठता है, उसकी प्रतिभा कुंठित हो जाती है।

{1373}

सज्जन प्रकृति का मनुष्य बुराई मे भी अच्छाई को ही देखता है लेकिन दुष्ट प्रकृति का मुनष्य अच्छे से अच्छे स्थान से भी बुराई करने की कुचेष्टा करता रहता है।

{1374}

मनुष्य के मन के मूल में रही समता ज्यों–ज्यों उभरती जायेगी वह अपने व्यापक प्रभाव के साथ मानव जीवन को भी उबारती जायेगी।

{1375}

प्राण धारण करना मात्र ही सच्चा जीवन नहीं हैं वह तो निर्णयशील एवं समभावी होना चाहिये।

{1376}

मनुष्य के मन में और उसके बाहर परिवार से लेकर समूचे संसार में ऐसा नव जीवन लाने का एक मात्र उपाय है कि सभी तरह की विषमताओं पर घातक आक्रमण किया जाय और समतामय जीवन शैली का विकास साधा जाय।

{1377}

आन्तरिक शक्तियों का जिस रूप में हनन क्रोध के शस्त्र से होता है। वह हनन आत्मा के संसार परिभ्रमण को अधिक जटिल तथा अधिक दुखःदायक बना देती है।

{1378}

मन का दुष्ट ध्यान वचन की कठोरताओं के साथ व्यवहार की क्रूरता में फूटता है तो क्रोधी सबको अपना शत्रु बना लेता है।

{1379}

जीवन में सच्चे आनन्द का स्त्रोत समता की सरलता से ही फूट सकेंगे।

{1380}

समता मनुष्य के मन मे तो समता समाज के जीवन में। समता भावना की गहराइयों में तो समता साधना की ऊँचाइयों में। प्रगति के ऐसे उत्कृष्ट स्तरों पर फिर समता के सुप्रभाव से मनुष्यत्व तो क्या ईश्वरत्व भी समीप आने लगेगा।

{1381}

अन्तः समीक्षण कषाय की आग को शान्त करने के लिए पानी है,वैर विरोध की गर्मी को प्रशान्त करने हेतु यह मेघ की धारा, मन की मलीनता को धोने हेतु गंगाजल है,विषयों के विष विकारो को हटाने के लिए अमृत हे, मोहान्धकार को हटाने के लिए सूर्य हे, आध्यात्मिक दीनता को दूर करने के लिए चिन्तामणी है,और मुक्ति रूपी फल के लिए कल्पवृक्ष हे।

{1382}

महावीर ने इस समता दर्शन को व्यवहारिक वनाने के लिए जिस चतुर्विध संघ की स्थापना की उसकी आधारशिला भी समता पर रखी गयी।

{1383}

दृष्टि जब सम होती है अर्थात-उसके भेद नही होता विकार नही होता और उपेक्षा नही होती, तब उसकी नजर मे जो आता है वह न तो राग या द्वेष से कलुषित होता है और न स्वार्थभाव से दुषित।

{1384}

क्रोध को मेगाटन शक्ति वाला बंम या इससे भी भयानक बंब कह सकते हैं जो जहॉ गिरता है, वहॉ की आत्म- गुणों की उपजाऊ भूमि को नष्ट -भ्ष्ट कर डालता है।

{1385}

कटु वचन को तलवार की धार की उपमा दी जाती है। तलवार का घाव तो कालान्तर में शीघ्र भर जाता है लेकिन दुर्वचन का घाव दीर्धकाल तक हरा रहता है।

{1386}

क्रोधी व्यक्ति अपने चरित्र को देखना और समझना तो भूल जाता है। परन्तु दूसरो की अधिकाशतः झूठी निन्दा करने में कुशल बन जाता है। उसके स्वभाव की यह विकृत्ति उसे असामाजिक बना देती है।

{1387}

यदि व्यक्ति के मस्तिष्क मे समता जीवन दर्शन का बीज अकुरित हो गया है तो उसकी वाणी मे समता का प्रवाह बहने लगेगा, उसके नेत्रो से समता का झरना बहेगा, उसके कानो मे समता का नाद गूजेगा, उसके हाथ समता के कार्य मे अग्रसर होगे, उसके पैरो की गति समता जीवन की साधना मे तप्पर होगी, उसके शरीर के अणु-२ मे से समता जीवन दर्शन का प्रकाश फूट पडेगा और वह समता की परम पावनी गंगा बहाता हुआ जन- जन के मन को पवित्र करता हुआ चलेगा।

{1388}

क्रोध के इस कुप्रभाव की विष-तरंगे इस प्रकार फैल जाती है कि जो क्रोधी के तन मन को दीर्घकाल तक स्वस्थ नही होने देती।

{1389}

मेरे तेरे की
भावना से ऊपर उठने में
ही जागृति का मूल मन्त्र समाया
हुआ है और इसी भावना की नीव
पर त्याग का प्रासाद खडा किया
जा सकता है।

{1390}

जड का मादक असर
जितना बढता है दुर्गुणों
की ग्रस्तता उतनी ही अधिक
फैलती है और इसी परिमाण में
चेतना शक्ति दुर्बल होती चली
जाती है।

{1391}

मन की क्रूर विचारणाएँ
वचन
की कठोरता मे प्रकट
होकर सब का दिल
दुःखाती है।

{1392}

वर्तमान विषमता की
कर्कश ध्वनियों के बीच आज
साहस करके समता के समरस स्वरों
को सारी दिशाओं में गुंजायमान करने
की आवश्यकता है सम्पूर्ण मानव समाज ही नही
समूचा प्राणी समाज भी इन
स्वरों से आल्हादित हो उठेगा।

{1393}

त्याग का अर्थ है
जो अपने पास परिग्रह है उसे भी
परोपकार के निमित्त छोड़ देना
बल्कि यों कहें कि अपनी ही
आत्मा के उपकार के
निमित्त छोड़ देना।

{1394}

सम्पन्न वर्ग का
चैतन्य जड़ के संसर्ग से जड
हुआ जा रहा हैं तो अभावग्रस्त
वर्ग का चैतन्य जड के अभाव में
जडा हुआ जा रहा है।

{1395}

भोग स्वयं
के लिये ही होता
हे इसलिए भोग वृत्ति
स्वार्थ को जन्म
देती है।

{1396}

जिह्वा के माध्यम से
प्राणी जिस मिष्ठान्न को अधिक
खाना चाहते हें, उसी मिष्ठान्न को
उसे बार-बार खिलाया जायगा तो वह उसक
लिए हानिकारक बन जाएगा। अतः इन्द्रिय
सुखों के उपभोग से हटकर इन्सान को
अतीन्द्रिय साधना में लगना चाहिये।

{1397}

साधना की आराधना उधार का धंधा नही, अपितु नगद का व्यापार है। लेकिन व्यक्ति साधना आज नही कल करना चाहता है और विराधना कल नही आज करना चाहता है। क्रोध कल नही आज वल्कि अभी करना चाहता है जब कि क्षमा आज नही कल करने में भी सोचने लगता है।

{1398}

मतलव खोर मन, मनुष्यता की जडों पर ही जव कुठारघात कर देता है तव स्वस्थ विचारों की उत्पत्ति ही दुस्साध्य वन जाती हे।

{1399}

आत्मा की समग्र उपलब्धियॉ मानव भव में ही संप्राप्त होती है। अतः तद्‌रूप मानवतन का मूल्यांकन करों। अमूल्य हीरे को कोडियों के भाव मे मत बेचो।

{1400}

वडे से वड़े विद्वान् भी अपनी विद्वत्ता को अनुभव को हथेली पर निकाल कर नही दिखा सकता। वैसे ही आत्मिक सुख, अनुभूति का विषय हे। उसे कहा नही, पाया जा सकता है।

{1401}

प्रकृति की दृष्टि से भी मांस खाना, इन्सान का लक्षण नही है। शाकाहारी पशु जिस प्रकार होठ से पानी पीते है। दांत उनके चपटे होते है। इन्सान के भी वैसे ही है। अतः शाकाहार ही मानवीय सभ्यता के अनुरत है।

{1402}

स्पर्श विषय मानव को क्षणिक सुखकारी महसूस हो सकता है, अन्ततः तो महा दु.ख देने वाला बनता है। आत्मा की ऊर्जा के अधोगामी बनाने वाला होता है। शरीर को शिथिल एवं मग्न बना देता है।

{1403}

स्मरण रखें, जिसका प्रारम्भ सुधर जाता है, उसका शेष जीवन भी सुधर जाता है। हलुवे की चासनी प्रारम्भ मे बिगड गई तो हलुवा बिगड जाएगा, वैसे ही जीवन की चासनी प्रारम्भ मे बिगड गई तो पूरी जिन्दगी बिगड जायेगी।

{1404}

दुर्गुण अकेला नही आता एक के साथ एक और एक के बाद एक इस तरह इस गति से मनुष्यता पशुता और पैशाचिकता में ढलती जा रही है।

{1405}

पुद्‌गलों के
परिवर्तन से सुंगध
दुर्गन्ध मय और दुर्गन्ध
सुगन्धमय हो जाती है। अतः
किसी पर भी राग द्वेष
करना उचित नही।

{1406}

शिक्षा का
उद्देश्य है-जीवन को संस्कारी
बनाना, न कि
धनोपार्जन। धनार्थी की शिक्षा,
घातक भी बन
सकती है।

{1407}

सच्चा,
उपदेष्ण,अनुग्रह बुद्धि
से जैसे पुण्यशाली सत्ता
-सम्पन्न को उपदेश देते है,
वैसे ही तुच्छ
रंक को भी।

{1408}

किसी भी महापुरुष का
गुण-गान करें, किन्तु जब तक
उनके गुणों का प्रवेश जीवन में नही होगा तब
तक स्वयं उत्थान नही हो सकता। रोटी के
गुण समझने एवं गाने के साथ ही पेट भरने के
लिए उसे खाना भी होगा।

{1409}

कोई भी
इन्द्रिय बाहरी तत्त्वों
में अधिकाधिक शान्ति नही
पा सकती। बाहरी तत्त्वों का
बार-बार उपभोग आत्मा
को दुःखी बनाने वाला
होता है।

{1410}

एन्द्रियक शक्ति
भौतिक विषयों में लगकर
क्षणिक सुख देती है। जब कि
वही शक्ति अध्यात्म लगे पर
शाश्वत आनन्न
प्रदान करती है।

{1411}

भीतरी के
विकारों को जलाने
के लिए तप आवश्यक हे।
तप तन को ही नही बुद्धि
को भी निर्मल
वना देता है।

{1412}

जिनके पास भौतिक साधनों
की जितनी अधिक विपुलता हे, वे
उतने ही अधिक अशान्ति की आग से जल रहे
हैं। इसका कारण उनकी तुच्छ स्वार्थ वुद्धि हे,
यदि वे उनका उपभोग सम्यक् रीत से करें तो
आनन्द भी पा सकते हें। मजा खाने में
नहीं खिलाने में हें।

{1413}

जवानी के साथ यदि धन
संपति का योग हो जाय तो
अनर्थो की संभावना एक पर एक ग्यारह की तरह
बढ सकती है। यदि इसके साथ प्रभुत्व (सत्ता)
मिल जाय तो १११ की तरह अनर्थो की संभावना
बहुत अधिक बढ जाती है यदि इनके साथ
अविवेक भी जुड जाय तो फिर कहना ही क्या
है-सर्वनाश ही समझ लेना चाहिए।

{1414}

तपस्या की
अग्नि में तपकर
आत्मा शुद्ध स्वर्ण की तरह
निखर उठती है। वशर्ते की
तप क्षमा भाव के साथ हो।

{1415}

जितना भी विकास
दृष्टिगत होता है चाहे
वह भौतिक क्षेत्र में हो
अथवा आध्यात्मिक क्षेत्र में,
वह मानव तन से ही
संभव हो सका है।

{1416}

जेसे वहता हुआ
पानी निर्मल होता है उसी तरह
विचरण करता हुआ मुनि भी
अनासक्त अप्रतिष्ठत ओर
निर्ममत्व होने के कारण
निर्मल बना रहता है।

{1417}

जिस संयम की साधना
और रक्षा हेतु शेषकाल में
विहार की अनुज्ञा है, उसी संयम की
साधना और रक्षा हेतु ही चातुर्मास
काल मे एक स्थान
पर रहने की अनुज्ञा है।

{1418}

चातुर्मास कल्प का
उद्देश्य मुनियों की आत्मसाधना तो
है ही परन्तु इसके साथ ही संघ, तीर्थ,
समाज और सर्व
साधारण के कल्याण की भावना भी
इसमें सन्निहित है।

{1419}

जिस प्रकार वस्त्रों का शरीर
की शक्ति के साथ संबंध नही है,
यदि पहलवान स्त्री वेश धारण करले तो उसकी
शक्ति में कोई अंतर नहीं पडता, उसी प्रकार
आत्मा के लिए स्त्री-पुरुष, आत्मा की अनंत
शक्ति में कोई
अंतर नही आता है।

{1420}

तप के माध्यम
से भूख की परतंत्रता मिटती
है, शरीर की आसक्ति घटती
है और भावनाओं
की निर्मलता आती है।

{1421}

आध्यात्मिक रत्नों
का संग्रहण गृहस्थ
जीवन में उतना नहीं हो पाता,
क्योंकि उसक समक्ष सांसारिक
झंझटे, समस्याएं खडी रहती हैं।

{1422}

बाह्य और
अन्तरंग दोनों ही संधियों
से जब समीक्षण पूर्वक नमन होगा
तब निश्चित रूप से सभी पापों
का नाश हो जाएगा।

{1423}

तप से दोषों
को हटाने की क्षमता, एवं
कषायों को शमन करने की
योग्यता प्रकट होती है।

{1424}

भगवान् महावीर ने दुव्यशात्री
बनने के लिए दान देने की बात
करी है, उसमें अन्नदान सब से पहले बतलाया है।
स्वयं पहले न खाकर दूसरों को खिलाकर खाने वाला
पुण्यशाली होता है। अन्न कितना दान में दिया यह
महत्व पूर्ण नही जितना कि स्वयं
के खाने से पहले खिलाना महत्वपूर्ण है।

{1425}

जो आत्मा साधु
जीवन स्वीकार करने
के साथ ही द्रव्य और भाव
से परिग्रह की ग्रंथि से मुक्त हो
जाता है। उस आध्यात्मिक जीवन
का अद्‌भुत खजाना हस्तगत हो
जाता है।

{1426}

धर्म और मोक्ष
के अंकुर को आप
प्रकट करना चाहते हैं तो पहले
आत्मा को सरल, करूणार्द और
सुकोमल बनाना सीखें।

{1427}

जो साधु साधना
करके भी चापल्य
वृति वाला बन जाता है,
वह कभी कभी उन्नत दशा
को प्राप्त नही कर सकता।

{1428}

लोहा भी २५०० डिग्री गर्मी
पाकर पिघलकर भाप बन जाता है।
उसी प्रकार जब शुभ ध्यान अग्नि की हीट तेज
होती है तो आत्मा भी कर्मो से हटती
तरल–हल्की बनाकर मुक्ति
की उडान भरने लगती है।

{1429}

यदि भावना की शुद्धि मात्र
से ही आत्मा को ऐसी परम
उपलब्धि हो जाती होती तो तीर्थकर
और दूसरें हजारों महापुरुष राज्य वैभव न
छोडते और तपश्चर्या के कठोर मार्ग का
अवलंबन न लेते और न ऐसा
करने का उपदेश ही देते।

{1430}

समता के
धरातल पर ही हमें वाह्य
एवं अन्तरंग का अवलोकन
करना है। तभी जीने की
सही
राह मिलेगी।

{1431}

साधु संत स्वकल्याण
के साथ ही सर्व-साधारण को विना
किसी भेदभाव के आशंसा रहित होकर,
एकान्त परमार्थ दृष्टि से उपदेश देकर
उनके जीवन को संस्कारित करने
का प्रयत्न करते हैं।

{1432}

आज दुनियां की दूरी
मिटने के साथ ही साथ
दिलों की दूरी बढती जा रही है। यह
उच्च स्वार्थ का परिणाम है। दिल की
दूरियां कमी आम
शांति नही दे पाती।

{1433}

समता द्वारा जीवन
मे समभावना की समीक्षण
द्वारा आत्मा से परमात्मा
की दूरी तय की जाती है।
आवश्यकता है इन्हें
समझने की।

{1434}

जिन आत्माओं ने
अपने अन्तर स्वरूप को समझा
है, उन्होंने संसार को समग्र रूप
से जाना हैं। उन्हें संसार से स्वतः
ही विरक्ति होती चली जाती है।

{1435}

आन्तरिक विकृति के सूक्ष्म
अंश आत्मा की भीतरी तहों मे इस
प्रकार छिपे रहते हैं, कि उन्हें पकडने की शक्ति
किसी सूक्ष्म दर्शक यंत्र मे नही है। उन्हें पकडने
के लिए तो उनके अनुरूप यंत्र की आवश्यकता
रहती है, वह यंत्र है - अन्तः समीक्षण।

{1436}

आज साधनों की
वृद्धि के साथ-साथ
अशान्ति की वृद्धि होती
जा रही है। इसका कारण,
व्यक्ति की विषमता
मूलक स्वार्थ परक
दृष्टिकोण है।

{1437}
अन्त समीक्षण
शांति का संदेश वाहक
है वर्षो की ही नही अपितु
जन्मों-जन्मांतरों की
कुआदतों से हटाकर आत्मा की
निजानतरमण
कराने वाला है।
{1438}
भौतिक साधनों
की अभिवृद्धि शान्ति
की विधि नही है। बल्कि व्यक्ति
की सही समझ
ही उसे सुखी बना
सकती है।
{1449}
भीतर में
अनन्त शक्ति
का स्त्रोत है,
जरा झांकिये
तो सही।
{1440}
आध्यात्मिक क्षेत्र में
तो पाखण्ड का अस्तित्व ही
घातक होता है जब कि वस्तुस्थिति
ऐसी भी है कि धर्म और सम्प्रदायों के
नाम पर भी भयंकर पांखड
चलता है। यह जटिल और
विषम स्थित है।
{1441}
यदि मानव वर्तमान
जीवन को व्यर्थ के
झंझावालों से बचाना चाहता
है तो व्यथ के पापों से बचने का
प्रयत्न करें। फिजूल
की बातों मे अपनी
एनर्जी खर्च न करें।
{1442}
अपनी गलत दिशा
को छोड दीजिये और सही
दिशा की ओर मुड जाइये। वह
सही दिशा है-
समता और समीक्षण।
{1423}
मनुष्य जीवन
से ही स्व का परिपूर्ण
समीक्षण किया
जा सकता है।
{1444}
कपट माया दंभ और
पाखण्ड की वृत्ति से अपनी
आत्मा की श्रेष्ठता की घात तो
वह करता ही हे किन्तु प्रतिशोध
या आत्मगलानि के भंवर में पडकर वह कभी
आत्म हत्या करने के लिये
भी तेयार हो जाता हे।

{1429}

यदि भावना की शुद्धि मात्र
से ही आत्मा को ऐसी परम
उपलब्धि हो जाती होती तो तीर्थंकर
और दूसरें हजारों महापुरुप राज्य वेभव न
छोडते और तपश्चर्या के कठोर मार्ग का
अवलंबन न लेते और न ऐसा
करने का उपदेश ही देते।

{1430}

समता के
धरातल पर ही हमें वाह्य
एवं अन्तरंग का अवलोकन
करना है। तभी जीने की
सही
राह मिलेगी।

{1431}

साधु संत स्वकल्याण
के साथ ही सर्व-साधारण को विना
किसी भेदभाव के आशंसा रहित होकर,
एकान्त परमार्थ दृष्टि से उपदेश देकर
उनके जीवन को संस्कारित करने
का प्रयत्न करते हैं।

{1432}

आज दुनियां की दूरी
मिटने के साथ ही साथ
दिलों की दूरी वढ़ती जा रही है। यह
उच्च स्वार्थ का परिणाम है। दिल की
दूरियां कमी आम
शांति नही दे पाती।

{1433}

समता द्वारा जीवन
मे समभावना की समीक्षण
द्वारा आत्मा से परमात्मा
की दूरी तय की जाती है।
आवश्यकता है इन्हें
समझने की।

{1434}

जिन आत्माओं ने
अपने अन्तर स्वरूप को समझा
है, उन्होंने संसार को समग्र रूप
से जाना हैं। उन्हें संसार से स्वतः
ही विरक्ति होती चली जाती है।

{1435}

आन्तरिक विकृति के सूक्ष्म
अंश आत्मा की भीतरी तहों मे इस
प्रकार छिपे रहते हैं, कि उन्हें पकडने की शक्ति
किसी सूक्ष्म दर्शक यंत्र मे नही है। उन्हें पकडने
के लिए तो उनके अनुरूप यंत्र की आवश्यकता
रहती है, वह यंत्र है - अन्तः समीक्षण।

{1436}

आज साधनों की
वृद्धि के साथ-साथ
अशान्ति की वृद्धि होती
जा रही है। इसका कारण,
व्यक्ति की विषमता
मूलक स्वार्थ परक
दृष्टिकोण है।

{1437}

अन्त समीक्षण
शांति का संदेश वाहक
है वर्षो की ही नही अपितु
जन्मों-जन्मांतरों की
कुआदतों से हटाकर आत्मा की
निजानतरमण
कराने वाला है।

{1438}

भौतिक साधनों
की अभिवृद्धि शान्ति
की विधि नही है। बल्कि व्यक्ति
की सही समझ
ही उसे सुखी बना
सकती है।

{1449}

भीतर में
अनन्त शक्ति
का स्त्रोत है,
जरा झांकिये
तो सही।

{1440}

आध्यात्मिक क्षेत्र में
तो पाखण्ड का अस्तित्व ही
घातक होता है जब कि वस्तुस्थिति
ऐसी भी है कि धर्म और सम्प्रदायों के
नाम पर भी भयंकर पांखड
चलता है। यह जटिल और
विषम स्थित है।

{1441}

यदि मानव वर्तमान
जीवन को व्यर्थ के
झंझावालों से बचाना चाहता
है तो व्यथ के पापों से बचने का
प्रयत्न करें। फिजूल
की बातों मे अपनी
एनर्जी खर्च न करें।

{1442}

अपनी गलत दिशा
को छोड दीजिये और सही
दिशा की ओर मुड जाइये। वह
सही दिशा है-
समता और समीक्षण।

{1423}

मनुष्य जीवन
से ही स्व का परिपूर्ण
समीक्षण किया
जा सकता है।

{1444}

कपट माया दंभ और
पाखण्ड की वृत्ति से अपनी
आत्मा की श्रेष्ठता की घात तो
वह करता ही हे किन्तु प्रतिशोध
या आत्मगलानि के भंवर में पडकर वह कभी
आत्म हत्या करने के लिये
भी तेयार हो जाता हे।

{1445}

जीवन की प्रक्रिया मन के साथ है। जीवन निर्माण की जठराग्नि मन हे। वह मन रूपी जठराग्नि यदि मन्द है तो कुछ ओषधि का सेवन करके तीव्र वनाना चाहिये। यदि उसकी पाचन क्रिया विकृत हो गई हे तो उसका इलाज करके उसे व्यवस्थित करना है। मन की जठराग्नि ही जीवन का रस तैयार करेगी ओर वर्तमान जीवन सुखी और समृद्धिशाली तभी वन सकेगा जबकि जीवन की तन्दुरुस्ती वास्तविक रूप मे आयेगी।

{1446}

मानव यदि अपनी शक्ति को मोडता हे, तो उसके भाग्य में भी मोड आ जाता हे।

{1447}

आज तक संसार का कोई भी व्यक्ति धन से सच्चा सुख नही पाया है। सुख भोग में नही त्याग में है। क्योंकि भोग के साधन जड है, वह चेतन आत्मा को सुखी नही बना सकते।

{1448}

जीवन की भव्य रत्न राशि में कंकरो के समान जो हीन भावनाओं का संचय है, काषायिक मलिन तत्त्वों की उपस्थिति हैं, उनको चुनने का अभ्यास बनाइये।

{1449}

भाग्य भरोसे चलने वाला इन्सान सफल नही होता। भाग्य कैसा भी क्यों न हो, यदि आदमी पुरुषार्थ सतत बना रहे तो कैसे सफल हो सकता है।

{1450}

जहां अलग-अलग पार्टियों हो, अलग-अलग व्यक्तियों के गुट हो, अलग- अलग भावना से स्वार्थ का पोषण हो वहां व्यक्ति का मन दूषित हुए बिना नही रहता।

{1451}

मन को पाप रूपी मल से खाली करना है उसके पश्चात् समता रूपी औषधि की मात्रा लेनी है, और आत्म-समीक्षण की साधना में प्रवेश करना है। वही प्रवेश साधना का रस प्रदान करने वाला बनेगा। सामायिक के कार्यक्रम में आपका मन डोलता रहा, केवल भक्तामर के शब्दों में रह गया तो पुण्यवानी तो बंधेगी, लेकिन जिस उद्देश्य से सामायिक साधना में बैठे हैं, वह उद्देश्य सिद्ध नही होगा।

{1452}

जो कुछ जाना है वह सही है या नही उसकी सबसे बडी कसौटी शुद्धात्मानुभूति ही होती है।

{1453}

आध्यात्म से तात्पर्य–
अधि आत्मनि योग इति
अध्यातम है जिसके मन– वचन–काय
का स्पन्दन आत्म स्वरूपी हो वह
अध्यात्म है। अतः किसी भी कार्य को
करने में साधक का लक्ष्य आत्म
स्पर्शि होना चाहिए।

{1454}

यदि मानव–मस्तिष्क समता
सिद्धान्त दर्शन से शुद्ध बनाया
जाय तो उसमें शांति का
बीजारोपण
हो सकता है।

{1455}

उत्तेजना,
व्यक्ति से अनर्थ
करा बैठती है। अतः कोई
भी निर्णय शांत चित्त से लें।

{1456}

बूरे विचार जल्दी भीतर
में प्रवेश पा जाते हैं, अच्छे
विचारों को लाने में काफी कुछ
प्रयत्न की आवश्यकता रहती है। पानी नीचे
स्वतः बहता है उसे ऊपर चढ़ाने
के लिये भारी होर्स पावर की
मशीनें लगानी पडती है।

{1457}

जिन आत्माओं
का शरीर, निर्मल आत्मा
से, निर्मल विचारों से जुड़ा रहता
है, उनका शरीर भी उन पवित्र
आत्मिक विचारों से प्रभावित हुए
बिना नही रहता है।

{1458}

भोग–विलास और
ऐश्वर्य के वातावरण में रहकर
केवल भावना के
बल पर मोक्ष की साधना
की बात जितनी सरल है,
उसका आचरण उतना
ही कठिन है।

{1459}

शरीर आत्मा
रहित है तो वह
बेकार है जड है। वह
सड़–गल जाता है दुर्गन्ध से
भर जाता है।

{1460}

सत्ता और सम्पत्ति को,
चाहे वह व्यक्तिगत हो या
राष्ट्रीय हो, अपने अधीन रखने वाला व्यक्ति
अपनी भावना को सात्विक रख सकें, यह
अत्यन्त कठिन और दुःशक्य है।

{1461}

परमात्मा का स्वरूप
'ऐसा नही है' "ऐसा नहीं है"
इस रूप में ही व्यक्त किया जा
सकता है। *"वह कैसा है"* यह विषय शब्दों और
विकल्पों की परिधि से बाहर है। परमात्मा केवल
अनुभवगम्य है, गूंगा गुड़ के स्वाद का अनुभव
कर सकता है, परन्तु उस स्वाद के स्वरूप का
कथन नही कर सकता हैं।

{1462}

आध्यात्मिक
गुणों के मकरन्द
का आस्वादन एक बार भी
किसी ने कर लिया है तो
उसका जीवन बदल
जाएगा।

{1463}

यदि मन में मलिनता
है तो नेत्रों में भी मलिनता
आए बिना नही रहेगी। भीतरी सोच का
किसी न किसी रूप
में बाहर रिएक्सन होगा ही
अत बाहर को नहीं भीतर
को ठीक करें।

{1464}

जिसका नाम ही
चंचला है, वह लक्ष्मी किसी भी व्यक्ति
के साथ स्थायी रूप से नहीं रह
सकती। अतः उसके आने में खुशी
एवं जाने पर गम करना बुद्धिमता
नहीं हैं।

{1465}

जो सदा के लिये
आध्यात्मिक लक्ष्मी को
पाना चाहता है, वह प्रभु के
श्रुत धर्म और चारित्र धर्म
रूप परम पवित्र चरणों
को ग्रहण करें।

{1466}

मन की चंचलता
व्यक्ति के पूरे अस्तित्व को प्रकंपित
करने लगती है। अतः मन को स्वच्छ
विचारों से ओत प्रोत बनाने के लिये
सत्संग, सत्साहित्य के पठन–पाठन को
करते रहना चाहिये।

{1467}

वैज्ञानिक अनुसंधानों का
लक्ष्य भौतिक मात्र होने के कारण
दुनिया के आनन्द में जो सुख–शान्ति परिलक्षित
होनी चाहिए थी, वह नही हो रही है। इसलिए
वैज्ञानिक अनुसंधानों के कारण
विश्व में अशान्ति
का वातावरण बढ़ा है।

{1468}

जिसमें
आध्यात्मिक गुणों
की सुगन्ध और वस्तुत.
आनन्द की लहर नहीं है तो
उस जीवन का विशेष
मूल्याकंन नहीं हो सकता।

{1469}

आस-पास का
वातावरण व्यक्ति को
बहुत हद तक प्रभावित करता
है।अतः सही संस्कारों को भीतर
में रमाने के
लिए संगत भी अच्छी
होनी चाहिये।

{1470}

चिन्तामणी रत्न
सम संप्राप्त मानव भव
का सदुपयोग आत्म-कल्याण के
लिए ही कीजिए,
भौतिक उपलब्धियों
के लिए नही।

{1471}

यदि हम
आत्मा रूपी दर्पण
को स्वच्छ करना
चाहते है तो ममता
के मैल को धोना
ही पडेगा।

{1472}

पावर-हाऊस से तारों के
माध्यम से सम्बन्धित होते ही जैसे
लट्टू रोशनी से जगमगाने लगता है, वैसे ही
प्रार्थना के द्वारा परमात्मा का सम्पर्क होते ही
भक्त का हृदय भी प्रकाश मान हो उठता है,
पाप की कालिमा नष्ट हो जाती है।

{1473}

जीवन रूपी वस्त्र
को धर्म के रंग में
रंग लीजिए। आपके हर व्यवहार
में धार्मिकता, सदाशयता
का पुट
रहना चाहिये।

{1474}

प्रार्थना के माध्यम
से भक्त के हृदय-तंत्री
के तार झंकृत हो उठते है। और
भावनाओं में अध्यात्म के प्रति
उभार आने
लगता है।

{1475}

प्रार्थना वह पथ्य
है जो हृदय
के रोगों को मिटा कर उसे
आरोग्य और
आनन्द प्रदान करता है।

{1476}

यह संदेहतीत तथ्य है कि
जब-जब मानव ने सदाचार की अवहेलना की,
उस पर विपत्ति के वादल मंडराये है।
विषमताएं पनपी है, जीवन का धागा टूटा है,
समाज उच्छृंखल
वना हे ओर राष्ट्र पर संकट
गहरा हे।

{1477}

मनोवैज्ञानिकों का कथन
है किजितने प्रश्न खडे होते हैं,
उतने ही समाधान पूर्व में ही निश्चित
होते हैं। समस्त तनावों से मुक्ति का एकमेव
समाधान है–ध्यान–योग। ध्यान–
साधना केवल मानसिक तनावों से ही
नही, आर्थिक,सामाजिक,पारिवारिक एवं
राजनैतिक सभी तनावों से मुक्ति
दिलाने में सक्षम हैं।

{1478}

मोह को
जीतना असंभव नही, संभव है
लेकिन उसके लिए आवश्यक
है दृढ
संकल्प और प्रबल
पुरुषार्थ की।

{1479}

मदिरा तो व्यक्ति की
चेतना को केवल आच्छादित
करती है, जबकि मोह आत्मा
की चेतना को आच्छादित करने के
साथ ही साथ उसे विपरीत दिशा में–
मिथ्यात्व में पटक देता है।

{1480}

गुरु और माता–पिता
नि स्वार्थ भाव से आशीर्वाद देने
वाले होते हैं। अतः यथा संभव
प्रतिदिन गुरुदर्शन, माता–पिता को
चरण नमन करना चाहिए। उनकी
दुआएं, तुम्हें भाग्यशाली बनाती है।

{1481}

पारिवारिक जीवन
में माता–पिता के अलावा
जो भी भाई – बहिन बड़े है उनके
प्रति सम्मानपूर्ण व्यवहार करने में
कोई हिचक
नहीं होना चाहिये।

{1482}

पारिवारिक परिवेश में,
जाति या समाज–गत क्षेत्र
में राष्ट्रीय परिधि में और अन्तर्राष्ट्रीय
स्थिति में –सर्वत्र सदाचार और
अनुशासन
की आवश्यकता है।

{1483}

स्थूल शरीर में चैतन्य देव रहा
हुआ है। उस चैतन्य देव के लिये स्थूल
शरीर भी एक प्रकार की पोषाक है। कपडे की
पोषाक जीर्णशीर्ण हो फट जाती है तो उस पोषाक से
विलग होने में किसी प्रकार का शोक, संताप नहीं
होता, बल्कि एक प्रकार की प्रसन्नता ही होती है।
वैसे ही स्थूल शरीर सम्बन्धी इष्ट के वियोग एवं
अनिष्ट के संयोग को भी पोषाकवत् समझ कर मुझे
समभाव का अवलम्बन लेना चाहिये।

{1484}

क्रोधी व्यक्ति
से पारिवारिक जन
भी प्रेम नहीं करते वे
भी सोचते हैं कि कब
घर से निकले तो
अच्छा रहे।

{1485}

भारतीय लोगों
में अंधानुकरण अधिक
देखा जाता है। यदि किसी भी
वस्तु से हानि भी है तो वह
जल्दी से उसे
छोड़ता नहीं है।

{1486}

प्रेम का पागल
व्यक्ति ऐसा अनर्थ
कर देता है जिसे भव–भव तक
नहीं सुधारा जा सकता है।

{1487}

क्रोध से किसी
आदमी को दबाया जा
सकता है बदला नहीं जा
सकता।

{1488}

यदि जीवन का सही मूल्यांकन
करना है, यदि नव–निर्माण की
शक्ति के साथ वर्तमान को स्वर्णिम
आदर्शों पर टिकाता है और भविष्य को
उज्ज्वलतर बनाना है तो जीवन में
सदाचार अपनाना ही होगा।

{1489}

यदि आज सुखी है
तो कल भी रहेगा। जो
आज सुखी नही है, वह कल भी
नही रह सकेगा। क्योंकि अमुक
इच्छा पूरी होते होते दूसरी अनेक
खडी हो जाती है।

{1490}

भारत भूमि
आध्यात्मिकता की जननी
है। यहां पर महात्माओं ने बहुत
कुछ किया है
और आगे भी करेंगे।

{1491}

पाश्चात्य देश
जिस भौतिकता
को उतार कर फैंक
रहे हैं, उसे भारतीय अपना
श्रृंगार समझ
रहे हैं।

{1492}

सम्मिलित व्यापार तभी
सफल हो सकता है जब दोनों का दिल साफ
हो और एक दूसरों के प्रति पूरी तरह समर्पित
हो। किसी के वहकावें में आकर एक दूसरे के
प्रति संदेहशील न वनते हुए परस्पर
स्पष्टीकरण कर लेते हो।

{1493}

वैज्ञानिकों को अब अनुभव
होने लगा है कि भौतिकता ही सब
कुछ नहीं है। वे भी अब अध्यात्म की ओर मुड़ने
लगे है। ऐसा सुना है कि आइस्टीन ने मरने से
पहले कहा था कि—इस जन्म में तो मैंने भौतिक
अनुसंधान किये है। लेकिन अगर भविष्य में मनुष्य
बनूँ तो अध्यात्म साधना करना चाहता हूं।

{1494}

विदेशी जनता
भारत से, उसकी सांस्कृतिक
ओर आध्यात्मिक सम्पदा
से बहुत अपेक्षाएं
रखती है।

{1495}

यदि परिवार के सदस्य
अपने दायित्व को समझ कर
पारिवारिक आचार संहिता और
अनुशासन का पालन करते हैं
तो निस्संदेह वह परिवार सुखी, समृद्ध
और शान्त होता है।

{1496}

पारिवारिक जीवन
वहां टूटते नजर आते हैं,
जहां परिवार के सदस्य अपनी
जिम्मेदारियों को भुलाकर एक
ही व्यक्ति पर निर्भर
हो जाते हैं।

{1497}

परिवार में एक ही
व्यक्ति कमावें और शेष
व्यक्ति हाथ पर हाथ धरे बैठे
रहे—उपभोग मात्र करें तो उस परिवार
की दशा प्रायः विकृत और विषम हो
जाती है।

{1498}

भारतवासियों ! अपनी
मौलिकता (आध्यात्मिकता)
को नष्ट कर भौतिकता की भूलभूलैया
में क्यों फंसते जा रहे हो ? अपनी
अन्तरंग शक्ति को पहिचानों जो
अद्भूत कार्यकारी बन सकती है।

{1499}

यूरोप, अमेरिका, रूस के
कई लोग भौतिकता से अब ऊब
चुके हैं, और वें अभौतिक तत्त्व की
प्राप्ति के प्रति उत्सुकता प्रकट कर
रहे हैं। वहां भारतीय जनता विरासत से
प्राप्त अध्यात्म को भूलाकर भौतिकता
की ओर कदम बढ़ा रही है। भारतीयों
को विरासत से प्राप्त शक्ति को
पहिचानने की आवश्यकता है।

{1500}

यदि दुनिया में
प्रगति की दौड़ में
आगे बढ़ाना चाहते हो तो
इसके लिए एक ही उपाय है
— *चरित्र की प्रतिष्ठा।*

{1501}

यदि भारतीय जनता उत्तराधिकार में मिले हुए अपने सिद्धान्तों पर, चरित्र निष्ठा पर प्रामाणिकता पूर्वक आचरण करती रहे तो वह विश्व में सबसे अग्रगण्य होगी।

{1502}

जैसे शुद्ध पात्र में रहा हुआ दूध गुणकारी एवं शोभावंत होता है, वैसे ही शुद्ध हृदय में की गई धर्म प्रतिष्ठा महत्वपूर्ण होती है।

{1503}

आज भूख पेट की नहीं पेटी की है।

{1504}

आत्मिक वैभव के उत्तराधिकारी स्वयं को दीन–हीन समझकर अमेरिका, रूप आदि विदेशों की ओर ललचाई दृष्टि से देख रहे हैं, जबकि विदेशी जनता भारत की आध्यात्मिक संपदा से आकर्षित हो रही है।

{1505}

जीवन की प्रांरभिक अवस्था में जैसे संस्कार और वातावरण मिलता है, उसी के अनुसार जीवन का निर्माण हुआ करता है।

{1506}

सास अपनी बहू को बेटी और बहू सास को माता मानले तो बहुत से पारिवारिक झगड़े समाप्त हो सकते है।

{1507}

जवानी दीवानी है, अगर इस पर नियंत्रण नही रखा तो भयंकर अनर्थ हो जायेगा।

{1508}

जैसे मणिरत्न, जब स्वर्ण के साथ संयोजित होता है तो उसकी चमक–दमक कई गुना बढ जाती है, वैसे ही शुद्ध हृदय में स्थापित किया गया धर्म आलौकिक गुणो से मंडित हो जाता है।

{1509}

कर्म लुटेरों का सरदार "मोह" बडा दुर्दान्त है। संसार में मोह राजा का वर्चस्व है। मोह के बंधनों को तोडना आसान नही, टेढी खीर है, दृढ फोलाद और लोह की जंजीरों को तोडना आसान है, परन्तु मोह के कच्चे धागे को तोडना बहुत कठिन है। आर्द्र कुमार ने राज्य वैभव छोड दिया। पर बच्चे के द्वारा बाँधे कच्चे सूत के धागे तोड नहीं पाया।

{1510}

यदि आप अपनी सन्तति को आध्यात्मिक क्षेत्र की ओर अग्रसर करना चाहते हैं तो उसे बचपन से ही वैसे संस्कार देने होगें।

{1511}

जो परिवार सुख का आगार बन सकता है, वही कारागार के समान दुःखदायी बन जाता है, क्यों? इसका एक मात्र कारण है- परिवार के सदस्यों में कर्त्तव्य भावना का अभाव।

{1512}

कोमल लताओं को इच्छा अनुसार दिशा दी जा सकती है, कोमल बालकों के जीवन को चाहे जिस दिशा में मोडा जा सकता है।

{1513}

यदि आप बच्चे को दिग्विजयी वीर बनाना चाहते है, तो प्रांरभ से ही उसके लिए व्यायाम आदि के संस्कार और साधन अपेक्षित होंगे। उसी प्रकार बचपन की संयमीय साधना विशिष्ट फल देने वाली बनती है।

{1514}

बच्चे के संस्कारों को सही बनाने के लिये बडो का सतसंस्कारित होना आवश्यक है क्योंकि बच्चे अनुकरणशील होते है। जैसा देखते है, वैसा करते है।

{1515}

जिस शरीर पर्याय को लेकर उसके वियोग में मैं आर्त्त ध्यान कर रहा हूँ, उस आर्त्त ध्यान के निमित्त आत्मा कर्मबंधन करती है। उन कर्मो का भोग स्वयं को ही करना पडता है। ऐसी दशा में मैं आर्त्त ध्यान क्यों करूं ? मेरा इतना ही संयोग था।

{1516}

यदि आप बालक को दिग्गज विद्वान् बनाना चाहते है तो प्रांरभ से ही उसकी शिक्षा की ओर पर्याप्त ध्यान देना आवश्यक है।

{1517}

आजकल पुरुषों
की अपेक्षा महिलाएं साधना,
तपस्या व धर्म के क्षेत्र में
विशेष प्रगतिशील है। यही नही
सामाजिक राजनैतिक एवं राष्ट्रीय
स्तर पर भी महिलाएं
विशेषता लिए है।

{1518}

संतजन अपने
सर्वजन हितकारी
उपदेशों द्वारा प्राणी मात्र
का कल्याण करते है।
अतएव वे विश्व
के परोपकारी है।

{1519}

जिसने मानव
मात्र ही नही,
प्राणी मात्र की सेवा का वृत
लिया है वह
सर्वोतम सेवा भावी है।

{1520}

जीवन में सुख शांति
का संचार और परिवार में
समृद्धि तभी तक संभव है जब तक मदिरापान
की आदत न लगी हो। मदिरापान की आदत
एक बार पड़ जाती है तो वह घर और परिवार
को बर्बाद किये बिना नही रहती।

{1521}

धरती एवं अंबर
को कंपाने वाले बडे-
बडे शूरवीर भी मोह की मोहिनी
शक्ति के सामने श्वान की तरह
दुम हिलाते रहे हैं।

{1522}

आत्मा मूल में
न तो स्त्री है न पुरुष
अतः न धनी न निर्धन। अतः
किसी भी प्रकार का
अभिमान या हीनभावना
करना व्यर्थ है।

स्त्री-पुरुष का
परस्पर सांमज्जस्य
पूर्ण व्यवहार ही
पारिवारिक शांति का
प्रतीक हे।

{1523}

किसी भी पदार्थ की पूरी
परिभाषा तभी संभव हे, जव
विधि-निषेध दोनों से समन्वित हो।
जेसे - अहिंसा का मतलव हिंसा का प्रतिवोध
ही नहीं हे अपितु जीवों की रक्षा रूप विधि पर
के अर्थ होने पर ही परिपूर्णता आती ह।

{1524}

{1525}

मन का पंखा वाहर नही अंदर घुम रहा है। जव तक हम को सामायिक में रस नही आएगा, यह मन का पंखा सरलता से वस मे आने वाला नही, इसको बन्द करने का वटन भीतर है और आप वाहर से देख रहे हैं। इसलिए साधना की उपलब्धि नही हो रही है। ४८ मिनिट की सामायिक में बैठ कर भीतर प्रवेश कर जाते है, आत्म-समीक्षण मे लग जाते हैं तो पंखे का स्वरूप समझ मे आ जाता है।

{1526}

कर्म लुटेरों ने आत्मा के वेभव को लुट लिया हे अतः आत्म शोर्य जगाकर कर्म रिपुओं को परास्त करिये।

{1527}

स्वतन्त्र और सार्वभौम चेतनराज पराये घर जाकर- पर परिणति मे पडकर कर्मो के चंगुल में फंस गया है। उसकी स्वतन्त्रता सार्वभौमता, अनंत शक्ति संपन्नता छीन ली गई है।

{1528}

प्रवृति और निवृति, विधि और निषेध एक ही सिक्के के दो पहलू है, एक ही रथ के दो चक्र है। एक के विना दूसरा अपूर्ण है। प्रवृति और निवृति एक दूसरे के पूरक है, विरोधी नही

{1529}

विधि प्रवृतिपरक है और निषेध निवृतिपरक। अशुभ से हटना निवृति है और शुभ में लगना प्रवृति है। अशुभ से निवृति ही शुभ में प्रवृति है, और शुभ में प्रवृति ही अशुभ से निवृति है।

{1530}

अन्य पदार्थो की अपेक्षा उसी को रहती है, जो स्वयं परिपूर्ण न हो। समुद्र परिपूर्ण है वह कूप-जल की या नदी के जल की आशा क्यों रखेगा?

{1531}

मन रूपी घोडा ससार रूपी अटवी मे अनादि काल से भटक रहा है। इसके ऊपर यदि सवार होना है तो अन्य हट योगिक प्रयोगो को छोडकर सहज योग के प्रयोग के साथ इस मन रूपी घोडे को शिक्षित करने की आवश्यकता है। सम्यक् सूत्र का दूसरा छोर हाथ मे रखकर धीरे-धीरे असद् विषयो से निवृत कर सद् विचारो मे प्रवृत करना चाहिए। फिर उसे सम्भाव पूर्वक साधते हुए आज्ञाकारी घोडे की तरह सहचर वना लेना चाहिए। यह कार्य समीक्षण दृष्टि पूर्वक सूत्र के आधार पर सम्यक् आचरण के साथ सम्पन्न किया जा सकता हे।

{1532}

नारियों के रूप पर चचंल बनने वाला व्यक्ति, कितना भी बडा साधक हो, फिर भी आत्मिक-चमत्कृति से दूर ही रहता है।

{1533}

आत्मा पर पडे हुए
कर्म भार को हटाने के लिए
स्वयं को ही पुरुषार्थ करना
होगा, दूसरा व्यक्ति निमित्त
मात्र हो सकता है
उपादान नही।

{1534}

चेतन तत्त्व
अपने मौलिक रूप
में स्वयं प्रभु और सार्वभौम
शक्ति- सम्पन्न है। उसे किसी के
सहयोग की
आवश्यकता नही।

{1535}

साधना का
संबंध मुख्यतया आत्मा के
साथ
है, शरीर के
साथ नही

{1536}

भारी भरकम शिला के नीचे
दबे इन्सान का एक ही मनोरथ है,
एक ही दृष्टि है, एक ही साध्य है, किसी तरह
शिला को हटाना, वैसे ही अष्ट कर्मो की शिला
के नीचे दबे आत्मा का भी एक ही लक्ष्य हो
किसी भी तरह कर्म-शिला को हटाना।

{1537}

दूसरा व्यक्ति आपके
सुख-दुःख नही देख सकता।
दूसरा केवल निमित्त बन सकता
है, उपादान तो स्वयं का ही होता
है। अतः दूसरे पर शत्रु-मित्र भाव
रखना उचित नही।

{1538}

आत्मा सूर्य-प्रकाश
से भी अधिक प्रकाशपुंज
है, दैदीप्यमान है। वस उस पर
लगे कर्मो के आवरण को हटा
दिया जाय।

{1539}

मोह की
मदिरा ने वडी
दुर्दशा की हे, आत्मा
की।

{1540}

अपूर्ण ओर सीमित शक्ति
वाला मानव परिपूर्ण, असीम ओर
अनुभवगम्य परमात्मा का चिंतन भली-भांति नही
कर पाता हे। मानव ससीम ह, परमात्मा असीम
ह। मानव अपूर्ण ह, परमात्मा पूर्ण हे। मानव
विन्दु ह, परमात्मा सिंधु हे।

{1541}

इस दृश्यमान शरीर के भीतर मन का अवस्थान होता है और आत्मा भी इस शरीर के भीतर होती है। जितने हिस्से मे आत्मा रह रही है, उतने ही हिस्से मे मन रह रहा है। जितने हिस्से मे आत्मा और मन है,उतने ही हिस्से मे आप का यह शरीर दिख रहा है। इस शरीर में रहता हुआ यह मन जब बुरे संकल्प करता है, बुरा चिंतन करता है तो उस बुरे चितन के साथ वह स्वय उलझता है और इस आत्मा को भी उलझन मे डालकर उसे बुरे कार्य मे लगवा कर दण्ड भोगवाता है।

{1542}

आप अनंत शक्ति–सम्पन्न हो सकते है, पर इसके लिए आवश्यक है–दृढ आस्था, अडोल विश्वास और प्रबल संकल्प।

{1543}

अन्तःकरण के विकारों को हटाइये, मन की मलिनता को धो डालिये। हृदय को साफ सुथरे दर्पण के समान स्वच्छ बना लीजिये।

{1544}

जिस व्यक्ति का तुम कुछ नही बिगाड़ सकते। उसके प्रति बुरे विचार कर तुम एक ढंग से अपनी ही मानसिक हिंसा कर रहे हो।

{1545}

आध्यात्मिक विकास के भवन का निर्माण नीति की नीव पर हुआ करता है। यदि जीवन में नैतिकता नही है तो वहां आध्यात्मिकता भी नही आ सकती।

{1546}

सार्थक जीवन वह है जो स्वयं चले स्वस्थ चले स्वस्थ एवं सुदृढ़ गति से चले बल्कि अपने चलने के साथ अन्य दुर्बल जीवनों में भी प्रगति का बल भरता हुआ चले।

{1547}

किन्हीं दो व्यक्तियो की कुछ स्नेह भावना का दृश्य उसके सामने आता है तो वह सोचता है कि इन दोनो व्यक्तियो में इतना स्नेह क्यो है? मेरे साथ तो किसी का स्नेह नही है, इन दोनो में आपस मे इतना स्नेह है तो इसको तुड़वा देना चाहिए। तब वह अपने मन मे ताना–बाना बुनता है और उन व्यक्तियो के स्नेह को तोड़ने के लिए जाल रचता है। उनके स्नेह के विरूद्ध वह एक दूसरे को इधर–उधर की बातों मे भिड़ाता है। ऐसी बाते करता है जिनको आप अपनी भाषा मे नारद विद्या कहते है।

{1548}

सम्यक् विश्वास को लेकर चलने वाला व्यक्ति ही सफलता के शिखर पर पहुँचता है।

{1549}

सम्यक् दृष्टि के
अमाव मे संसार में
घोर संघर्ष हो सकता है, जगत्
का वातावरणअशान्त, क्षुब्ध और
विषाक्त
हो सकता है।

{1550}

कोई विरले ही
व्यक्ति त्याग मार्ग
के पथिक बनते है। उसे
सहयोग करना महान्
पुण्यार्जन का हेतु है।

{1551}

सब जीवों
के साथ मैत्री
भाव रखिये।

{1552}

अब समय आ गया है जब
मनुष्यता की सजीवता लेकर मनुष्य
को उठाना होगा—जगाना होगा और क्रान्ति की
पताका को उठाकर परिवर्तन का चक्र घुमाना
होगा। क्रान्ति यही कि वर्तमान विषमताजन्य
सामाजिक मूल्यों
को हटाकर समता के नये मानवीय
मूल्यों की स्थापना।

{1553}

साधु को समाज
के लिये मारमूत समझना हृदय
की संकुचितता है, दृष्टि का
वैषम्य है, मिथ्यापन है।

{1554}

जो वस्तु तुम्हें
मिलने ही वाली नही है उसके
प्रति आसक्त होकर निरर्थक
अपनी आत्मा को
काली न करें।

{1555}

मिथ्या आरोप
जघन्य अपराध है।
दूसरें पर मिथ्या आरोप
करने वाला समाज मे विष
घोलते, उनसे
सावधान रहिये।

{1556}

मानव ही नही प्राणी,
समाज से सम्बन्धित सभी
क्षेत्रों में यर्थाथ दृष्टि, वस्तुस्वरूप, उत्तरदायित्व
तथा शुद्ध कर्तव्याकर्तव्य।
का ज्ञान एव सम्यक् सर्वांगण वसम्पूर्ण परम
विकास की साधना समता
सिद्धान्त का मूलाधार है।

{1557}

स्वस्थ व्यक्ति उस एन्टीबॉयाटिक कैप्सूल को हाथ में लेकर एक तरफ रख देता है। मुँह में प्रवेश नहीं होने देता फलतः तज्जनित अशांति का अनुभव नहीं करता, वहीं स्थिति उस व्यक्ति की भी होगी जो उस मूर्ख शब्द को कर्ण गोचर होने पर भी अन्दर पकड़ने की चेष्टा नहीं करेगा। वह उसे एक तरफ छोड़ता हुआ उस शब्द रूप कैप्सूल को जिस समीक्षण दृष्टि से देखेगा उसी दृष्टि से मूर्ख शब्द प्रयोग कर्ता महाशय को भी देखेगा।

{1558}

मानव क्षुद्र है,
परमात्मा विराट है।
मानव स्थूल दृष्टि वाला है,
परमात्मा सूक्ष्मातिसूक्ष्म
अनुभवगम्य है।

{1559}

मनुष्यों ! जागो !
निद्रा को छोड़ो। जो जागता है, उसकी बुद्धि भी जागती है, जागृत मनुष्य के विकास की अनंत संभावनाएं सामने खड़ी रहती है।

{1560}

भौतिकता को पीठ देकर अध्यात्मिकता की ओर बढ़िये, भौतिकता स्वतः ही छाया की तरह पीछे दौड़ती चली आएगी।

{1561}

व्यामोह के विचार के कारण एक व्यक्ति यौवन काल में जितना हर्षित होता है, वृद्धावस्था में उतना ही व्यथित भी हो जाता है। कारण शरीर की और उसकी दृष्टि होती है, आत्मा की ओर नही।

{1562}

चैतन्य को याने कि स्वयं को अपना शासक बनालें और जड़ को अपने प्रशासन में ले ले तो जहाँ राजनीति, तथा समाजनीति भी सुधर जायगी वहाँ धर्मनीति भी अपने सहज स्वरूप मे सज संवर जायेगी।

{1563}

संसार से संबंधित कलुषित भाव ममत्ववृति को अभिभूत कर समग्र आत्माओं को अपनी आत्मा के तुल्य अनुभव करता हुआ उस ध्यान में ऐसी समीक्षण दृष्टि निर्मित करें,जिससे उसे व्यावहारिक क्षेत्र में भी घंटे भर की साधना का आस्वादन स्वयं आता रहें और अन्य को भी वह उसी भाव से नमूने के तौर पर आस्वादन करता रहें। जिससे व्यक्ति,परिवार,समाज और राष्ट्र में समता का वायु–मण्डल निर्मित हो।

{1564}

शब्दों में यह सामर्थ्य नही की वे परमात्मा के संपूर्ण स्वरूप को व्यक्त कर सकें।

{1565}

व्यक्ति, दस
आदमियों की दो
हाथों से सेवा करता
है, पर जब उसे सेवा की
आवश्यकता हो तो बीस हाथ
लगते हैं।

{1566}

भोगवृति की तुष्टि
का प्रधान आधार है परिग्रह,
अपने द्रव्य अर्थ में भी और
अपने भाव अर्थ में भी।

{1567}

आज मनुष्य
का मस्तिष्क सीमित
है, सोचने की क्षमता
अधूरी है।

{1568}

चिन्तन मनुष्य के मन
का उन्नायक भी होता है।
चिन्तन से मन जो कुछ जानता
है, उस पर अपनी कसौटी से सोचता है, तब
उस ज्ञान को उपादेयता पर उसकी निष्ठा
जमती है, वह सुदृढ़
एवं स्थायी होती है।

{1569}

सम्यक् ज्ञान
दर्शन एवं चारित्र का
जीवन में जब तक आर्विभाव नही
होता तब तक विकास का मूल
भी हाथ नही
आता है।

{1570}

अधिक धन
और अधिक शक्ति
अधिक सम्माननीय का मापदंड
बन जाता है। इसी
मापदंड से विषमता
का विषवृक्ष फूटता है।

{1571}

मानव देश—काल
की मर्यादा में आवद्ध
है, परमात्मा
स्वतन्त्र है।

{1572}

जब कोई व्यक्ति अपने
प्रति व्यवहार किये जाने की
अमुक धारणा बना लेता है और सामने वाला
जब उसके साथ उस धारणा की तुलना में
निम्न कोटि का व्यवहार करता है
तो उससे वह व्यक्ति
क्रुद्ध हो जाता है।

{1573}

ज्ञानावस्था में भी मन की
अस्थिरता के परिणाम स्वरूप विचारों
की अस्त–व्यस्तता किस रूप में है, किस हेतु से
बन रही है, इसके पीछे मूल कारण क्या है,
इत्यादि विषय का समीक्षण दृष्टि से अवलोकन
करना साधक का मूल कार्य है क्योंकि वह
तत्कालीन अवलोकन, मन को स्थिर करने में
विशेष उपयोगी होता है।

{1574}

सम्यग्दृष्टि
साधक नीतिमता
को आत्म विकास
का अंग मान कर चले।

{1575}

जो सम्यक् निर्णायक
है और समतामय है वही
जीवन है, शेष जीवन प्राण धारण
करते हुए भी इस जागृति के अभाव
में मृत के पर्यायवाची
ही कहलायेंगे।

{1576}

एक–एक आत्मा समता
की ओर मुड़े तो दूसरी ओर
परिवार समाज, राष्ट्र और विश्व में भी
ऐसा समतामय वातावरण,बनाया
जाय,जिसके प्रभाव से समूह गत समता
भी सशक्त बनकर जीवन को समता
मुखी बना दें।

{1577}

जब–जब व्यक्ति स्वस्थ
धारा से अलग हटकर निरकुंश होने
लगता हैं शक्ति के मद मे झूमकर
अनीति पर उतारू होता है तब तब
उस पर अकुंश लगाने हेतु समूह की
व्यवस्थित शक्ति ही
कामयाब होती हैं।

{1578}

जीवन में जब समता
आती है तो सारे प्राणियों के
प्रति समभाव का निर्माण होता है। तब
अनुभूति यह होती है कि बाहर का
सुख हो या दु ख दोनों
अवस्थाओं में समभाव रहे।

{1579}

जहां राग है द्वेष है स्वार्थ है
वहां कौनसा विकार डेरा नहीं डालता।
भोग है तो विषय वासना है, राग द्वेष है तो क्रोध,
मान, माया, लोभ है और जहॉ यह कुविचार की
चौकड़ी है, वहॉ अनीति अन्याय एवं अत्याचार का
कोई ऐसा अनर्थ नही जिसे भोगी मनुष्य
करने में हिचकिचाएँ।

{1580}

साधु संत समाज
को वह दिव्य–दृष्टि प्रदान
करते हैं, जिसके प्रकाश में
वह कर्तव्या कर्तव्य का
निर्णय कर सकता है।

{1581}

क्रोध के कारण
वह उन व्यक्तियों का
भी वैरी हो जाता है जो उसे
अपनी सदाशयता के कारण क्रोध
से विलग होने की
सत्शिक्षा देने का
प्रयास करते हैं।

{1582}

अधिक धन की
उपलब्धि का सीधा
प्रभाव मनुष्य की
भोगवृत्ति के उत्तेजित बनने
पर पड़ता है।

{1583}

मिथ्यादृष्टि
केवल भौतिकता
को ही देखता है,
उसे ही परिपूर्ण
समझता है।

{1584}

कई बार सामने वाले का
अनुचित व्यवहार करने का कोई
इरादा नही होता और इसी प्रकार कई कार्यों में
अहितकारी आशय नहीं होता फिर भी व्यक्ति
वैसा ही होने का भ्रम कर बैठता है। उस भ्रम से
भ्रमित होकर भी क्रोधावश के चक्कर
में फॅस जाता है।

{1585}

क्रोध के
अपने दुर्गुण को
क्रोधी अपना बल मान
लेता है जिसके कारण भद्र
व्यक्ति दुःसाहसी भी
हो जाता है।

{1586}

जो छोडना सीख
लेता है तो उसकी
तृष्णा कट जाती है और इस
तृष्णा के कटने पर विषमता के
मूल पर आघात होता है।

{1587}

संत जीवन
ही जगत् के आंगन मे
शांति और
सुख का संचार कर
सकता है।

{1588}

प्रायः देखा जाता है कि
कई व्यक्ति अन्य व्यक्तियों
के अपने विचारों से भिन्न विचार
अथवा अपनी रूचियों से भिन्न रूचियाँ सहन
नहीं कर पाते हैं और उनकी
सहनशीलता का वह अभाव
क्रोध का कारण बन जाता है।

{1589}

मनुष्य का मन आज सोचता कुछ और है किन्तु अपने बाहरी आचरण से वह दिखता कुछ और है ओर इस तरह अपने दुमुखी दंभपूर्ण व्यवहार द्वारा वह धूर्तता का प्रचार करता है और धूताई को धीरे-धीरे अपना पेशा बना लेता है। यह आज की सम्पति एवं सत्ता प्रधान समाज व्यवस्था का कुफल है।

{1590}

नियम और संयम की धारा तब ही बहती रह सकेगी जब परिग्रह की मूर्च्छा समाप्त की जाय।

{1591}

निरपेक्ष दृष्टि में पक्षपात नही रहता और जब पक्षपात नही है तो वहाँ उचित के प्रति निर्णायक वृत्ति पनपती है तथा गुण और कर्म की दृष्टि से समता अभिवृद्ध होती है।

{1592}

जीवन में जितनी विषमता हैं,वह उतना ही भटका हुआ है और जितनी समता आती है, वह उसके सच्चे मार्ग पर प्रगतिशील होने का संकेत देने वाली होती है।

{1593}

समता की साधना एकांगी नही,मन,वचन,काया तीनो के सफल संयोग से ही की जानी चाहिये तभी बाह्य दृष्टि अर्न्तदृष्टि से पूछकर चलेगी। अर्न्तदृष्टि का अनुशासन ही बाह्य दृष्टि पर चलना चाहिये।

{1594}

क्रोध की अग्नि ईर्ष्या का रूप धारण करके भी जलाती है और उस जलन में क्रोधी अन्य किसी की भी उन्नति को फूटी आंखों भी नही देख पाता है।

{1595}

स्यात्-अस्ति और स्यात्-नास्ति की इस विधि को कई लोग ना समझी मे अनिश्चयपूर्ण कहते हैं किन्तु यदि इसे गहराई से समझा जाय तो साफ हो जायेगा कि हठहीन निष्ठा से विचार समन्वय की इस पृष्ठभूमि पर खडे होकर जितने सहज भाव से सत्य का साक्षात्कार किया जा सकता है। संभवतः वैसी अन्य कोई पृष्ठभूमि सार्थक नही हो सकती।

{1596}

यह मेरा है-ऐसा अनुभव कभी अन्तर जगत् के लिये स्फूर्तिजनक नही माना जाता हैं।

{1597}

समता दर्शन का
लक्ष्य है कि समता विचार में हो,
दृष्टि और वाणी में हो तथा
समता आचरण के
प्रत्येक चरण में है।

{1598}

व्यक्ति की शक्ति
प्रत्यक्ष दिखती है फिर भी
समूह की शक्ति उससे ऊपर
होती है जो व्यक्ति
की शक्ति को नियन्त्रित भी
करती हैं।

{1599}

साधु संत
समाज की
जो सेवा करते हैं
वह सर्वोत्कृष्ट
सेवा है।

{1600}

जानने को तो वास्तविकता
का ज्ञान करले और उस जाने हुये चिन्तन की
कसौटी पर कसकर खरा
भी पहिचान लें और उसके बाद करने के नाम
पर निष्क्रियता धार लें तो उससे
तो कुछ बनने वाला नहीं है।

{1601}

क्रोधी आकारण
ही दूसरों की प्रवृतियों
में मनः कल्पित दोष आरोपित
करता है और अपने प्रति रही हुई
दूसरों की सहानुभूति
खोता
रहता है।

{1602}

व्यक्ति स्वयं से
नियंत्रित हो—व्यक्ति
समाज से नियंत्रित हो ये दोनों
परिपाटियाँ समता लाने के लिये
सक्रिय बनी
रहनी चाहिये।

{1603}

अपना घर
छोड़कर जो दूसरे
के घर में जाता है,
उसकी दुर्दशा
होती है।

{1604}

ज्ञान और क्रिया की संयुक्त
शक्ति ही मनुष्य को बन्धनों से मुक्त करती है।
चाहे वे बन्धन कैसे भी हों विषमता या तज्जन्य
विकारो के ही क्यों न हो,
इस शान्ति के सामने कभी भी
टिके हुए नही रह सकते हैं।

{1605}

साधु को भी रोटी चाहिये,
किन्तु वह रोटी के प्रति ममत्व नही
रखता निरपेक्ष भाव से उसे ग्रहण करता है।
उसी तरह जब जीवन के लिए परिग्रह होगा,
परिग्रह के लिये जीवन को मिट्टी में नही मिलाया
जायेगा तभी समता रूप जीवन का अभ्युदय हो
सकेगा। यही अपरिग्रह व्रत का गूढार्थ है।

{1606}

समता मानव
मन के मूल में है
उसे भुलाकर जब वह
विपरित दिशा में चलता है
तभी दुर्दशा आरम्भ होती है।

{1607}

यह ध्रुव सत्य है कि
मनुष्य गिरता उठता और
बदलता रहेगा किन्तु समूचे तोर पर
मनुष्यता कभी समाप्त नही हो सकेगी
और मनुष्यता का अस्तित्व डूबेगा
नही। वह सो सकती है,
मर नही सकती।

{1608}

सबके लिये एक व
एक के लिए सब तथा
जीओं व जीने दों के प्रतिपादक
सिद्धान्तों तथा संयमीय नियमों को
स्वयं व समाज के जीवन
मे आचरित करना समता
जीवन दर्शन है।

{1609}

जो जीवन को भोग
मात्र के लिये मानता है,
वह अपनी चेतना से हटकर शरीर में
बंधता है, परिग्रह की मूर्छा
में बंधता है और
जड ग्रस्त बनता है।

{1610}

भोगवृत्ति जब समाज
और राष्ट्र को आच्छादित करती है,
तब शोषण और दमन के दौर चलते हैं
हिंसात्मक आक्रमण एवं युद्ध होते
हैं-तब मनुष्यता के रक्त से नहाकर
पैशाचिकता का रूप धारण
कर लेती है।

{1611}

अर्थ-प्रधान युग का
मानसिक दृष्टि से यह भी एक
भयंकर कुपरिणाम माना जाना चाहिये कि आज
का मानव अधिक से अधिक दंभी और पाखंडी
(हिप्पोक्रेट) बनता जा रहा है। जो व्यक्ति जीवन
में प्रामाणिक रहना भी चाहता है, अधिक बार
वातावरण उसे प्रामाणिक नही रहने देता।

{1612}

समता का
आविर्भाव तभी
संभव होगा जब राग और
द्वेष को घटाया जाय।

{1613}

क्रोध रूपी विष
तंरगे, जब किसी व्यक्ति
की आत्मा तन और मन में
प्रवाहित होने लगती हैं तो वह सभी
और से अपने जीवन विकास की
सम्भावनाओं को
गंवा देता है।

{1614}

अन्तर के नेत्रों
की प्रकाशमय दृष्टि
से देखकर जीवन में गति
करना समता दर्शन
का मुख्य भाग है।

{1615}

अपने उद्धार
का दायित्व हमारा ही
है, अन्य किसी का
नहीं।

{1616}

गुण कर्म के आधार पर श्रेणि
विभाग का विश्वास ज्यों–ज्यों मुनष्य
के आचरण में उतरेगा, अन्य भौतिक
प्राणियों का महत्व समाज में स्वतः ही घटता
जायेगा और तद्नुसार भौतिक दृष्टि
से सम्पन्नों का अनपेक्षित
समादर भी समाप्त हो जायेगा।

{1617}

क्रोध की विष–तरंगो
से ग्रस्त व्यक्ति ने अपने
घर में अपना रहता है और न ही
अपने धंधे या पेशे
को लाभ व लोकप्रियता
के साथ चला सकता है।

{1618}

अन्तर और
बाह्य दोनो दृष्टियों से
समतापूर्ण जीवन का संचालन
करने से सार्थक जीवन की
उपलब्धि
हो सकती हे।

{1619}

सर्वव्यापी
पिशाचिनी विषमता का
मूल मनुष्य की
मनोवृत्ति मे है।

{1620}

मदान्ध व्यक्ति हर कीमत पर
अपने अहं को ऊपर रखना चाहते हैं।
इसलिये यह मद का अंधापन दूर हो तभी प्रभु
के दर्शन हो सकते है। मद दूर होने पर ही
अन्तर्वृत्तियों में विनम्रता तथा ऋजुता का प्रवेश
होता है तथा आत्मदर्शन अथवा परमात्म
दर्शन का यही द्वार कहलाता है।

{1621}

व्यक्तिगत एवं समाजगत
शक्तियों के ज्ञान एवं क्रिया के
क्षेत्र में साथ–साथ कार्यरत होने से विकास में भी
विषमता नही रहती। दोनो स्तरों पर विकास का
क्रम साथ –साथ चलने से नीति एवं न्याय तथा
सुख एवं समृद्धि में सामाजिक समता
की स्थापना होती हैं।

{1622}

तेरे मेरे की जब
दीवारे टूटती है तब
अर्न्तमन में जिस विराटता का
प्रकाश फैलता है, उसी प्रकाश
को समता सुस्थिर शीतल
और सौख्यपूर्ण
बनाती है।

{1623}

सभी जीवन धारियों
की मूल आवश्यकताएँ पूरी हो यह
पहली बात है, किन्तु दूसरी बात भी
उतनी ही महत्वपूर्ण
है कि वह पूर्ति विषम नही
होनी चाहिये।

{1624}

समस्त प्राणी वर्ग
का स्वतंत्र अस्तित्व स्वीकारने
में मनुष्य के समूचे जीवन में एक
समतामय परिवर्तन आता है
जो सारी जीवन विद्या को
बदल देता है।

{1625}

समान कर्मण्यता
समान श्रेष्ठता एवं समान हार्दिकता
का स्पर्श दुर्बल जीवन में भी प्राण
भरेगा और उसकी
सर्वांगीण शक्ति
को उभारेगा।

{1626}

जो भी ज्ञान और
क्रिया के सच्चे रास्ते
पर निरपेक्ष भाव से अपना
पराक्रम दिखायेगा, वह स्वयं रास्ता
पायेगा और बाहर
समता फैलायेगा।

{1627}

जो सदा कमाता और
कमाकर उसकी रक्षा में समर्थ
बनता है, वह समाज में भी अधिक
शक्तिशाली कहलाता है। जो कमा लेता, मगर
उसकी सुरक्षा का सामर्थ्य पैदा नही कर सकता,
वह कमजोर वर्ग में ही रहता है।
लेकिन व्यवस्था गुण, कर्म पर
सम्यक्रीत्या आधारित है।

{1628}

समता जीवन
के अवसरो की प्राप्ति
मे होगी,सत्ता और सम्पति के
अधिकार में होगी तो वह
व्यवहार के समूचे
दृष्टि–कोण में होगी।

{1629}

आत्मा का अन्नत
ज्ञान एवं अनन्त शक्ति ईश्वरत्व
के रूप में फूट कर प्रदीप्त
बनती है वही प्रदीप्तता
प्रत्येक आत्मा
में समाई हुई है।

{1630}

क्रोधी सदा
दूसरों का अहित
चिन्तन करता है और तरह
-तरह की विचारधाओं में
क्रूर कल्पनाएं करता
रहता है।

{1631}

दुर्गुणों
की जननी
विषमता को मानी
जा सकती है।

{1632}

संपरित्याग की आस्था
जितनी गहरी होगी, उतना ही
सम्पत्ति आदि के प्रति मनुष्य का मोह कम होगा
जिसके प्रभाव से विषमता की दिवारें स्वयं
ढहती जायेगी और उसके स्थान पर
समता का सुखद
सदन निर्मित होगा।

{1633}

व्यक्ति को अपनी
संचित सम्पत्ति में ममत्व नही
रखना चाहिये। बल्कि उसे भी
समाज का न्यास समझकर
यथावसर पुनः समाज
को समर्पित कर
देना चाहिये।

{1634}

क्रोधी, दुष्टभाव
कठोर वचन तथा
क्रूर व्यवहार का स्वामी वन
कर पागलों की
श्रेणि में चला जाता ह

एक के
लिये अधिक धन,
का साफ अर्थ हं,
वहुतो के लिये
अधिक कष्ट।

{1635}

अर्थ के नियन्त्रण में
जव तक चेतन रहता हे तव
तक वितृष्णा के वशीभूत होकर
जडवत वना रहता ह किन्तु ज्यांहि
वह अर्थ को अपने कठोर नियन्त्रण
मे रखना सीख जायेगा उसका
चेन्तय भी चमक उठेगा।

{1636}

{1637}

संसार के क्रम को बनाया
रखने वाला यह मैथुन माना गया
है। ऐसा मानकर मैथुन सेवन की प्रवृत्ति सर्वथा
अनुचित है। संसार मात्र आपके अकेले से नही
जुडा है आप अपना संसार का अन्त कर
परमानन्द पा सकते हैं। फिर
भी संसार चलता रहेगा।

{1638}

अपने स्वाभाविक
गुणों सद्गुणों का
उत्तरोत्तर विकास
करना ही वास्तविक
उन्नति है।

{1639}

किसी भी जीवधारी
मे सामान्यतया आहार निद्रा व
भय के अलावा मैथुन वृत्ति को भी कर्म
प्रकृति प्रदत्त अनादि माना गया है।
लेकिन सम्यक् ज्ञान के बल पर
उसे मन वचन कर्म से
छोडा जा सकता है।

{1640}

सांसारिक जीवन में
विवाह एवं परिवार संस्थाओं के
निर्माण का लक्ष्य काम-वासना को
नियमित करना ही था। उन्मुक्त
सैक्स को समाज के लिये घातक
माना गया है।

{1641}

काम वासना के
पागलपन को जितने अंशों
में रोका जा सकता है, उतनी ही
व्यवहार स्वस्थता व्यक्ति में उभरेगी।
कानूनों का भी इस
दिशा में यही लक्ष्य रहा हैं।

{1642}

अपनी इच्छा एवं
सकंल्प शक्ति के जरिये मैथुनवृत्ति
को धीरे-धीरे उसके वैचारिक
वाचनिक एवं कायिक तीनों रूपों में
नियंत्रित करें, यही ब्रह्मचर्य
की सच्ची आराधना होगी।

{1643}

जब परिग्रह की मूर्छा नही
रहेगी और माया की छलना भी मिट
जायेगी, तब ह्रदय पटल, त्याग एवं बलिदान
(आत्म समपर्ण) की भावना से अभिभूत हो जायेगा
और वह स्वतत्व को विर्सजित कर विराट रूप
धारण कर लेगा याने कि उस उन्नत श्रेणि में
पहुंचकर मनुष्य समूचे
विश्व को आत्मसात् कर लेगा।

{1644}

ज्ञान जितना
मन की गहरी पर्त्तो
में उतरता जायेगा, उतना ही
उसका वैशिष्ट्य
भी प्रकट
होता जायेगा।

{1645}

सांसरिक जीवन
में मैथुन की मर्यादा
की गई है तो साधु जीवन
में इस विकार को मन से भी
निकाल देने की प्रेरणा
दी गई है।

{1646}

व्यक्ति का
श्रमनिष्ठ अर्जन व्यक्ति
और समाज दोनों के जीवन में
नैतिकता शुद्धता एवं
समता का संचार करेगा।

{1647}

व्यामोह विचार
को बिगाडता है तो
दृष्टि स्वयमेव
ही
विगड़ जाती है।

{1648}

समता का सवसे
बडा शत्रु परिग्रह है, अतः
अपरिग्रह व्रत उसके गुढार्थ में समझा जाना
चाहिये तथा व्यवहार में सिर्फ पदार्थो के
त्याग को ही नही, तृष्णा त्याग
को अधिकतम महत्व
दिया जाना चाहिये।

{1649}

परिग्रह, परिग्रह
के प्रति मूर्छा को उत्पन्न करता
है और जीवन में जितनी मूर्छा
गहरी होती हे, जागृति
उतनी ही लुप्त
हो जाती हे।

{1650}

काम-वासना
का वेग अति प्रवल होता हे
ओर इस अन्धड में कई वार
वडे-वडे ऋपि महर्पि
भी गिरकर चकनाचूर
हो जाते हं।

{1651}

सम्यक्
निर्णायक शक्ति के
जागने पर विपमता का
विस्तार
संभव नही होता।

{1652}

परिग्रह की समतापूर्ण व्यवस्था
हो- उसका संसार में जीवन संचालन
के लिये उपयोगी भी हो किन्तु ज्यों ही उसके
प्रति ममत्व-मूर्छा क्षीण हो जायेगी तो परिग्रह फिर
अनर्थ कारी नही रह जायेगा-
जीवन के स्वस्थ, संचालन
का साधन मात्र हो जायेगा।

{1637}

संसार के क्रम को वनाया
रखने वाला यह मैथुन माना गया
है। ऐसा मानकर मैथुन सेवन की प्रवृत्ति सर्वथा
अनुचित है। संसार मात्र आपके अकेले से नही
जुडा है आप अपना संसार का अन्त कर
परमानन्द पा सकते हैं। फिर
भी संसार चलता रहेगा।

{1638}

अपने स्वाभाविक
गुणों सद्‌गुणों का
उत्तरोत्तर विकास
करना ही वास्तविक
उन्नति है।

{1639}

किसी भी जीवधारी
मे सामान्यतया आहार निद्रा व
भय के अलावा मैथुन वृत्ति को भी कर्म
प्रकृति प्रदत्त अनादि माना गया है।
लेकिन सम्यक् ज्ञान के बल पर
उसे मन वचन कर्म से
छोडा जा सकता है।

{1640}

सांसारिक जीवन में
विवाह एवं परिवार संस्थाओं के
निर्माण का लक्ष्य काम-वासना को
नियमित करना ही था। उन्मुक्त
सैक्स को समाज के लिये घातक
माना गया है।

{1641}

काम वासना के
पागलपन को जितने अंशों
में रोका जा सकता है, उतनी ही
व्यवहार स्वस्थता व्यक्ति में उभरेगी।
कानूनों का भी इस
दिशा में यही लक्ष्य रहा हैं।

{1642}

अपनी इच्छा एवं
सकंल्प शक्ति के जरिये मैथुनवृत्ति
को धीरे-धीरे उसके वैचारिक
वाचनिक एवं कायिक तीनों रूपों में
नियंत्रित करें, यही ब्रह्मचर्य
की सच्ची आराधना होगी।

{1643}

जब परिग्रह की मूर्छा नही
रहेगी और माया की छलना भी मिट
जायेगी, तब हृदय पटल, त्याग एवं बलिदान
(आत्म समपर्ण) की भावना से अभिभूत हो जायेगा
और वह स्वतत्व को विर्सजित कर विराट रूप
धारण कर लेगा याने कि उस उन्नत श्रेणि में
पहुंचकर मनुष्य समूचे
विश्व को आत्मसात् कर लेगा।

{1644}

ज्ञान जितना
मन की गहरी पर्त्तो
में उतरता जायेगा, उतना ही
उसका वैशिष्ट्‌य
भी प्रकट
होता जायेगा।

{1645}

सांसरिक जीवन
में मैथुन की मर्यादा
की गई है तो साधु जीवन
में इस विकार को मन से भी
निकाल देने की प्रेरणा
दी गई है।

{1646}

व्यक्ति का
श्रमनिष्ठ अर्जन व्यक्ति
और समाज दोनों के जीवन में
नैतिकता शुद्धता एवं
समता का संचार करेगा।

{1647}

व्यामोह विचार
को बिगाडता है तो
दृष्टि स्वयमेव
ही
बिगड़ जाती है।

{1648}

समता का सबसे
बडा शत्रु परिग्रह है, अतः
अपरिग्रह व्रत उसके गुढार्थ में समझा जाना
चाहिये तथा व्यवहार में सिर्फ पदार्थों के
त्याग को ही नही, तृष्णा त्याग
को अधिकतम महत्व
दिया जाना चाहिये।

{1649}

परिग्रह, परिग्रह
के प्रति मूर्छा को उत्पन्न करता
है और जीवन में जितनी मूर्छा
गहरी होती है, जागृति
उतनी ही लुप्त
हो जाती है।

{1650}

काम-वासना
का वेग अति प्रबल होता है
और इस अन्धड में कई बार
बडे-बडे ऋषि महर्षि
भी गिरकर चकनाचूर
हो जाते हैं।

{1651}

सम्यक्
निर्णायक शक्ति के
जागने पर विषमता का
विस्तार
संभव नही होता।

{1652}

परिग्रह की समतापूर्ण व्यवस्था
हो- उसका संसार में जीवन संचालन
के लिये उपयोगी भी हो किन्तु ज्यों ही उसके
प्रति ममत्व-मूर्छा क्षीण हो जायेगी तो परिग्रह फिर
अनर्थ कारी नही रह जायेगा-
जीवन के स्वस्थ, संचालन
का साधन मात्र हो जायेगा।

{1653}

जीवन व्यवहार में
श्वास-प्रश्वास से ही प्राणों का
अधिक सम्वन्ध माना गया है, किन्तु
प्राणों का सम्वन्ध इतना सीमित नही हे।
जीवन की प्रत्येक क्रियान्विति प्राणों से अनुवन्धित
है और हमारी समीक्षण साधना जीवन
के हर कोण से जुडती हे। अतः
उसमें प्राणों का परिज्ञान वहुत
अधिक महत्त्व रखता है।

{1654}

काम-वासना
के निरोध एवं उन्मूलन
मे वलात् प्रयोगों की
अपेक्षा स्वेच्छिक प्रयोग ही
अधिक सफल
हो जाता हे।

{1655}

आत्मा की चेतना
को भुलाने वाला यह परिग्रह होता है
और उससे भी घातक होती हे
परिग्रह को अधिक से
अधिक प्राप्त करने की
अन्तहीन वितृष्णा।

{1656}

व्यक्ति की वितृष्णा
वढती हे तव वह नीति
छोडकर येनकेन प्रकारेण धनार्जन एवं
धन संचय करना चाहता हे- सारा
विवेक सदाशय एवं न्याय विचार
खोकर तव विषमता का
दौर दौरा चलता है।

{1657}

इस धनलोलुपता ने
आज के विषम संसार में जो
हाहाकार मचा रखा है और मानवता
को कुचल रखी है- उसके रहते
समता व्यवस्था की आशा दुराशा
मात्र होगी।

{1658}

जो जितने अच्छे
क्षेत्र में काम करता
है और जितने ऊँचे पद पर जाता
है, उसकी प्रामाणिकता के
प्रति अधिक से अधिक
जिम्मेदारी बनती है।

{1659}

साधक को साधना में तो
लक्ष्यानुरूप साधना करनी ही होती है।
किन्तु साधना के अतिरिक्त समय में उठते,
बैठते, चलते, खाते-पीते आदि सामान्य दैनिक
व्यवहारों के साथ भी लक्ष्यानुचिन्तन इतना स्थायी
बन जाना चाहिये कि जिससे रजनी में भी
अर्थात् निद्रावस्था में भी लक्ष्य का विस्मरण
न हो। तभी साधना की सच्ची ललक
(जिज्ञासा) कही जा सकती है।

{1660}

भौतिक -साधन
एवं उसमें रहने वाले
ममत्वभाव को परिग्रह के
रूप में परिभाषित किया
गया है।

{1661}

जैन तत्त्व ज्ञान
में प्राणों को समस्त
चैतन्य ऊर्जा के संवाहक
के रूप में स्वीकार किया है। शरीर
में चैतन्य की अभिव्यक्ति का आभास
प्राणों के द्वारा ही होता है।
शरीर में प्राण मुख्य है।

{1662}

जानने की
सार्थकता मानने
में है और मानना तभी सफल
बनता है जब उसके
अनुसार
किया जाय।

{1663}

जड से मन
को हटाकर नियमित एवं
संयमित बनाया जाय
तो चेतना जागृत
होती है।

{1664}

पांच व्रतों का यथाशक्ति
यथाविकास पालन ज्यों-ज्यों
जीवन में बढता जायेगा निश्चित है व्यक्ति के
इस पालन का सामाजिक प्रभाव होगा और
दोनों प्रभाव मिलकर
समता विकास के लिये सुन्दर
वातावरण की रचना करेंगे।

{1665}

आत्मिक स्वरूप
ही मूल स्वरूप है और
वह अनन्त गुणों का स्वामी है।
ज्ञान दर्शनादि उसके मौलिक गुण
हैं,किन्तु कर्मो से आवृत होने से वे
न्यूनाधिक रूप में
आच्छादित हैं।

{1667}

आचरण ही
जीवन को आगे
बढाता है-यह अवश्य है
कि आचरण अन्धा न
हो विकृत न हो।

{1668}

बहुलतया
अधिक धन
अधिक अनीति
से ही
अर्जित हो सकता है।

{1669}

जब परिणामी नित्य द्रव्य ही
नही है तो पर्याय रूप क्रिया का
स्वामी कौन हैं ? ऐसी स्थिति में उत्पाद ओर
व्यय रूप क्रिया स्वामी के अभाव में निष्फल
होगी। साधना से सम्बन्धित जो क्रिया होगी,
वह कर्ता के अभाव
में अस्तित्व शून्य होगी।

{1670}

त्रिकाल स्थायी अस्तित्व की स्वीकृति के विना साधना फलवती नही होती है अतएव किसी साधना का प्रांरभ लक्ष्य निर्धारण पूर्वक ही होना चाहिए और वह लक्ष्य भी शुद्ध चेतन देव के परम एवं चरम विकास का होना चाहिए। उसके ध्रौव्य स्वरूप का अनुचितंन करते हुए विकृत पर्याय सम्वन्धी परिमार्जन के अनुसंधान के साथ साधना का शुभारम्भ करना चाहिये।

{1671}

सभी आत्माओं में अपना सर्वोच्च विकास सम्पादित करने की समान शक्ति रही हुई है।

{1672}

जिस वक्त उस पुरुष ने इसके प्रति बुरे विचार मन मे पैदा किये उस समय विशेष अन्तर नही पडेगा-कुछ ही समय मे उस व्यक्ति के मन में प्रतिक्रिया पेदा हो जायेगी कि अमुक व्यकित मुझे मारने के लिये आ रहा है।

{1673}

मैं किसी भी दूसरे प्राणी के हित पर कतई आघात न करूं यह सामान्य निष्ठा हुई, लेकिन मैं दूसरों के हितों की रक्षा के लिये अपने हितों को भी छोड दूँ यह त्याग की विशेष निष्ठा होगी।

{1674}

आत्मीय समता को निखारने के लिये सत्कर्मो की ऐसी हवा बहाई जाय कि अंगारे पर जमी कुकर्मो की राख उड जाय और उसकी ज्योति अपनी पूरी चमक के साथ प्रकाशित हो जाय।

{1675}

विषमता को दूर करने आर्थिक समता के मार्ग को प्रशस्त करने का यही उपाय है कि सुदृढ व्यवस्था प्रणाली द्वारा सभी पदार्थो का यथा विकास एवं यथायोग्य संवितरण किया जाय।

{1676}

इन्द्रियॉ मन के माध्यम से स्व-स्व के विषय मे प्रियाप्रिय का स्वरूप प्राप्त करने एवं परिहार मे तत्पर होती है। प्रिय को आसक्ति पूर्वक ग्रहण करना और अप्रियता का विद्वेष के साथ परिहार करने का कार्य सम्पादित होता है। उस अवस्था मे साधक के लिये विषय सम्बन्धी स्वरूप का एव मन की वृत्तियों का संविज्ञान भी अपेक्षित रहता है।

{1677}

समदृष्टि होना समता के लक्ष्य की ओर अग्रसर होने का समारंभ मात्र है।

{1678}

आत्मा का अनंत
ज्ञान एवं अनन्त शक्ति जो
ईश्वरत्व के रूप में फूट कर
प्रदीप्त बनती है,
वहीं प्रदीप्तता प्रत्येक आत्मा में
समाई हुई है।

{1679}

विषमता के कारण
ही धनलिप्सा भी असीम बनकर
अनीति एवं अनर्थ कराने के
लिए मनुष्य को
उत्तेजित करती है।

{1680}

सामूहिक
हितसाधना में
व्यक्ति के त्याग को सदा
प्रोत्साहित किया जाना
चाहिये।

{1681}

शराब को समस्त बुराइयों
की जड़ कह दे तो भी कोई
अत्युक्ति नही होगी। गांजा भांग धतूरा और
आज की एल.एस.डी. की गोलियों आदि के
सारे नशों का त्याग मदिरा
त्याग के साथ ही आवश्यक
समझा जाना चाहिये।

{1682}

संपरित्याग
अर्थलोलुप परम्पराओं को
बदलेगा वितृष्णाजन्य वृत्तियों को
बदलेगा तो जीवन में सरसता
की नयी शक्तियों का
उदय भी करेगा।

{1683}

समता लाने और
उसे फैलाने के विशाल
प्रयोजन के हित जो जीवन में
देना सीख जाता हैं
वह छोड़ने में
आनन्द अनुभव करता है।

{1684}

पदार्थो का
अभाव जितना घातक
नही होता उससे भी
अधिक घातक विषमता
होती है।

{1685}

अपने कुटुम्ब में आप
साधारतया भेदभाव भूल जाते है
कर्त्तव्यों का ध्यान भी रखते हैं एवं सबकी
यथायोग्य सेवा भी करना चाहते हैं तो उसका
कारण यही होता हैं कि उस घटक में आप
अपनी आत्मीयता प्रस्थापित करते हें।

{1686}

अपूर्ण पुरुष,चाहे कितना ही विद्वान् हो,पर उस विद्वत्ता मे सगपरिपूर्ण ज्ञान वाले आप्त पुरुषो द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तो का अवलम्बन लेकर चिंतन मनन के साथ उन्हे स्वय के जीवन मे स्थान देने पर उस आचरण की अवस्था मे जो अनुभूति के साथ यदि वह आगे का निर्देशन -सम्मुख रखकर विवेचना करता है तो उस विद्वान् पुरुष की विद्वत्ता ग्राह्य हो सकती है।

{1687}

मानव शरीर अवश्य भोजन पर चलता है किन्तु मानव जीवन मुख्यतया भावना पर चलता है।

{1688}

समता के सिद्धान्त दर्शन का निचोड यह होगा कि वर्तमान समाज व्यवस्था में आमूलचूल परिवर्तन हो और उस परिवर्तन का उद्देश्य यह हो कि जड का नही, चेतना का शासन स्थापित हो।

{1689}

ज्ञान चिंतन एवं कर्म की त्रिधारा में कही भी सत्य को ऑखों से ओझल न होने दिया जाय और सत्य की सारी कसोटियों में आत्मानुभूति की कसौटी सदा जीवन्त वनी रहनी चाहिये।

{1690}

सिद्धान्त के प्रत्येक पहलू पर चिंतन करते समय यदि आत्मानुभूति सजग बनी रहती है तो अंतर के सत्य की ज्योति भी सदा चमकती रहेगी।

{1691}

किसी भी तत्व, स्वरूप, सम्बन्ध अथवा वस्तु के कई रूप होते हैं। यदि उसके सभी रूपों का ज्ञान न हों तो उसका एकांगी ज्ञान अधिकतर मिथ्या की ओर ही ले जाता है।

{1692}

चैतन्य देव में चैतन्य शक्ति के साथ-साथ ज्ञान धारा उपयोग आदि शक्तियो का कर्तृत्व विद्यमान रहता है। यही तो जड एव चैतन्य की भेद-रेखा का मुख्य बिन्दु है। पर वर्तमान परिवेश मे चैतन्य देव अपनी स्वभाविक अवस्था को विस्मृत कर विषमता के दल दल मे फॅस गया है। अतएव उनकी समग्र शक्तियॉ विषमता से अनुरंजित हो चुकी है। परिणाम स्वरूप वह प्राय विषमता को ही अपना साथी समझने लगा है। इसी से ज्ञान शक्ति अज्ञान के रूप मे एव दर्शन शक्ति मिथ्या दर्शन के रूप मे परिणित हो गई है।

{1693}

जो कुछ जाना है, वह सही है या नही उसकी सबसे बडी कसौटी शुद्धात्मानुभूति ही होती है।

{1694}

समता के
वातावरण में पला–पोषा संसारी
जीवन आध्यात्मिक क्षेत्र में ऐसी
आदर्श समता का विकास
कर सकेगा जो आत्मा को
परमात्मा से मिलाती है।

{1695}

कहावत है कि
किसी भी शुभ का समारम्भ
स्वयं से होना चाहिये और
समता भी अपने से शुरू
होनी चाहिये।

{1696}

आत्मानुभूति
को सजग एवं
सक्षम बनाने का
मार्ग चिन्तन का
मार्ग है।

{1697}

किसी को उसके अपराधों
के लिये दण्डित करना आसान है किन्तु
उसमें भावनात्मक परिवर्तन लाना और
उसके दिल को बदल देना आसान
नहीं होता इसके लिये संयम की
आवश्यकता होती है।

{1698}

सत्याधारित
चिन्तन का जो
भीतर निष्कर्ष निकलता
है, सही अर्थ में उसे ही आत्मा
की आवाज
मानना चाहिये।

{1699}

गुण और कर्म
ही मनुष्य की महानता
के प्रतीक हों एवं अन्य
पौद्गलिक उपलब्धियाँ इनके
समक्ष हीन दृष्टि से
देखी जाय।

{1700}

जो चिन्तन
में रमता है, वह
निश्चित मानिये कि वह
सतत् जागृत
भी रहता है।

{1701}

ऊँचाई नही मिलती
यह जीवन की कमजोरी हो
सकती हैं, किन्तु जब भी जीवन दर्शन की
क्रियाशील प्रेरणा से आप्लावित होकर समता
मार्ग पर गति की जायेगी,
तब उच्च लक्ष्यों की ऊँचाई
मिल कर रहेगी।

{1702}

सार्वभोम अहिंसादि महाव्रतों
को सर्वतोभावेन शक्ति भर आचरण
में लाने का सत्य पुरुषार्थ आवश्यक हे।
सत्पुरुषार्थ के रूप में भावात्मक अहिंसा सत्यादि
निजी गुणों को अतीव सत्कार पूर्वक जीवन में
स्थान देना आवश्यक हो जाता हे। ऐसा किये
बिना नवीन कर्मो का बंध रूक नहीं सकता।

{1703}

समाज की आर्थिक
व्यवस्था सम वन जाती
हे तो सही मानिये कि
व्यक्ति-व्यक्ति का चरित्र भी
नई प्रगतिशील करवट
ले सकेगा।

{1704}

जहॉ सत्य की
जिज्ञासा है, वहॉ एकांगी
ज्ञान भी पूर्णता प्राप्ति की ओर गति
करता है किन्तु दुराग्रह में पडकर
वैसा ज्ञान अज्ञान
रूप ही हो जाता है।

{1705}

समता दर्शन के
साधक का इस संदर्भ में
पवित्र कर्तव्य होना चाहिये कि
वह सिद्धान्तों को जानकर
आत्मानुभूति की कसोटी पर कसे और
सत्य दर्शन की जिज्ञासा
को सदेव जागृत रखें।

{1706}

दूसरे की परिश्रम की
आय को व्यक्त या अव्यक्त रूप से
स्वयं ले लेना भी चोरी हैं।
यही आज के आर्थिक शोषण का रूप
हैं। टैक्स चोरी भी
इसका ही दूसरा रूप है।

{1707}

विकासोन्मुख व्यक्ति
मूर्छित व्यक्ति को अपने करूणामय
प्रभाव से जगाता रहें एक बाती से
बत्तियॉ जलती रहें फिर सबका
समतामय विकास
कैसे दूर रह सकेगा।

{1708}

इस प्राकृतिक रचना मे कितनी समता,
सौम्यता एवं सहज-स्वाभाविकता भासित
होती है। इसमे विषमता का पुट दृष्टिगत नही
होता। पर यह समता एवं सरलता चराचर एवं जड
चैतन्य रूप जगत की प्राकृतिक रचना है। इसका
अवलोकन करने वाला चैतन्य देव, इनमे समता की
कल्पना कर सकता है। सरलता एवं सहजता के भाव
को भी शिक्षा की दृष्टि से ग्रहण कर सकता है।
जड तत्व में समता, सरलता एवं नैसर्गिकता
को समझने की योग्यता नहीं है।

{1709}

सच पूछा जाये
तो मनुष्यता का सच्चा
विकास ही तब होगा जब गुण
पूजक संस्कृति की रचना
होगी जैसी कि
महावीर ने रची थी।

{1710}

दुराग्रही विचारान्धों
के लिये स्याद्वाद वैसा नैत्रवान
पुरुष है जो उनके अनुभवों को
समन्वित करके
सत्य के दर्शन
करता है।

{1711}

सत्ता या सम्पत्ति
की शक्ति से प्रभुता न मिले
बल्कि मानवीय गुणों की
उपलब्धि से समाज का नेतृत्व
प्राप्त हो।

{1712}

सर्वहित में
जो जितना ज्यादा
त्याग करेगा, वह
उतना ही पूजा
जायेगा।

{1713}

प्रत्येक विकासकामी
मानव का पहला कर्तव्य यह
होना चाहिये कि वह अपने प्रत्येक
चरण पर सद्सद् का एवं उसके
फलाफल का विवेक सतत् रूप
से जागृत रखें।

{1714}

क्रियाहीन ज्ञान
पंगु होता है तो ज्ञानहीन क्रिया
निरर्थक जानना, मानना और
करने का सतत् क्रम ही
जीवन को सार्थक
बनाता है।

{1715}

सम्पत्ति और
सत्ता को अपने लिये
प्राप्त करने की होड़ ही
सारी विषमता को पैदा
करने वाली है।

{1716}

सत्य ज्ञान
दृष्टि विविध अपेक्षाओं
को समझ कर सम्पूर्ण
स्वरूप का निर्णय
करती है।

{1717}

समूचा मैल कट
जाता है तो सम्पूर्ण
निर्मलता की आभा प्रस्फुटित
होती है। यह आभा ही आत्मा की
परम स्थिति है और उसे
परमात्मा बनाती है।

{1718}

समता की उच्चतर
श्रेणियों में जब आत्मा प्रवेश
करती है तो उसके मूल स्वरूप का–
उसकी आधारगत शक्तियों का प्रकटीकरण होने
लगता है। यह प्रकटीकरण ही
आत्मा की परम पद की ओर
गति का संकेत होता है।

{1719}

मानवता प्रधान
समाज व्यवस्था में
चेतना, मनुष्यता एवं
कर्म निष्ठा की श्रेष्ठता
को
प्रधानता मिलेगी।

{1720}

काम का विकार
अति प्रबल होता है और
उसे नियमित एवं संयमित करने के
लिये संसारी मनुष्य के लिये स्वस्त्री
सन्तोष का व्रत
बताया है।

{1721}

वेश्यागमन यह
कुव्यसन सारे समाज के लिये
घातक है जो नारी जैसे पवित्र
जीवन को मोरी के कीडे
की तरह पतित बनाता है।

{1722}

परस्त्रीगमन तो इस
कारण भी जघन्य अपराध
माना जाना चाहिये कि ऐसा दुष्ट
पुरुष दो या अनेक परिवारों के
सदाचरण को नष्ट करता है। एवं
एड्स जैसे गंभीर बिमारी को
आमंत्रित करता है।

{1723}

अहिंसा का सूक्ष्म रूप
मन से सम्बन्धित है। मानसिक
एवं वैचारिक रूप में भी किसी के मन
को कष्ट न दें। तथा जहां मतभेद
हो वहॅा उसे स्वस्थ
रीति से दूर करें।

{1724}

क्रोध, कल्पना करे
कि किसी भी कारण से आया,
किन्तु यदि समता की सुदृढ़ता हुई
तो वह उस क्रोध को दबा देगी – फिर उसका
उपशम करके ही वह शान्त नही होगी बल्कि,
क्रोध को समूचे तौर पर क्षय करने के संस्कारों
को वह ढालेगी।

{1725}

जो संसार के
सत्कर्मों में शौर्य
प्रदर्शित कर सकते हैं,
वे धर्म क्षेत्र में भी अपना
अपूर्व शौर्य अवश्य
दिखाते हैं।

{1726}

आत्मोन्नति की
उच्चस्थ श्रेणियों में राग
द्वेष से विहीन होकर निरपेक्ष भाव
से सत्यावलोकन वीतराग पुरुषों ने
किया, वह भव्यों के लिए आदर्श
बन गया।

{1727}

सभी प्रकार
से मिथ्या को छोड़ना
एवं सत्य का अनुकरण एवं
अनुशीलन करना समता
साधक का कर्त्तव्य है।

{1728}

सत्य और
मिथ्या क्या ? यह पूर्णतः
आत्मा की ज्ञान एवं चिन्तन
दशा तथा अन्तर अनुभूति
के निर्णायक विषय है।

{1729}

किसी भी जीवधारी की
आत्मा कभी भी जागृति या संज्ञा
से सर्वथा हीन नही होती। संज्ञा के
दब जाने की दशाओं में अंतर हो सकता है
किन्तु वह सर्वथा नष्ट नही होती क्योंकि आत्मा
का मूल स्वभाव ज्ञानमय है- चेतनमय है।

{1730}

सत्य तभी सुदृढता
से रह सकेगा जब उसके स्तर से
आत्मानुभूति को विचार एवं आचार
की उत्कृष्टता एवं शुद्धता के
पथ पर विकसित कर
लिया जाय।

{1731}

कभी कभी ऑखों
देखी कानों सुनी भी
झूठी हो जाती है। अतः
सत्य को पहिचानने के
लिए सही समीक्षा होना
आवश्यक है।

{1732}

अहिंसा का
व्यापक रूप
समाज में व्यक्ति के सम
जीवन के निर्धारण में
पूर्णरूप से सक्षम एवं
प्रभावकारी हो
सकता है।

{1733}

जीवन में छुपी शक्ति की
अभिव्यक्ति होने पर आत्मा तीनों
लोकों की प्रभुता प्राप्त कर सकती हे। वह प्रभुता
शस्त्रबल, धनबल अथवा अन्य किसी वाह्य वल
से नही प्राप्त हो सकती। वह तो आन्तरिक शक्ति
के सही विकास पर निर्भर हे। आन्तरिक शक्ति
अभिमान की मात्रा में दव जाती हे।

{1718}

समता की उच्चतर
श्रेणियों मे जब आत्मा प्रवेश
करती है तो उसके मूल स्वरूप का–
उसकी आधारगत शक्तियों का प्रकटीकरण होने
लगता है। यह प्रकटीकरण ही
आत्मा की परम पद की ओर
गति का संकेत होता है।

{1719}

मानवता प्रधान
समाज व्यवस्था में
चेतना, मनुष्यता एवं
कर्म निष्ठा की श्रेष्ठता
को
प्रधानता मिलेगी।

{1720}

काम का विकार
अति प्रबल होता है और
उसे नियमित एवं संयमित करने के
लिये संसारी मनुष्य के लिये स्वस्त्री
सन्तोष का व्रत
बताया है।

{1721}

वेश्यागमन यह
कुव्यसन सारे समाज के लिये
घातक है जो नारी जेसे पवित्र
जीवन को मोरी के कीड़े
की तरह पतित बनाता है।

{1722}

परस्त्रीगमन तो इस
कारण भी जघन्य अपराध
माना जाना चाहिये कि ऐसा दुष्ट
पुरुष दो या अनेक परिवारों के
सदाचरण को नष्ट करता है। एवं
एड्स जैसे गंभीर बिमारी को
आमंत्रित करता है।

{1723}

अहिंसा का सूक्षम रूप
मन से सम्बन्धित है। मानसिक
एवं वैचारिक रूप में भी किसी के मन
को कष्ट न दें। तथा जहां मतभेद
हो वहॉ उसे स्वस्थ
रीति से दूर करें।

{1724}

क्रोध, कल्पना करे
कि किसी भी कारण से आया,
किन्तु यदि समता की सुदृढ़ता हुई
तो वह उस क्रोध को दबा देगी – फिर उसका
उपशम करके ही वह शान्त नहीं होगी बल्कि,
क्रोध को समूचे तौर पर क्षय करने के संस्कारों
को वह ढालेगी।

{1725}

जो संसार के
सत्कर्मों में शौर्य
प्रदर्शित कर सकते हैं,
वे धर्म क्षेत्र में भी अपना
अपूर्व शौर्य अवश्य
दिखाते हैं।

{1726}

आत्मोन्नति की
उच्चस्थ श्रेणियों में राग
द्वेष से विहीन होकर निरपेक्ष भाव
से सत्यावलोकन वीतराग पुरुषों ने
किया, वह भव्यों के लिए आदर्श
बन गया।

{1727}

सभी प्रकार
से मिथ्या को छोडना
एवं सत्य का अनुकरण एवं
अनुशीलन करना समता
साधक का कर्त्तव्य है।

{1728}

सत्य और
मिथ्या क्या ? यह पूर्णतः
आत्मा की ज्ञान एवं चिन्तन
दशा तथा अन्तर अनुभूति
के निर्णायक विषय है।

{1729}

किसी भी जीवधारी की
आत्मा कभी भी जागृति या संज्ञा
से सर्वथा हीन नही होती। संज्ञा के
दब जाने की दशाओं में अंतर हो सकता है
किन्तु वह सर्वथा नष्ट नही होती क्योंकि आत्मा
का मूल स्वभाव ज्ञानमय है- चेतनमय है।

{1730}

सत्य तभी सुदृढता
से रह सकेगा जब उसके स्तर से
आत्मानुभूति को विचार एवं आचार
की उत्कृष्टता एवं शुद्धता के
पथ पर विकसित कर
लिया जाय।

{1731}

कभी कभी ऑखों
देखी कानों सुनी भी
झूठी हो जाती है। अतः
सत्य को पहिचानने के
लिए सही समीक्षा होना
आवश्यक है।

{1732}

अहिंसा का
व्यापक रूप
समाज में व्यक्ति के सम
जीवन के निर्धारण में
पूर्णरूप से सक्षम एवं
प्रभावकारी हो
सकता है।

{1733}

जीवन में छुपी शक्ति की
अभिव्यक्ति होने पर आत्मा तीनों
लोकों की प्रभुता प्राप्त कर सकती है। वह प्रभुता
शस्त्रबल, धनबल अथवा अन्य किसी बाह्य वल
से नही प्राप्त हो सकती। वह तो आन्तरिक शक्ति
के सही विकास पर निर्भर है। आन्तरिक शक्ति
अभिमान की मात्रा में दब जाती है।

{1734}

आन्तरिक ग्रन्थियों को सुलझाने के लिये अभ्यास के समय वारीकी से चित्त की वृत्तियों को पहचानने के प्रयत्न के साथ कठिनाइयों को दूर करने के लिये सही निर्णायक बुद्धिपूर्वक सावधानी रखना। साथ ही उलझी समस्याएं नही सुलझें तो नोट करने का ध्यान तथा योग्य गुरु के पास हल लेते हुए चला जाय, तो आंतरिक तत्त्व सहज ही विदित हो सकते है।

{1735}

सिद्धान्त भी वही प्रेरणोत्पादक कहलाता हे जो तदनुकूल कार्य क्षमता को जागृत वनाता हे। जीवन निर्माण का यही मूलमंत्र होता हे।

{1736}

अस्तेय का अर्थ है चोरी के स्थूल या सूक्ष्म सभी रूपों को निरन्तर छोडते जाना तथा अचौर्य व्रत को सुदृढ बनाते जाना।

{1737}

समता साधक के जीवन का प्रत्येक विचार प्रवचन और कार्य प्रामाणिकता के धरातल से ही जन्म लेना चाहिये एवं प्रशिक्षण प्रामाणिक बना रहना चाहिये।

{1738}

अप्रमाणिकता जब तक है, जीवन में सच्चा ज्ञान नही आ सकता, सच्चा चिन्तन नही हो सकता तब आचरण की सच्चाई का बनाना तो संभव ही नही है।

{1739}

नियम भंग करने वाले के समाने अगर कोई अपना पाप भी छोड दे और संयम का रूख अख्तियार कर ले तो नियम भंग करने वाले के दिल को भी पलट सकता है।

{1740}

किसी भी कार्य में विलम्ब या शैथिल्य उस कार्य की कारण-सामग्री के प्रमुख सुत्रधार संकल्पशक्ति पर निर्भर है। वह संकल्पशक्ति वास्तविक ज्ञानपूर्वक निरन्तर जीवन-निर्माण की परिपूर्ण कारण-सामग्री के प्रत्येक अंग में प्राणस्वरूप बन कर दृढ़, दृढतर, दृढतम बन जाय, तो अन्य कोई भी शक्ति उसमे बाधन नही बन सकती ।

{1741}

व्यक्ति का अटल संकल्प अपने क्रम में परिवार, समाज, राष्ट्र एवं समूचे विश्व की संकल्प शक्ति को प्राणवान बनाता है।

{1742}

जहाँ भी बिना
परिश्रम अनर्थ तरीकों
से धन आने का स्त्रोत हो उसे
जुएं की ही श्रेणी में लेना
चाहिये। इस नजर से सट्टा व
तस्कर व्यापार
भी त्याज्य हैं।

{1743}

सन्तजन
आत्मसाधना भी
कर सकते हैं तथा
उपदेश की धारा बहाकर समाज
की सेवा भी
कर सकते हैं।

{1744}

परोपकार
में स्वोपकार
तो स्वत: ही हो जाता है।
पानी पिलाने वाले के हाथ
पहले ठंडे होते हैं।

{1745}

ऊर्जा दो प्रकार की है। एक
भौतिक, दूसरी आत्मिक। भौतिक ऊर्जा
के लिये सर्वत्र प्रयत्न प्रचलित हैं, लेकिन
आत्मिक ऊर्जा का अत्यधिक स्वल्प प्रयत्न किंचित
ही परिलक्षित हो पा रहा है।कारण कि सत्ता के
कर्त्तव्यों के प्रति पूर्ण निष्ठा प्राय नही है। निष्ठा
के बिना उसकी
ओर प्रयत्न बनाना कठिन है।

{1746}

यदि काम के
अन्धेपन को छूट दे
दी जाय तो वह कितने अनर्थों
एवं अपराधों की लडी बांध देगा
इसका
कोई हिसाब नही।

{1747}

बुराई हेय है
और अच्छाई उपादेय।
इसलिये हेय को छोड़े और
उपादेय को ग्रहण
करते जाय।

{1748}

जितना
त्याग उतनी
समता और जितना
भोग उतनी
विषमता।

{1749}

आज तो प्राय: यत्र-तत्र-सर्वत्र
मोह का ही जाल फैला हुआ है। इस
जाल को तोड़ना सरल नही है, क्योकि यह
वह मदिरा है, जो अनेक रूपो को धारण कर लेती है।
मानव को मानव न रखकर दानव, पिशाच,रावण आदि बना
देती है। इससे छुटकारा पाना असम्भव नही तो कठिन
अवश्य है।
लेकिन निरन्तर विवेकपूर्वक अभ्यास से
सुसाध्य हो सकता है।

{1750}

आत्मन् ! अमरता की चावी तेरे पास है। तू उसे पा ले। असावधानी मत रख। साधन का वास्तविक सदुपयोग कर। जो साधन उपलब्ध है, उसको व्यवस्थित रूप से नही संभाला अथवा उस विशेष विज्ञानमय प्रक्रिया का सही मानें में उपयोग नही किया, तो अवसर निकल जायगा। फिर क्या कर पाएगा। अतः अत्यधिक सावधानी की आवश्यकता हे। समय चूकने पर पश्चाताप के अतिरिक्त कुछ भी नही वन पाएगा।

{1751}

ईर्ष्या से जितनी मुक्ति मिलेगी, उतना ही विकास जीवन में समाता जायेगा।

{1752}

सातों कुव्यसनों के वैयक्तिक एवं सामाजिक कुप्रभाव को ध्यान में रखते हुए त्वरित परित्याग की ओर कदम आगे बढने ही चाहिये।

{1753}

आज के अर्थ प्रधान युग में अस्तेय व्रत का वहुत ही महत्व है। चाहे मजदूर की चोरी हो या सरकार की चोरी सभी चोरियॉ न्यूनाधिक रूप से निन्दनीय है।

{1754}

सम्पूर्ण सत्य का साक्षात्कार ही जीवन का चरम लक्ष्य माना गया है- वह तभी होता है जब जीवन विकास चरम पर चढ जाय।

{1755}

अस्तेय व्रत का यह असर होना चाहिये कि संसार में सभी नीतिपूर्वक अर्जन करें। और जो भी अर्जन करें वह स्वयं के शुद्ध श्रम पर आधारित होना चाहिये।

{1756}

विश्व विराटशक्तियों का केन्द्र है। सभी प्रकार की सभी शक्तियॉ यत्र-तत्र बिखरी पडी है, जो भी व्यक्ति, जिस भी शक्ति को प्राप्त करना चाहे वह खुशी से प्राप्त कर सकता है। उसको रोकने वाला कोई भी सत्ताधीश व्यक्ति नही है। हॉ, बाधाएँ आ सकती है, पर उनको तो धैर्य और विवेकपूर्वक दूर किया जा सकता है।

{1757}

सर्वजीव रक्षण की भावना मे अपने मनोविनोद के लिये जीव हनन सर्वदा निन्दनीय है।

{1758}

जब सहयोग एवं
सहानुभूति का वातावरण
होता है तब समता के विकास का
रूप एक और एक मिलकर दो की
संख्या में नही बल्कि एक और एक
मिलकर ग्यारह की
संख्या में ढलता है।

{1759}

त्याग और संयम
में ऐसी दिव्य शक्ति
होती है जो मनुष्य को
उसके मनुष्यत्व से भी
ऊपर उठाकर देवत्व के
समीप ले जाती है।

{1760}

नियम वे
ही नही होते
जो लेखबद्ध हों बल्कि वे,
भी जो आदर्श
रूप हों।

{1761}

एक चिन्तक स्वयं के जीवन
को तो समुन्नत बना ही लेता है
किन्तु सारे विश्व के लिये ऐसा आलोक भी
उत्पन्न करता है जिसके प्रकाश में वह पीढी ही
नही, आनेवाली कई पीढियॉ भी विकास का
सन्देश आदर्श रूप
में ग्रहण करती रहती है।

{1762}

समता के दर्शन
एवं व्यवहार का इसे
चरम विकास मानना होगा कि
व्यक्ति का व्यक्तित्व समूचे
विश्व की परिधि तक
प्रसारित हो जाय।

{1763}

जब तक कपट
नही छूटता तब तक
मनुष्य अपने शुद्ध स्वार्थो के लिये
हर किसी के साथ
विश्वासघात का
व्यवहार करता है।

{1764}

बड़े से बड़ा
और छोटा से छोटा व्यक्ति
भी कानून के
सामने समान गिना
जाता है।

{1765}

समुद्र में जो जितना गहरा
गोता लगता हैं, उतनें ही मूल्यवान् मोतियों
की उपलब्धि कर सकता हें।
उसी प्रकार चिन्तन, मनन एवं स्वानुभूति की
गहराई में जो जितनी पेठ करता हे, उतने ही
सत्साधना के मुक्ताकण
उसे प्राप्त हो सकते हं।

{1766}

सहानुभूति एवं सहयोग का
स्नेह जब अंतर से उद्भूत होकर
सब ओर और सब पर फैल जाता है। तब
समस्त प्राणियो के साथ जिस आत्मीय समता की
स्थापना होती है, वह अपने सुख–दु.ख को तो
भुला देती है परन्तु दूसरो के
सुख–दु ख को अपना सुख–दु.ख
बना देती है।

{1767}

मर्यादा, नियम
एवं संयम के अनुपालन
मे निष्कपट भाव
पहले जरूरी है।

{1768}

आत्मीयता रक्त से
भी सम्बन्ध रखती है, किन्तु यदि इसी
आत्मीयता का सम्बन्ध समता दर्शन
से जोड दिया जाय तो उसका
विस्तार समूचे विश्व एवं प्राणी समाज
तक भी फैलाया जा सकता है।

{1769}

सारे विश्व को बडा
कुटुम्ब मान लें उसे अपनी
स्नेह पूर्ण आत्मीयता से रंग दे तो
भला क्यों नही वसुधैव कुटुम्बकम्
जैसी कल्पना
साकार हो सकेगी।

{1770}

पाखण्ड तो
समता के मूल पर
ही आघातकरता है चाहे
वह समता सांसारिक क्षेत्र से सम्बन्ध
रखती हो अथवा
आध्यात्मिक क्षेत्र में।

{1771}

ऐन्द्रिक सुख वास्तविक
सुख नही है, सुखाभास है।
आत्मा का स्वभाव इन ऐन्द्रियक सुखों
में रमण करने का नही है। सुख
पौद्गलिक पदार्थों में नही है स्वयं
आत्मा में है।

{1772}

अपनी आत्मा वैसी सबकी
आत्मा, इस समता दृष्टि से भी आगे
आत्मदर्शी की यह भावना सजग हो जाती है कि
वह अपनी आत्मा को भी एक प्रकार से सबकी
आत्मा में निमज्जित कर देता है याने कि
उसका जीवन पूरे तौर पर
लोकोपकारी बन जाता है।

{1773}

कपटी व्यक्ति
के मन वचन और
कर्म गाड़ी के पहिये की तरह
घूम जाते है।

{1774}

समता लानी
है तो दंभीवृत्ति को
मिटानी पडेगी और जितना
अधिक दायित्व,
उतना ही अधिक प्रामाणिक
बनना होगा।

{1775}

समाज में रहते
हुए व्यक्ति के कई पक्ष होते हैं
और इसीलिये उसके
दायित्व भी बहुमुखी
हो जाते हैं।

{1776}

किसी भी
कर्त्तव्य से कही भी
च्युत होने का अर्थ ही यह
होता है कि वहाँ अपने
विषमता का पौधा
रोप दिया है।

{1777}

समता व्यक्ति के
जीवन में आवें तो समता समाज
के जीवन में जागें - इस उद्देश्य
की श्रेष्ठ पूर्ति आत्म-दर्शन की दिशा में
निरन्तर आगे बढते रहने से ही
संभव बन सकेगी।

{1778}

क्रोध के संहारक
शस्त्र के आघातों से
परमात्मा के तुल्य आत्मा का
अवमूल्यन हो जाता है। विचार
की सफल परिणिति
सत् आचार में है।

{1779}

बुराई जल्दी जड
पकडती और फैलती है,
उसी तरह विषमता भी एक वार
पनपकर वहुत जल्दी
पसर जाती है।

{1780}

मार्यादाओं
के निर्वाह में भी
केवल अंधानुकरण नही
होना चाहिये।

{1781}

समय को मिनट व सेंकड
से भी छोटा धटक माना गया हे।
समय का कोई मूल्य नही ओर वीता हुआ
समय कभी वापस लोटकर आता नही अतः
आत्मदर्शी के लिये समय का लोकोपकार मे
सदुपयोग एक आवश्यक कर्तव्य
माना जाना चाहिये।

{1782}

आत्म–चिन्तन के आधार
पर समाज में राजनैतिक,
आर्थिक आदि विभिन्न प्रकार की
समता–स्थापना हेतु नये शान्तिपूर्ण मार्ग खोजे
जांय और ऐसी पद्धतियो का विकास
किया जाय जो समाज के विस्तृत क्षेत्र
में भावात्मक तथा कार्यात्मक
एकरूपता पैदा कर सके।

{1783}

समता की
महायात्रा में कही
भी कर्तव्यहीनता की स्थिति
नही आवे इसकी सर्तकता
सदेव बनी
रहनी चाहिये।

{1784}

आत्मा के साथ कर्मों
का जो मैल लगा रहता है,
वही इसकी ज्ञान एवं चेतना शक्ति
को दबाता रहता है एवं अपने
मैं को भी विस्तृत बनाये
रखता है।

{1785}

जितने सुविचार
एवं सदाचरण से आत्मा
पर लगे मैल को धोन की कोशिश
की जाती है, आत्मा
का मूल स्वरूप भी
निखरता जाता है।

{1786}

आत्मा में जितनी
ज्यादा सफाई आती है
उतना ही उसका बल बढ़ता जाता है,
जितनी वह सशक्त होती है,
उतनी ही चेतना
जागृत होती है– संज्ञा
सुगठित बनती है।

{1787}

आत्मा जब तक मूर्च्छा
ग्रस्त रहती है, वह तब
तक शारीरिक एवं पौद्‌गलिक सुखों की
वितृष्णा में अपने स्वरूप को
क्षतिग्रस्त बनाती
रहती है एवं सच्चे विकास से
दूर हटती रहती है।

{1788}

हमारा अपना चिन्तन
तब तक पूर्ण नहीं बन सकेगा
जब तक हम दूसरे प्रबुद्धजन के
अतीत के या वर्तमान के चिन्तन को समझकर
अपने स्वयं के चिन्तन की कसौटी पर न कसें
और उसकी उपयोगिता पर न सोचें।

{1789}

भारतीय संस्कृति
में "वासुधैव कुटुम्बकम्"
की जो कल्पना की गई है,
उसे समता पथ पर चलकर
ही साकार बनाई
जा सकती है।

{1790}

समता जीवन का
मुख्य स्वर होना चाहिए।
जीवन की महानता
समता में निहित है। मर्यादा ही
उत्तम आचरण का
सुरक्षा कवच है।

{1791}

चोरी का
अध्याय वही से शुरू
होता है जब समर्थ कमजोर
की सम्पत्ति
हरने लगता है।

{1792}

प्रामाणिकता
की जीवन में सभी
अंगो में प्राण प्रतिष्ठा,
आज की प्रबल
आवश्यकता है।

{1793}

समता-साधना की अन्तरंग
धारा तो हर समय प्रवाहित होती
रहेगी किन्तु इसके प्रवाह को पुष्ट करते
रहने की दृष्टि से सत्साधना
के लिये नियमित समय का
निधार्रण भी आवश्यक है।

{1794}

तप के माध्यम
से साधक विशाल
कर्मराशि को जला डालता है।
तप सीधा अन्तर शक्ति को
प्रदीप्त करता है।

{1795}

सत्य के प्रति
सतत निष्ठा मनुष्य
को समता की परम
श्रेष्ठता तक पहुंचाती हे।

{1796}

दंभ, छल,
कपट और पाखण्ड
आज की व्यवहारिकता के
सूत्र वनते जा
रहे हें।

{1797}

वह जो सोचता है, वोलता
और करता हे- उसका उसके
स्वयं के जीवन पर, उसके साथियों के जीवन
पर एवं समुच्चय रूप से समाज के जीवन पर
क्या प्रभाव पडेगा-यह देखते एवं
महसूस करते रहने
की सतर्कता होनी चाहिये।

{1798}

जव दपर्ण अपनी उच्चतम
सीमा तक स्वच्छ कर लिया जाता
है तो अपनी निर्मलता से न स्वयं ही
सुदर्शनीय होता है वल्कि जो भी उसके समक्ष
आता है उसके प्रतिविम्व को निखार कर
वह उसे भी सुदर्शनीय वना देता हे। इन्सान
और भगवान् की समता की
यही आदर्श स्थिति होती हे।

{1799}

परिग्रह में
धन सम्पत्ति के
सिवाय सत्ता, पद
या यश सभी का
समावेश हो जाता हे।

{1800}

आत्मा की आवाज
सभी जीवनधारियों में उठती
है, किन्तु उसका अनुशीलन एवं
उसका विकास उसे सुनने एवं
उसके अनुसार करने पर
आधारित रहता है।

{1801}

आत्म-विकास का
सही अर्थ यह होगा कि
आत्मा अपनी आवाज को शरीर से
मनवाये और शरीर वही
कर सके जिसकी आज्ञा
आत्मा दे।

{1802}

विकास का तात्पर्य
उपर उठना और जब
आत्मा हल्की बनती हुई उपर और
उपर उठती जायगी तो
विकास के चरम बिन्दु तक
भी पहुँच सकेगी।

{1803}

जीवन में जब
ज्ञानार्जन करके आचरण
को पुष्ट बना लिया जाता है
तब अन्तरानुभूति सशक्त बनती
है और आत्मानुशासन
प्रबल होता है।

{1804}

पुण्य उस नाव की तरह
होता है जिसमें बैठकर नदी को
पार कर लें किन्तु दूसरे तट पर
कदम रखने के लिये तो नाव को भी छोडनी
पड़ती है। इस कारण पुण्य की सहायता से
संसार में जो सुख-वैभव की उपलब्धियॉ होती है,
उन्हें छोडने को भी चरम त्याग कहा है।

{1805}

भाई पिता माता
धर्म और ईश्वर सभी का
स्थान एक परिग्रही के लिए
तृष्णा ले लेती है।
वितृष्णा विषमता
की मॉ है।

{1806}

कर्म बंधन से
ज्यों-ज्यों आत्मा मुक्त
होती जायेगी, वह उर्ध्वगामी
बनेगी क्योंकि वह
हल्की होती जायेगी।

{1807}

मन ही बन्धन
और मुक्ति का मूल
कारण होता है। विषम दृष्टि
हटने पर ही समदृष्टि
उत्पन्न होती है।

{1808}

चोरी सदा
सत्य का हनन
करती है, अतः
त्याज्य हैं ही ।

{1809}

सामाजिक स्वेच्छिक
नियंत्रण प्रणालियां यदि सुदृढ
नही होगी तो व्यक्ति की कामनाऍ
साधारण रूप से उद्दाम बनेगी और वह
आत्म विस्मृत बन कर पशुता
की और मुडेगा।

{1810}

चैतन्य का
अनुशासन हो तो
निश्चित रूप से प्रकाश
की और ही गति होगी-
जडत्व का अंधकार उसे
घेर नही सकेगा।

{1811}

जहॉ भेद है, वहॉ
विकार है, पतन है।
वाणी और कर्म में भेद हे तो
वहॉ विषमता का खेद ही खेद
समझिये।

{1812}

बिना श्रम
का धन व्यसनों
की वढोतरी में ही
खर्च होता हे। विषमता
छोडनी है तो समता
ग्रहण करनी है।

{1813}

यदि व्यक्ति का अपने ओर
अपने साथियों के हितों के साथ सामजंस्य
विठाकर चलने का अभ्यास नही हुआ तो उसके
जिस सभ्यता एवं संस्कृति की रचना होगी,
वह न सर्वजन हितकारी होगी
ओर न किसी
भी दृष्टि से आदर्श।

{1814}

विषमता की कुप्रवत्ति के
साथ जब एक व्यक्ति चलता
है तो उसका कुप्रभाव उसके आस-
पास के वातावरण पर पडे बिना नही रह
सकता। यही वातावरण व्यापक बनकर
परिवार, समाज एवं राष्ट्र से लेकर
पूरे विश्व तक फैलता है।

{1815}

मानव जीवन
के लिये विकास
की कोई भी ऊंचाई
कभी भी असाध्य
मत मानिये।

{1816}

ज्ञान, दर्शन चारित्र्य
रूप, सत् साधना की
त्रिधारा जो सम्यक्त्व की निर्मलता में
बहती हुई आत्म-स्वरूप
को भी निर्मलता
की ओर ले जाती है।

{1817}

आन्तरिकता की
अभ्युत्थानी अवस्था में
संसार के समस्त जीवन
धारी अपनी ही आत्मा के
तुल्य प्रतीत होने
लगते हैं।

{1818}

आत्मानुभूति
एवं अन्तर्चेतना की जागृत
दशा में जो प्रगति की जायेगी, वह
व्यक्ति एवं समाज दोनों
के जीवन को प्रभावित
करेगी।

{1819}

आत्म-दर्शी व्यक्ति
एक प्रकार से परिवर्तनशील
समाज के नेता होंगे-सामान्य जन
जिनका विश्वासपूर्वक
अनुसरण कर सकेंगे।

{1820}

जब लेने की ही मनुष्य
कोशिश करता रहता है तो यह
तो निश्चित नही है कि वह जो कुछ लेना
चाहता है, वह उसे मिल ही जाय, किन्तु लेने
के लोभ में वह अपने आत्मिक गुणों
का कितना सर्वनाश कर देता है-
इसकी कोई सीमा नही।

{1821}

आत्मा का परम स्वरूप
ही समता का चरम
स्वरूप होता है। ज्ञान
और चिन्तन आचरण की
आधार शिलाएं होती है।

{1822}
आत्मानुभूति के
सजग एवं स्पष्ट होने
के बाद चिन्तन एवं मनन की
मनोवृति और अधिक
गंभीर एवं अन्तर्मुखी
बनती है।
{1823}
जितनी
निरपेक्ष क्रान्ति
पनपती है, समता
संगठित और संस्कारित
बनती है।
{1824}
क्रोधी अपने
सम्बन्धियों मित्रों एवं
स्नेहियों को भी
शत्रु
बना लेता है।
{1825}
जब स्वयं ज्ञानार्जन न
करके दूसरों के ज्ञानार्जन में
बाधाएँ पैदा की जाती है अथवा
पाखण्ड या दंभ से अज्ञान या कुज्ञान की
प्रतिष्ठा की जाती है तो ऐसा
करने वाले के ज्ञान पर
आवरण लग जाते हैं।
{1826}
चिन्तन और
मनन की शिला पर
घिसती हुई स्वानुभूति तीक्षणतर
बनती हुई
अधिक समतामयी
बनती है।
{1827}
क्रोध आन्तरिक
सद्वृत्तियों के लिए
अतीव घातक होता है, एक
भयानक शस्त्र
के समान।
{1828}
जहां बाहर में
भटकाव है, वहां
स्वार्थ है विकार हे
ओर विषमता है।
{1829}
अच्छे काम से अच्छा
नाम कर्म तो उससे अच्छी
गति की प्राप्ति। अच्छी गति मिले तो
विकास के अच्छे अवसर मिलते
हें। बुरी गति में विकास की
संज्ञा ही पेदा नही होती।

{1830}

अपने ही ज्ञान और
विवेक से जो पतन के मार्ग
को पहिचान जाता हे, वह अपने
जीवन में व्यवहारिक प्रयोग के नाते अपने उन
विकारों से वचना चाहता है जो
पतनकारक होते हैं। आत्म
नियंत्रण की श्रेष्ठता को चुनौती
नही दी जा सकती ।

{1831}

समता
शान्ति स्मृद्धि एवं श्रेष्ठता
की प्रतीक होती है
इसे कभी
न भूले।

{1832}

प्रातः सूर्योदय से
पूर्व कम से कम एक
घडी यह आत्म चिन्तन करे कि
उस दिन हमें अपनी चर्या
क्या रखनी है जो समता लक्ष्य
के अनुकूल हो।

{1833}

दिन भर में क्या
अकरणीय किया ओर
क्या करणीय नही किया- इसका
लेखा-जोखा भावी
सावधानी की दृष्टि से
जरूर लगाया जाय।

{1834}

समता-साधक का
बाह्य जीवन भी समता
प्रसार में नियोजित हो जिसके प्रभाव
से सभी क्षेत्रो में समता के
लिये चाह गहरी बनें।

{1835}

स्वानुभूति की
सजग दशा में होने वाला
स्वाध्याय नये-नये चिन्तन व मनन
तथा उसके फलस्वरूप नई
मौलिकता को जन्म
देने वाला होगा।

{1836}

सामान्य रूप से समाज
में बहुसंख्यक ऐसे लोग होते
हैं, जिनका विवेक वांछित सीमा से
नीचा होता और जो अपने ही अनुशासन को
समझने, कायम करने तथा
उसका पालन करने की क्षमता
से हीन होते हैं।

{1837}

समता साम्यता
या समानता मानव
जीवन एवं मानव
समाज का शाश्वत
दर्शन है।

{1838}

प्रत्येक विचार
एवं प्रत्येक कार्य की
कसौटी जब स्वयं की ही
अन्तर्चेतना बन जाय
तब खरेपन की जांच हर समय
होती रहती है।

{1839}

जितनी
अधिक गंभीरता
बढ़ेगी, उतनी ही
उपलब्धि भी महत्वपूर्ण
होगी।

{1840}

आत्मा का
मौलिक रूप संसार
की समस्त वस्तुओं से
विलक्षण है।

{1841}

त्याग को जीवन का
उत्थान मार्ग इसलिये बताया
गया है कि जीवन विषमता के
इस तट से साधना की नदी पार
करके समता के दूसरें तट
पर पहुंच जाय।

{1842}

लोकहित की
सतत चेष्टा नहीं हो तो
आत्मवत् सर्व भूतेषू का
अनुभाव भी कार्य रूप
नही ले सकता है।

{1843}

स्पष्ट स्वानुभूति
की दशा में पतन की
आशंका एकदम
घट
जाती है।

{1844}

कषाय
प्रमुख रूप से
आत्म–गुणों का
घात करने
वाली है।

{1845}

यदि संस्कार त्याग की
आधारशिला पर निर्मित हुये
तो वे संसार को भी स्वर्ग वनाने का प्रयास
करेंगे तथा यदि वे वैराग्य की दिशा मे मुड
गये तो आध्यात्मिकता का निर्मल प्रकाश
विखेरे विना नही रहेगे।

{1846}

स्वहित की संज्ञा का सही
मोड हो तो वह परहित के साथ वलिदान वाद
में भी करे किन्तु संतुलन करना तो जल्दी ही
सीख लेगी, और संतुलन की वृत्ति से ही
व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन का
स्वास्थ्य वहुत कुछ सुधर जायेगा।

{1847}

व्रह्मचर्य का
तेज समता साधना
में परम सहायक
होगा।

{1848}

विचारों में समता,
वाणी में समता तथा आचरण
में समता-तभी कर्मण्यता के मार्ग पर
साधक के चरण तेजी से और मजवूती
से आगे बढते है।

{1849}

जेसे सूर्य के वीच
में वादल आकर उसके तेज
को ढक लेते हैं उसी तरह कर्म के
आवरण आत्मा के अनन्त
तेज को ढक लेते हे।

{1850}

"दृष्टि दर्शन" के
अनुसार सामान्य अवबोध
दर्शन शक्ति को अवरूद्ध
करने वाला कर्म। इस आवरण के
कारण आत्मा वस्तु के
सामान्य अवबोध से
वंचित रहती है।

{1851}

जैसा व्यवहार मन,
वचन, काया से दूसरों के
साथ किया जायेगा,
वैसा ही प्रतिफल यह
कर्म करने वाले को भी देता है।

{1852}

मनुष्यता का अस्तित्व
सदा अक्षुण्ण बना रहेगा।
उसका अस्तित्व मात्र ही न बना
रहे, बल्कि समता के समरस स्वरों में ढल कर
मनुष्यता का आदर्श स्वरूप प्रकाशित हो-
इसके लिये क्रान्ति की आवाज उठाने की
नितान्त आवश्यकता है।

{1853}

रक्त के
सम्बन्ध से भी
भावना की शक्ति
बडी होती है।

{1854}
जीव और अजीव
के सम्मिश्रण से समस्त जीवधारी
दिखाई देते हैं
तथा अजीव के बंधन से
ही जीवधारी अजीव तत्वों की
ओर आकर्षित
हो जाते हैं।
{1885}
जब मानव अपना
निश्चित मानस बनाकर
अज्ञान से लड लेता है तो
ज्ञान का सूरज भी उगा कर
रहता है।
{1856}
कषाय विष
को बढाती है और जीवन
के हर पल और पहलु में
राग एवं द्वेष के कुत्सित
भाव
को भरती है।
{1857}
समाज के अन्य क्षेत्रों में
भी समता पाने की भूख तेजी से
बढती जा रही है और हर आदमी
के मन में स्वाभिमान मात्र रहा है जो उसे
समता कायम करने की दिशा
में सशक्त भी बना रहा है।
{1858}
सम्पन्नों एवं
अभावग्रस्तों के बीच की खाई को
जितनी तेजी से पाटी जा
सकेगी-दोनों के बीच समानता भी
उतनी ही
हार्दिकता से बढेगी।
{1859}
समता की रक्षा
के लिये महापुरुषों ने
किसी भी बलिदान को
कभी भी बडा नही समझा।
सर्वस्व-त्याग उनका
आदर्श बिन्दु रहा ।
{1860}
अपने आप
को नियन्त्रित का अभिप्राय
ही यह है
कि अपने विकारों को
विषय एवं कषाय को
नियन्त्रित करो।
{1861}
यह सत्य हे कि मानव-मन
के मूल में समता की प्रवल चाह
रमी हुई है। वह भूलता हे, गिरता ह किन्तु जव
भी थोडी वहुत चेतना पाता ह
तो हर तरह से समता लाने
का प्रयत्न करने लगता ह।

{1862}

आज जव क्रान्ति की
आवाज उठाने की वात कही जाती
है तो उसका सरल अभिप्राय यही लिया जाना
चाहिये कि विषमता से विकृत जो जीवन प्रणाली
चल रही है, उसे मिटाकर उसके स्थान पर ऐसी
समतामय जीवन प्रणाली प्रारंभ की जाय जिससे
समाज में सहानुभूति, सहयोग एवं
सरलता की गंगा वह चले।

{1863}

यह ध्रव सत्य
है कि मनुष्य अपने
जीवन में गिरता, वदलता
ओर उठता रहेगा, किंतु समूचे
तोर पर मनुष्यता कभी भी
समाप्त नही
हो सकेगी।

{1864}

समता जव जीवन में
उतरती है तो वह चिकने
विकारों का शयन भी करती है तो
सम्पूर्ण जीवन धारियों के बीच समत्व
की भावना की स्थित
का भी निर्माण करती है।

{1865}

सम्यक्त्व धारण
करने पर व्रती वना जाय
और उसके वाद श्रावकत्व से साधुत्व
की ऊँची सरणियों में चढते हुऐं मोक्ष
की मंजिल तक पहुंचा जा सकता है।

{1866}

अहिंसा परहित पर
आघात नही होने देगी,
संयम, स्वार्थ को कभी ऊपर
नही उठने देगा तो तप, स्वार्थ के
सूक्ष्म अवशेषों को भी
नष्ट कर देगा।

{1867}

जो आत्मनियंत्रण
करना सीख जाता है, वही
तो संयमी कहलाता है और जो
संयमी है, वह समता को अपने
जीवन में ऊँचा से ऊँचा
स्थान अवश्य देगा।

{1868}

जब कोई दूसरा अपने
स्वार्थ से टकराता है तो क्रोध
आता है, उस टकराव को मिटाने
के लिये माया का सहारा लिया जाता है। जब
अपना स्वार्थ जीत जाता है तो मान बढ जाता है
और स्वार्थ लोभ को
तो छोडता ही कहॉ है ?

{1869}

मानव जाति ने
ऐसी-ऐसी विभूतियों
को जन्म दिया है,जिन्होंने
समता के प्रकाशस्तंभ
बन कर जीवन आदर्शो
एवं मूल्यों की
स्थापना की।

{1870}

किसी के लिये
जितने बाहरी नियंत्रण
की आवश्यकता होती है-
यह समझा जाय कि वह अभी
उतना ही अधिक अविकास की
स्थिति में
पडा हुआ है।

{1871}

अहिंसा, संयम
एवं तप की आराधना
वही कर सकता है जो निज पर
नियंत्रण करना
सीख जाता है।

{1872}

विषय और
कषाय का मूलतः
फैलावा विषमता के
कारण होता है।

{1879}

आग में न तपाया
जाय तो सोने की पक्की
परीक्षा न हो सकेगी,उसी प्रकार एक चरित्र-
साधक को यदि कठिन कठिनाइयों का सामना
न करना पडे तो उसकी
साधना भी कसौटी पर खरी
नही उतरेगी।

{1874}

स्वार्थो को
समेटो और आत्मीयता
को फैलाओं यह एक आत्मदर्शी
का नारा ही नही,
आचरण का सहारा
होना चाहिये।

{1875}

आत्म-दर्शन से
परमात्म दर्शन तक
की यात्रा की पूर्णाहुति चिन्तन
एवं कार्य शैली पर आधारित
रहती है।

{1876}

आत्म
नियत्रंण का तात्पर्य
गुणवृद्धि और गुणवृद्धि का
तात्पर्य समतामय
जीवन होना ही
चाहिये।

{1877}

एक वार मुनष्य को,
भेडिया वनाने वाले वातावरण
को वदल दिया गया तो वह संभव
हो सकेगा कि समूचे समाज को सामान्य
नेतिकता के धरातल
पर खडा किया जा सके।

{1878}

सम्यक् ज्ञान और सम्यक् दर्शन की तुलना में सम्यक् चारित्र स्वयं ही अधिक कठिन होता है और जब आचरण मे विविध प्रकार की कठिनाइयाँ सामने आती हे एवं उस आचरण की स्वस्थ्य प्रक्रिया को भ्रष्ट करना चाहती हे तब जो अडिग रहता है, वह जीवन की ऊँचाइयो मे विहार करता जाता है किन्तु जो उनके सामने झुक जाता है हार जाता है, वह अपनी सम्पूर्ण साधना को भी मिट्टी में मिला देता है।

{1879}

आत्म नियन्त्रण का अर्थ है – धर्म की ओर गतिशील होना।

{1880}

मनुष्य की कम से कम ऐसी वृत्ति तो पूरी तरह ढल ही जाय कि वह स्व–हित एवं परहित को संघर्ष में न डाले। वह दोनों के बीच समाज के सभी क्षेत्रों मे सन्तुलन स्थापित कर सके।

{1881}

जो जितना अधिक आत्म–नियंत्रण की दिशा में आगे बढ़ता है–यह मापदण्ड है कि वह उतना ही अधिक विवेक एवं विकास की सुदृढ़ता को प्राप्त करता है।

{1882}

मोह–वृत्ति सबसे अधिक चिकनी होती है जो चैतन्य को न तो स्वरूप बोध की और उन्मुख होने देती है और न स्वरूपाचरण की ओर।

{1883}

मोह की प्रबलता इतनी मानी गई है कि अकेला मोह छूट जाय तो सारे कर्मों का वृक्ष हिल उठेगा और गिर जायेगा।

{1884}

समता की दार्शनिक एवं सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि समझने एवं मानने के बाद जब उस पर क्रियान्वयन किया जायगा तब देश,काल के अनुसार अवश्य ही कई तरह की व्यवहारिक कठिनाइयाँ सामने आवेगी और उनका यदि सही मुकाबला हुआ तो विषमता की स्थितियां नष्ट होती हुई चली जायेगी और ये थपेड़े वैसी अवस्था में मनुष्य के मुख को समता की ओर सोत्साह मोड देगे।

{1885}

आत्मदर्शी को निरन्तर स्वाध्याय की आदत बनानी चाहिये और वह स्वाध्याय भी सत्साहित्य का हो।

{1886}

कर्म का सीधा
अर्थ है कार्य। कार्य
जो किया जा चुका है, वह फल
अवश्य देता है–
जैसा काम वैसा फल।

{1887}

आत्मा ही जब
अपने पूर्ण समतामय लक्ष्य
तक पहुंच जाती है, तब वही
परमात्म स्वरूप धारण कर
लेती है।

{1888}

आत्म दर्शन
की आखिरी
मंजिल है आत्म
विसर्जन ।

{1889}

परमात्मा ऐसी कोई
शक्ति नहीं, जो प्रारम्भ से
परमात्मा रही हो अथवा जिसने
इस संसार की रचना की हो ।
नर से नारायण और आत्मा से परमात्मा –
यही प्रकृति का प्राकृतिक
विकास–क्रम होता है।

{1890}

अच्छा और
भला काम पहिचाना
जाता है खुद की
महसूसगिरी पर । जो
सुधर कर पैनी बन
चुकी है।

{1891}

अन्तर की
आवाज के निर्देशन में
चलते रहे तो कही भी भूल हो
जाय– इसकी संभावना
नही रहती है।

{1892}

आदर्श
चिन्तन वर्षों और
युगों के मार्ग को
घडियों में तय कर
सकता है।

{1893}

किसी वस्तुस्वरूप का
ज्ञान होना सरल है किन्तु
सम्यक् ज्ञान होना कठिन हैं और उससे भी
अधिक कठिन होता है उस ज्ञान
को अड़िग रूप से
व्यवहार में लाना।

{1894}

सामाजिक जीवन की
आज की प्रणालियो मे पूजीवाद
भी है तो समाजवाद या साम्यवाद
भी है, किन्तु किसी भी एक प्रणाली के प्रति
दुराग्रह या आग्रह भी बन
जाय तो वह साध्य की स्थिति
को अस्पष्ट बना देता है।

{1895

कोई भी
विकास और विकास
का चरम बिन्दु इस
आत्मा की पहुंच से
बाहर नही है।

{1896}

मान के स्थान पर
नम्रता, माया के स्थान पर सरलता
और लोभ के स्थान पर त्याग के
संस्कारों को समता पुष्ट बनाती है तो
समता विषय–भाव के
स्थान पर संयम
की लौ भी लगाती है।

{1897}

जो अपना है उस पर
राग और जो अपना व
अपनों का विरोधी है उस पर द्वेष।
इन्हीं वृत्तियों में जीवन
अधिकांशतः लुढकता रहता है
और जीवन के हर पहलु में
विषमता भरता रहता है।

{1898}

कर्म–बंधन हर
कदम पर विषमता
बढ़ाते हैं तो इन्हें काटना
व रोकना समता की दिशा
में जीवन को
अग्रसर बनाना है।

{1899}

विषमता के थपेड़ों
से गुणों की भूमिका
समाप्त होती जाती है एवं चारों
और दुर्गुणों को बढावा
मिलने लगता है।

{1900}

मानव समाज का अन्तिम
उद्देश्य यही हो सकता है कि मानव स्वार्थ के
पशुत्व को छोड़कर मानवता का वरण करें
और उससे भी आगे त्याग एवं बलिदान के
पथ पर बढ़कर समता के
चरम आदर्श तक पहुंचे
एवं दैवत्व को धारण करें।

{1901}

जो जितना
शरीर–सुख की लालसा में
दौड़ता है, वह उतना ही
विषमता के अंधकार में
भटकता है।

{1902}

जीवन दो, रक्षा करो तो जीवन में आयु की लम्बाई मिलती है। दूसरों को मारो तो आप कहाँ मार से बच सकोगें।

{1903}

व्यक्ति समूह का अंग होता है तो समाज होता है। व्यक्ति-व्यक्ति का समुच्चय रूप।

{1904}

असंभव शब्द मानव जीवन के शब्दकोष में कही भी नही है।

{1905}

समता का मार्ग ही यह है कि सारी आत्माओं में भव्यता होने पर समान विकास की शक्ति रही हुई है- यह दूसरी बात है कि उनमें से कई आत्माएँ उस शक्ति को प्रस्फुटित ही न करें अथवा सही विकास की दिशा में अग्रसर न हो।

{1906}

मोह जीवन की सम्पूर्ण विषमता की जड रूप होता हे। मुख्यतया मोह के कारण ही राग ओर द्वेष की वृत्तियाँ वनती हे।

{1907}

आत्मा एवं परमात्मा के अंतर को यदि एक ही शब्द में वताया जाय तो वह हे विपमता।

{1908}

कायर के लिये सव कुछ असंभव ह, किंतु साहसी के लिये कुछ भी असंभव नही ह।

{1909}

ज्ञान विकास का मार्ग दिखाता ह, दर्शन उसमें विश्वास पेदा करता हे तथा कर्म उस मार्ग पर अडिग होकर चलता ह, तभी सच्चे विकास की यात्रा आरम्भ होती ह। प्रकाशपूर्ण विकास के अंतिम छोर का नाम ही मुक्ति ह ।

{1910}

प्रत्येक जीवन में स्वरक्षा
का भाव हो - यह स्वाभाविक
नही है किन्तु यह भाव अन्य जीवनों के साथ
रलमिल कर त्याग एवं वलिदान के ऊँचे
स्तरों तक पहुँचे -
यह मानव-जीवन एवं मानव समाज का
सतत प्रयास होना चाहिये।

{1911}

जिसको जो
प्राप्त नही है, उसे जव
वह चुपके से ले लेना
चाहता है तव
उसे चोरी करना
कहते हं।

{1912}

जव जीवन में
दुर्गुणों का फैलाव हो
जाता है तो वह मिथ्यात्व के
वात्यचक्र मे टकराता रहता है
और पतन की राह पर
बढता जाता है।

{1913}

जीवन में जिन
संस्कारों का सामान्यतया निर्माण
होता है, उन्ही की पृष्ठभूमि पर
संसार का जीवन भी चलता हे
और वैराग्य का जीवन
भी बनता है।

{1914}

लेना छोडकर देना
सीखें तो उसके साथ
सहानुभूति सौहार्द्र, सहयोग
एवं स्नेह की जो मधुर धारा प्रवाहित
होगी वह स्व-पर जीवन
को श्रेष्ठता का
पथगामी बना देगी।

{1915}

त्याग न सिर्फ
त्यागी के जीवन में एक
नया उर्ध्वगामी परिवर्तन लाता है,
बल्कि अपने चारों ओर के वातावरण
में भी जागृति
का मंत्र फूंकता है।

{1916}

यदि हमें विषमता से
दूर हटते हुए समता के मार्ग
पर आगे बढना है तो वे उपाय अवश्य ही
खोज निकालनें होंगे जिनके द्वारा स्थायी
रूप से स्वार्थ के मदोन्मत हाथी पर कडा
अकुंश लगाया जा सके।

{1917}

सम्पत्ति और
विपत्ति में जब अनुभूति की
एकरूपता आती है तो
वेदनीय कर्म
कटने लगता है।

{1918}

जितना मोह
ज्यादा, उतनी ही
मन की विषमता ज्यादा। मन
विषम तो वचन विषम और
तब कार्य भी विषम
ही बनता है।

{1919}

भोग मिलते हैं
किन्तु मिले हुये भोगों
को भी भावनापूर्वक छोड़ देना–
इसी में त्याग की
विशेषता रही हुई है।

{1920}

इंसान और
भगवान् की
समता का मूल
अवरोध है कर्म।

{1921}

"अप्पा सो परमप्पा" का
सिद्धान्त भेद को भूलाकर
प्रत्येक ऊँची–नीची आत्मा में आस्था स्थापित
करता है तथा उसमें उच्चतम
विकास पूरा कर लेने की
अटूट प्रेरणा भरता है।

{1922}

समता के सर्वोच्च
रूप की उपलब्धि सरल
नही है किन्तु यह प्रत्येक
विकासोन्मुख जीवन के
लिये साध्य अवश्य है।

{1923}

गति और
जाति मे भी ऊँचा
या नीचा स्थान दिलाने
वाला गौत्र कर्म
होता है।

{1924}

साहस
और पराक्रम पैदा
होगा विषमता
काटने से,
समता लाने से।

{1925}

समता की दृष्टि से
विकास का भेद नही हैं, कर्म
का भेद हो सकता है और जो
जितना व जैसा कर्म करता है,
वह वैसा व उतना विकास भी
प्राप्त कर लेता है।

{1926}

समता, कषाय को काटती है, सरलता लाती है वह मनुष्य को विषम से हटाकर विराग की ओर मोडती है तो जीवन को भोग से हटाकर त्याग की दिशा में गतिशील बना देती है।

{1927}

बाधा डालने से बाधा पैदा होती है तो दूसरों की बाधाएँ हटाने से अपनी भी बाधाएँ हटती है।

{1928}

आत्मा के स्वरूप पर जो विषय और कषाय की कालिख तथा क्रोध, मान, माया लोभ की मलिनता चढी होती है– समता सीधा उन पर अपना असर करती है।

{1929}

परम पद की ओर गतिशील समतामयी आत्मा ही अपनी सम्पूर्ण मलिनता मुक्ति के साथ परमात्मा के स्वरूप का वरण करती है।

{1930}

ऐसा कोई विकास नही होता जो सीधा आसमान से गिरता हो। प्रत्येक विकास धरती से शुरू होता है। अविकास से आरम्भ होता है।

{1931}

विषमता के अंधरे में जब यह आत्मा भटकती रहती है, तब इसकी एसी दीन–हीन अवस्था दिखाई देती है जैसे वह तेजहीन और प्रभावहीन हो।

{1932}

आत्म नियन्त्रण की स्थिति में भी जब कमजोरी के क्षण आते हैं और फिसलने का खतरा पैदा हो जाता है, तब भी सामाजिक नियन्त्रण ही मनुष्य के स्वार्थ को आक्रामक बनने से रोक सकता है।

{1933}

सत्पुरुषार्थ करने पर भी जो कार्य – सिद्ध नही होता है, उसका कारण अन्तराय कर्म होता है।

{1934}

साध्य जब
निन्तर सम्मुख रहे
और चरण उसी दिशा में
बढ़ते रहें तो देर सबेर
ही सही साध्य की
उपलब्धि होकर रहेगी।

{1935}

लोभ की
ऊपर की मात्रा हटा
दीजिये—फिर लाभ ही
लाभ है। लोभ काटें
तो लाभ मिलेगा।

{1936}

जिस मार्ग
पर चलकर इन
कर्मरूपी शत्रुओं से लड़ा
जाता है, वही कर्मण्यता
का मार्ग कहलाता है।

{1937}

कोई भी दर्शन कितना
ही श्रेष्ठ क्यों न हो — किन्तु
यदि उससे उसके आचरण की
सजीव प्रेरणा नही जागती हैं तो
उस दर्शन की श्रेष्ठता भी तब
तक उपयोगी नहीं बन सकेगी।

{1938}

जब ज्ञान अपने
तेजस्वी स्वरूप को
कर्मठ क्रिया में प्रकट
करता है, तभी तो विचार मुक्ति
की सबल पृष्ठभूमि का
भी निर्माण किया
जा सकता है।

{1939}

जिसने
अपना छोडा है, उसे
सदा एवं सर्वत्र लोगो
ने अपने सिर पर
उठाया है।

{1940}

जहाँ त्याग
है, वहाँ विषमता
पास मे भी फटक नही
सकती। जितना लोभ है,
उतना ही क्षोभ है।

{1941}

समता वृत्ति के इतिहास
पर भी यदि एक दृष्टि डाले तो विदित
होगा कि समतामय जीवन के व्यवहार रूप
मे अपनाने के बीच मे व्यक्तिगत एव
समाजगत बाधाओं का आरपार नही रहता।

{1926}

समता, कषाय को
काटती है, सरलता लाती
है वह मनुष्य को विषम से
हटाकर विराग की ओर मोडती हे
तो जीवन को भोग से हटाकर
त्याग की दिशा में गतिशील बना देती है।

{1927}

बाधा डालने
से बाधा पैदा होती हे
तो दूसरों की बाधाएं
हटाने से अपनी भी
बाधाएं हटती है।

{1928}

आत्मा के स्वरूप
पर जो विषय और कषाय
की कालिख तथा क्रोध, मान, माया
लोभ की मलिनता चढी होती है—
समता सीधा उन पर
अपना असर करती है।

{1929}

परम पद की ओर
गतिशील समतामयी
आत्मा ही अपनी सम्पूर्ण मलिनता
मुक्ति के साथ परमात्मा
के स्वरूप का
वरण करती है।

{1930}

ऐसा कोई विकास
नहीं होता जो सीधा
आसमान से गिरता हो। प्रत्येक
विकास धरती से शुरू होता है।
अविकास से आरम्भ होता है।

{1931}

विषमता के अंधरे में
जब यह आत्मा भटकती
रहती है, तब इसकी एसी दीन—हीन
अवस्था दिखाई देती है
जैसे वह तेजहीन और
प्रभावहीन हो।

{1932}

आत्म नियन्त्रण की
स्थिति में भी जब कमजोरी
के क्षण आते हैं और फिसलने का खतरा
पैदा हो जाता है, तब भी सामाजिक
नियन्त्रण ही मनुष्य के स्वार्थ को आक्रामक
बनने से रोक सकता है।

{1933}

सत्पुरुषार्थ करने
पर भी जो कार्य —
सिद्ध नहीं होता है,
उसका कारण
अन्तराय कर्म होता है।

{1934}

साध्य जब
निन्तर सम्मुख रहे
और चरण उसी दिशा में
बढते रहें तो देर सबेर
ही सही साध्य की
उपलब्धि होकर रहेगी।

{1935}

लोभ की
ऊपर की मात्रा हटा
दीजिये–फिर लाभ ही
लाभ है। लोभ काटें
तो लाभ मिलेगा।

{1936}

जिस मार्ग
पर चलकर इन
कर्मरूपी शत्रुओं से लड़ा
जाता है, वही कर्मण्यता
का मार्ग कहलाता है।

{1937}

कोई भी दर्शन कितना
ही श्रेष्ठ क्यों न हो – किन्तु
यदि उससे उसके आचरण की
सजीव प्रेरणा नही जागती हैं तो
उस दर्शन की श्रेष्ठता भी तब
तक उपयोगी नहीं बन सकेगी।

{1938}

जब ज्ञान अपने
तेजस्वी स्वरूप को
कर्मठ क्रिया में प्रकट
करता है, तभी तो विचार मुक्ति
की सबल पृष्ठभूमि का
भी निर्माण किया
जा सकता है।

{1939}

जिसने
अपना छोड़ा है, उसे
सदा एवं सर्वत्र लोगों
ने अपने सिर पर
उठाया है।

{1940}

जहॉ त्याग
है, वहॉ विषमता
पास में भी फटक नही
सकती। जितना लोभ है,
उतना ही क्षोभ है।

{1941}

समता वृत्ति के इतिहास
पर भी यदि एक दृष्टि डालें तो विदित
होगा कि समतामय जीवन के व्यवहार रूप
में अपनाने के बीच में व्यक्तिगत एवं
समाजगत बाधाओं का आरपार नही रहता।

{1942}

सावद्य की निवृति के साथ
ही समता को मजबूत बनाकर
मन को वे निर्देश व आदेश दिये
जाय कि अब मुझे कम से कम इस अड़तालीस
मिनिट की सामायिक
साधना में इधर–उधर भटकना नही
है, निश्चित उपस्थित रहना है।

{1943}

समता का
स्वरूप जितना ऊपर उठता
है, आत्मा का स्वरूप
उतना ही समुज्जवल
होता जाता है।

{1944}

समतामयी आत्म
शक्तियॉ न स्वयं उस आत्मा
के विकास को प्रदर्शित करती हैं,
बल्कि समाज को समुच्चय रूप में भी
विकास की ओर प्रेरित बनाती है।

{1945}

यह जन्म यदि अपने
समूचे रूप में उपर उठ
जाता है तो फिर आने वाले जन्म
स्वतः ही उठ जायेंगे –
परमात्म पद की ओर आगे बढ़ेगें
यह सुनिश्चित है।

{1946}

जो जाना है और
जिसे जानकर अच्छा
समझता है, उसको अगर कार्य रूप
नही दिया तो वह जानना
महत्वपूर्ण एवं सार्थक
नही बन सकता है।

{1947}

समता की
दार्शनिक पृष्ठभूमि तभी
सार्थक मानी जायेगी तब वह
व्यवहार के थपेड़ों में भी अपने आप
को अपरूप न बनाकर अपनी
उपयोगिता प्रमाणित
करती रहें।

{1948}

सामायिक का निषेधात्मक
पक्ष बाह्य रूप से तो साध लिया
जाता है – सावध योगों को त्याग
कर। पर विधि पक्ष समता –साधना को
क्रियावन्वित रूप देना ही हमारा
मूल उद्देश्य होना चाहिये।

{1949}

अनाचारित ज्ञान
और अज्ञानूपर्ण
क्रिया दोनों जीवन के
वास्तविक उत्थान के लिये
निरर्थक है।

{1950}

जहाँ तक
विषमता बढ़ती रहेगी–
स्वार्थ सर्वोपरी बना रहेगा और
ऐसी मनः स्थिति में परहित का
भाव ही नहीं उठ सकता है।

{1951}

आत्म–दर्शन की
मूलगत भावना ही यह
होनी चाहिये कि वह अपने
निजी स्वार्थों के संकुचित
घेरों को तोड़ दे।

{1952}

आत्मीयता–स्नेह
समूचे विश्व को
बांध लेती है।

{1953}

समाज में जिस वर्ग
के स्वार्थ किसी तरह निहित
हो जाते हैं – वह वर्ग अपने स्वार्थों
की रक्षा के अन्वेपन में सदैव विषमता का
प्रसार करता रहा है और सचमुच
यही वर्ग समता का कट्टर
शत्रु बन जाता है।

{1954}

समता पहले
सन्तुलन को पनपाती
है तो उसका विकसित रूप
स्वहित के त्याग में
प्रस्फुटित होता है।

{1955}

छोटे–बड़े
प्रत्येक जीवन में
आरम्भ से ही स्वहित
की संज्ञा का उदय
हो जाता है।

{1956}

जितना
अपने ही स्वार्थों का
ख्याल है, उतना
ही विषमता को
गले लगाना है।

{1957}

अपना स्वार्थ है तो
सब है दूसरों के हित की
ओर दृष्टि तक न मुड़े । ऐसी
प्रवृति गहन विषमता को जन्म देती
है और समता की जड़ों को
मूल से ही काटती है।

{1958}
अपना हित भी आदमी
देखे किन्तु उसी लगन से दूसरों
के हित के लिये भी वह तत्पर रहे। अपने
और दूसरों के हितों को इतना सन्तुलित बना
दे कि कहीं उनके बीच टकराव का मौका न
आवें। यही समता की दिशा है।
{1959}
लोकोपकारी
वही बन सकता
है जो अपने स्वार्थों
को तिलांजली दे
देता है।
{1960}
यदि मनुष्य की
स्वार्थ वृति पर उसका
स्वेच्छिक एवं सामाजिक नियत्रंण
उपयुक्त मात्रा में स्थापित न हो तो
वह सचमुच में भेड़िया
हो सकता है।
{1961}
अगर मनुष्य को
अपने ही स्वार्थ पूरे करने
की खुली छुट हो तो कहा नही जा
सकता कि वह इस स्वार्थ के पीछे
अपने–आपको कितना अन्यायी
अत्याचारी एवं
निर्दयी न बना ले।
{1962}
स्वार्थ को व्यक्ति
एवं समाज के सुनियत्रंण
की बोतल में रहने दे तो इस दैत्य
का आकार बहुत छोटा भी रहेगा और
खतरनाक भी नही होगा।
{1963}
स्वार्थ समस्त,
वायुमण्डल में इस तरह
छाया हुआ है कि जैसे जो भी सांस
लेता है– स्वार्थ का असर कम–ज्यादा
उस पर पड ही जाता है।
जब यह लगता है अपनाया
हुआ साधन साध्य तक पहुँचाने
में अक्षम बनता जा रहा है तो तुरन्त साधन
में यथोचित परिवर्तन कर लेने में कोइ
संकोच नही होगा । तब
साध्य की तरफ ही सजग
दृष्टि बनी रहेगी।
{1964}
अच्छा और
भला काम किया
जाय, जिससे शुभ
फल मिले।
{1965}

{1966}
समाज में राजनीति,
अर्थनीति, परम्पराओं एवं
प्रक्रियाओं का गठन इस रूप में
किया जाय कि वह गहन
नियंत्रक भी हो तथा
प्रेरक भी हो।
{1967}
परहित के
लिये स्वहित का
बलिदान कर देना
महान् पुरुषों का
लक्षण है।
{1968}
शरीर में
रहा हुआ सबसे
बडा शत्रु प्रमाद
होता है।
{1969}
शास्त्रीय शब्दों को याद
कर लेना एक बात है और
उसके अर्थ में अवगाहन करते
हुये अपनी आचरण भूमि को
सम्यक् बनाना, आत्म गुणों में अपने
आपको रमण कराना दूसरी बात है।
{1970}
जो एक बार
आत्म-नियंत्रण के
महत्व को समझ जाता
है, वह फिर आत्म-विकास के
सच्चे मार्ग को भी
ढूंढ लेता है।
{1971}
विषमता नये-नये
जटिल रूपों में ढ़लती
हुई सामाजिक जीवन को
पग-पग पर काटती
जा रही है।
{1972}
जहॉं चौर्य्य
वृति है, वहॉं
अवश्य कायरता
मिलेगी।
{1973}
आपकी आत्मा ऐसी
वीर बने कि पैसों से, भौतिकता
से, आसक्ति छोड संवेग की स्थिति
से मोक्ष प्राप्ति के लिए तीव्र अभिलाषी
बनकर आध्यात्मिकता की ओर
अग्रसर हो जाय।

{1958}
अपना हित भी आदमी
देखे किन्तु उसी लगन से दूसरों
के हित के लिये भी वह तत्पर रहे। अपने
और दूसरों के हितों को इतना सन्तुलित बना
दे कि कही उनके बीच टकराव का मोका न
आवें। यही समता की दिशा हे।
{1959}
लोकोपकारी
वही बन सकता
हे जो अपने स्वार्थों
को तिलांजली दे
देता हे।
{1960}
यदि मनुष्य की
स्वार्थ वृति पर उसका
स्वेच्छिक एवं सामाजिक नियत्रंण
उपयुक्त मात्रा में स्थापित न हो तो
वह सचमुच में भेड़िया
हो सकता है।
{1961}
अगर मनुष्य को
अपने ही स्वार्थ पूरे करने
की खुली छुट हो तो कहा नही जा
सकता कि वह इस स्वार्थ के पीछे
अपने—आपको कितना अन्यायी
अत्याचारी एवं
निर्दयी न बना ले।
{1962}
स्वार्थ को व्यक्ति
एवं समाज के सुनियत्रंण
की बोतल में रहने दे तो इस दैत्य
का आकार बहुत छोटा भी रहेगा और
खतरनाक भी नही होगा।
{1963}
स्वार्थ समस्त,
वायुमण्डल में इस तरह
छाया हुआ है कि जैसे जो भी सांस
लेता है— स्वार्थ का असर कम—ज्यादा
उस पर पड़ ही जाता है।
{1964}
जब यह लगता है अपनाया
हुआ साधन साध्य तक पहुॅचाने
में अक्षम बनता जा रहा है तो तुरन्त साधन
में यथोचित परिवर्तन कर लेने में कोइ
संकोच नही होगा । तब
साध्य की तरफ ही सजग
दृष्टि बनी रहेगी।
{1965}
अच्छा और
भला काम किया
जाय, जिससे शुभ
फल मिले।

{1966}

समाज में राजनीति,
अर्थनीति, परम्पराओं एवं
प्रक्रियाओं का गठन इस रूप में
किया जाय कि वह गहन
नियंत्रक भी हो तथा
प्रेरक भी हो।

{1967}

परहित के
लिये स्वहित का
वलिदान कर देना
महान् पुरुषों का
लक्षण है।

{1968}

शरीर में
रहा हुआ सवसे
वडा शत्रु प्रमाद
होता है।

{1969}

शास्त्रीय शब्दों को याद
कर लेना एक बात है और
उसके अर्थ में अवगाहन करते
हुये अपनी आचरण भूमि को
सम्यक् बनाना, आत्म गुणों में अपने
आपको रमण कराना दूसरी बात है।

{1970}

जो एक बार
आत्म-नियंत्रण के
महत्व को समझ जाता
है, वह फिर आत्म-विकास के
सच्चे मार्ग को भी
ढूंढ लेता है।

{1971}

विषमता नये-नये
जटिल रूपों में ढलती
हुई सामाजिक जीवन को
पग-पग पर काटती
जा रही है।

{1972}

जहॉं चौर्य्य
वृति है, वहॉं
अवश्य कायरता
मिलेगी।

{1973}

आपकी आत्मा ऐसी
वीर बने कि पैसों से, भौतिकता
से, आसक्ति छोड संवेग की स्थिति
से मोक्ष प्राप्ति के लिए तीव्र अभिलाषी
बनकर आध्यात्मिकता की ओर
अग्रसर हो जाय।

{1974}

वैज्ञानिक बाहर की
प्रयोग शाला में भौतिक तत्त्वो
के ही प्रयोग अनुसंधान करते है।
आपको आध्यात्मिक प्रयोग शाला
में बैठकर अभौतिक तत्त्वों के
प्रयोग अनुसंधान करने है।

{1975}

आत्मा के
मैल रहित होने
का अर्थ ही
परमात्म–स्वरूप
तक पहुंचना है।

{1976}

जितना परार्थ का
भाव दृढ़ बनेगा, उतने
ही अंशो मे समता के समरस
में आत्मा आनन्दमग्न
बनती जायेगी।

{1977}

राजनीति, अर्थ, एवं
अन्य पारम्परिक सम्बन्धों
को जब सामाजिक नियन्त्रण में
व्यवस्थित रूप से ले लेंगे तो इन क्षेत्रों
में व्यक्तिगत उद्दण्डता को
रोकी जा सकेगी।

{1978}

अत्यधिक संग्रह के
कारण अनेक प्रंसगो में
व्यक्ति को जन आक्रोश का शिकार
होना पडता है। उसकी जिन्दगी
और धन सम्पति
सदा संकट में रहती है।

{1979}

जैसे सुख दुःख
की अनुभूतियों का अनुभव
मैं कर रहा हूँ वैसे ही सभी
संसारी आत्मायें भी सुख दुःख की
अनुभूति करती
रहती हैं।

{1980}

इन्द्रियों की आसक्ति
में रत रहने वाली, भौतिक
तत्त्वों को ही महत्वपूर्ण समझकर
चलने वाली आत्मायें कभी भी
अपने आत्मिक स्वरूप
को निखार नही पाती हैं।

{1981}

आदर्श
समता, कर्मण्यता
के कठोर मार्ग पर चल
कर ही प्राप्त
की जा सकती
है।

{1982}

संसारी व्यक्ति
धन सम्प्रदा को ऋण रूप,
ग्रहण रूप मानता है परन्तु
वह धन उसके लिये
त्राण रूप नही होता।

{1983}

हमारे भीतर भी
महावीरत्व छिपा हुआ
है, किन्तु उसे सद्–प्रयत्नों से
संयम निष्ठ आचरण से
उजागर करना है।

{1984}

विचार मजबूत
तो
काम मजबूत।

{1985}

परिवर्तन की प्रक्रिया में ऐसी
समीक्षा यह जानने के लिए जरूरी
होती है कि किसी भी रूढ़ि के विषय में
सामान्य जन का अज्ञान कितना है तो किसी
विशिष्ट वर्ग का मायाचार कितना? इसी जानकारी
के आधार पर प्राणहीन रूढ़ि के विरूद्ध सफल
अभियान चलाया जा सकता है और क्रियाशील
विद्रोह जगाया जा सकता है।

{1986}

परिग्रह अनर्थों
का मूल है, अशान्ति
का कारण है, दुःख रूप
है, बन्धन रूप एवं पाप
का कारण है, दुर्गति
का हेतु है।

{1987}

माता का वीरत्व
भी बालक को विश्व विजयी
बना सकता है। क्योंकि
माता के संस्कारों का
प्रभाव संतति पर पड़ता है।

{1988}

जो
आत्म–सुख
की आवाज है,
वह समता का
पाथेय है।

{1989}

आतिशबाजी का हिंसक कार्य
तो किसी भी ऐसी आवश्यकता से
जुड़ा हुआ नही हैं जो अनिवार्य हो। इसके
विपरीत यह हिंसक शौक तो भौंडे और पीडादायक
मनोरंजन का निन्दनीय प्रतीक मात्र है। परिणामों
के साथ सोचें तो ऐसे निरर्थक मनोरंजन को
अपनाना या अपनाये रखना हास्यास्पद
बुद्धि का ही परिचय देता है।

{1990}

मुनष्य की चेतना और जागृति सदा शिथिल और सुपुप्त नही बनी रहती है और विकृतियो की अति देखकर फिर उनमें नया दोर आता है। वर्तमान समय को बारीकी रो देखें तो आपको प्रतीत होगा कि समाज मे प्रचलित सभी कुरीतियो के विरूद्ध इस समय में प्रवल प्रतिरोध जागृत है। आवश्यकता है प्रतिरोध को सही दिशा देने की अैर उसके वाद रीतियो मे शुभ भावनाओ की नई प्राण प्रतिष्ठा करने की। इस ओर समाज का रचनात्मक दृष्टिकोण वनना चाहिये।

{1991}

स्वहित-परहित में सन्तुलन वृति का जन्म ही समता की दिशा को उजागर करता हे।

{1992}

मानव अपने आपके भीतर जो आनंद की सृष्टि रही हुयी है उसी को समता पूर्वक देखने का प्रयास करने लग जाय तो उसे आनंद प्राप्त हो सकता है।

{1993}

साधना करने वालों को सवसे पहले व्यवहारिक जीवन को जीने के लिये अपना ध्यान व्यवहारिक कार्यो में केन्द्रित करना होता है।

{1994}

मन की सैकंडो वृतियां है अतः समीक्षण ध्यान साधक को मन के शुभ-अशुभ विचारों को जानने एवं समझने का प्रयास करना है।

{1995}

दुःखों में घबराये नही व सुखों में फूले नही । ऐसी समत्व साधना ही परमात्मा का स्वरूप प्राप्त करा सकती है।

{1996}

जीवन को दिव्य एवं भव्य बनाना मानव का प्रथम कर्त्तव्य है। उच्च आदर्श के अनुरूप विचार एवं आचार नितान्त आवश्यक है। मानसिक पवित्र भूमिका पर ही जीवन की दिव्य एवं भव्य फसल अंकुरित, पल्लवित, पुष्पित एवं फलित होती है। आन्तरिक धरातल पर जैसी भी जीवन की अवस्था बनाना चाहें, बन सकती है, इसमें कोई संदेह नही।

{1997}

पहला सुनियंत्रण तो स्वयं आत्मा का अपने उपर हो यही वास्तविक नियंत्रण भी है।

{1998}
पारिवारिक-
दायित्वों के निर्वहन
में भी कम से कम हिंसा
झूठ आदि अशुभ प्रवृतियों
का सहारा लें।
{1999}
श्रद्धा भाव के
साथ किया गया
प्रभुस्मरण हमारे सम्यक्
दर्शन को शुद्ध
बनाने वाला होता है।
{2000}
मनुष्यों
की आत्मा के
लिये मोह निकृष्टतम
विष है।
{2001}
उच्च भावना के साथ
यथाशक्ति भी दिया हुआ दान महान्
पुण्य का कारण बनता है। दान देने से लाभ ही
लाभ होता है इहलोक में भी और परलोक मे भी।
इसलिये मुक्तहस्त से दान देने की सद्वृत्ति का
विकास कीजिये और समाज के चहुँमुखी विकास मे
अपना सहयोग दीजिये।
{2002}
हे मन !
सम्यक् ज्ञान के
आलोक में मुझे यह
भान हो गया कि तु
तो मेरा अनुचर
नौकर है।
{2003}
अर्न्तयात्रा-
ध्यान साधना के
प्रारम्भ में ही हमें संकल्प
को सशक्त एवं सुदृढ
बनाना होता है।
{2004}
धन का
परिग्रह कभी भी
व्यक्ति को सुखी नही
बना सकता।
{2005}
मानव जीवन में महत्तम एक दान
होता है सर्वस्व दान। अपने पास जो कुछ
है, उस सब का मोह त्याग देना और उसका
दान कर देना अति विशिष्ट बात होती है।
विशिष्टता का वह उच्चतम शिखर होता है जब
इस शरीर और जीवन का भी श्रेष्ठतम प्रयोजन
हेतु बलिदान दे दिया जाता है। सर्वस्व दान
की शुभ भावना अतुलनीय होती है।

{2006}

यदि संसार सागर में वार-वार डूवना उतराना नही है ओर पार पहुँच कर मुक्त स्थली में विचरण करना है तो राग से विराग की ओर वढ़ना ही होगा क्योंकि राग छूटने से ही आत्म भाव जागेगा और त्याग की वृत्ति जन्म लेगी। प्रत्याख्यान से प्रारम्भ होने वाली इसी त्याग वृत्ति की उत्कृष्ट कोटि में पहुँच कर स्व-पर का कल्याण सम्पन्न किया जा सकेगा।

{2007}

वंधन की निर्मात्री आत्मा हे तो वंधन को तोडने वाली भी आत्मा हे।

{2008}

बोलने के साथ विवेक का जागरण हो जाय तो वह दो टुटे हुये दिलों को जोडने वाला बनता है।

{2009}

दुःखप्रद लगने वाली घटनाऐं समता के सहारे सुख प्रद वन जाया करती हे। व्यक्ति के विचारों का यह चमत्कार हे।

{2010}

राग-द्वेष, मोह-माया,छल-कपट के सभी आवरण टूट जाने के बाद उस चैतन्य के वचन अन्तर को छूने वाले बन जाते हैं।

{2011}

मशीन के कल पुर्जो की तरह इन्द्रियों व योगों के कलपुर्जो के घिसने के साथ-साथ नया प्रोडक्शन अर्थात् आत्म विकास का माल भी तैयार करते रहें।

{2012}

दान किसी भी प्रकार का हो, तथ्य यह है कि उसके साथ हार्दिकता का संयोग अनिवार्य है। हृदय की श्रद्धा हो या करूणा, भावना हो या संवेदना-तभी उदारता भी होती है, अन्यथा कोरा दान कल्याण की बजाय कई बार किसी न किसी रूप मे कदाचार का कारण हो जाता है। वह दान न होकर दान का दम्भ मात्र रह जाता है। इसलिये सच्चे दान के लिये धन के साथ हृदय का सुन्दर संगम होना ही चाहिये।

{2013}

क्रोध मान माया लोभ ये भव भवान्तरों के मूल को सिंचन करने वाले हैं।

{2014}

मोह, कपट
अथवा यश कीर्ति के
रंग से रंगीन होकर निकलने
वाले वचनों का प्रभाव
जैसा चाहिये
वैसा नही पड़ता।

{2015}

क्रोध कषाय
रूपी शत्रु का
दमनक्षमा भाव एवं
समता भाव से ही
हो सकेगा।

{2016}

परिपूर्ण समत्व
भाव का जागरण
हो जाने पर आत्मा
परिपूर्ण सामायिक
में रहती है।

{2017}

जैसे बिखरी हुई सूर्य की
किरणों से अग्नि उत्पन्न नही होती, परन्तु
कॉच को बीच में रखने से किरणें एकत्र हो जाती
हैं और उस कॉच के नीचे रूई रखने से आग
उत्पन्न हो जाती है। इसी तरह त्याग, तप से
इन्द्रियों और मन को एकत्र करने से आत्म
ज्योति प्रकट हो जाती है।

{2018}

भोजन, इन्द्रियों
की तृप्ति के लिये
नही वरन् ज्ञान दर्शन चारित्र
का सम्यक्
आराधन करने के लिये
किया जाय।

{2019}

स्वस्थ भावना के
प्रभाव में ही विषमता चारों
ओर प्रसरित होती
हुयी
देखी जाती है।

{2020}

वचन
मानव और
पशु में अन्तर
प्रकट करने वाले
होते हैं।

{2021}

साधु जीवन में सम्पूर्ण मृषावाद
एवं एकान्तवाद का त्याग होता है
तो श्रावक का त्याग स्थूल होता है कि वह मोटा
झूठ न बोले, झूठी साक्षी न दे, झूठा लेख या
लेखा न लिखे, झूठा आरोप न लगावे,
स्त्री पुरुष का मर्म प्रकाशित
न करें, न्यास का विश्वास न खोये
तथा झूठा उपदेश न दें।

{2022}

वन्दना की क्रिया का प्रथम और प्रधान प्रयोजन यह है कि इस दुर्जेय अहंकार पर अन्तिम विजय प्राप्त की जाय। विनय की आर्जवता और मार्दवता में जब शरीर के अंग प्रत्यंग या इन्द्रियाँ और मन ही नही डूब जाते हैं, बल्कि आत्मा का एक एक प्रदेश मृदुल बन जाता है तब अहंकार मन की वृत्ति में टिका हुआ रह जाय—यह सम्भव ही नही है। विनय का यह रूप वन्दना का प्राण होता है।

{2023}

मन में यदि पवित्रता आ जाय तो आत्मा में भी पवित्रता आ सकती है।

{2024}

काषायिक वृतियों का जब समग्र रूप से उन्मूलन हो जाता है तब चेतना की ज्ञानादि शक्तियां परिपूर्ण रूप से प्रकट हो जाती है।

{2025}

जितनी अधिक स्वार्थता बढ़ेगी उतनी ही विषमता अधिक जटिल बनती जायेगी । — यह स्वभाविक प्रवृति है।

{2026}

क्रोध तेज धार वाली तलवार के समान है। क्रोध अस्थायी पागलपन है। क्रोधी के स्वयं का जीवन स्वयं के लिये भार स्वरूप बन जाता है।

{2027}

अन्तर से अन्तर की बात उच्चारणात्मक नही होती वरन् चिन्तानात्मक होती है। समभाव में रमण करने वालों को उससे बढ़कर संसार का कोई सुख ही नजर नही आता।

{2028}

मूर्छा ही आत्मा की चेतना शक्ति को जड बनाकर उसे निर्वीर्य और निष्क्रिय बना देती है। चेतना शक्ति जितनी ज्यादा जड तत्त्वों के प्रति आकर्षित और आसक्त बनती है, उतनी ही ज्यादा उसकी जड़ग्रस्तता जटिल होती जाती है। जड़ के साथ सम्बद्ध होने पर जड़ग्रस्तता ही तो बढ़ेगी। यह बढ़ती हुई जड़ग्रस्तता ही आत्मा को अपने स्वरूप से पतित बनाती रहती है।

{2029}

धर्म ही एक ऐसा तत्व है जो मानव एवं पशु को विभक्त करता है।

{2030}

पांच इन्द्रियों
के सुचा में रमण
मानवीय जीवन को
अन्दर से खोखला
बना देता है।

{2030}

निरासक्त आत्म
साधना के द्वारा ही
परम स्वरूप को
प्राप्त किया जा सकता है।

{2032}

विनाशी
भोजन करके
अविनाशी आत्मा
की खोज करें।

{2033}

वर्तमान में धर्म साधना और
आत्म विकास के सत्पुरुषार्थ का
सुफल तुरन्त वर्तमान में पहले मिलता
है जीवन के श्रेष्ठ रूपान्तरण में तो निश्चय ही
वैसे सत्कार्य से पुण्य कर्मों का बंध होगा अथवा
पूर्वार्जित कर्मों की निर्जरा भी होगी जिसका
सुफल भविष्य में भी मिलेगा।

{2034}

विषय भोग
क्षणिक समय के
लिये सुखदायी महसूस
हो सकते हैं, अन्ततः
वो महादुःख देने वाले
ही बनते है।

{2035}

बाहरी सुख
सुखाभास है किन्तु
भीतर में जो सुख है
वह वास्तविक सुख है।

{2036}

प्रज्ञावान्
महानुभाव सत् कर्म
करने में प्रमाद नही
करते हैं।

{2037}

जब कोई व्यक्ति समझ–बूझ
के साथ अपने जीवन का उद्देश्य
निर्धारित कर लेता है तो सच्चाई के साथ वह
उस उद्देश्य को पा लेने का उत्साह भी अवश्य
दिखाता है। वह विवेकपूर्वक उन्ही साधनों को
अपनाता है जिनकी सहायता से उसे लगे कि
उसके उद्देश्य की सम्यक् पूर्ति हो सकेगी।

{2038}

त्याग यह भी होता है कि वर्तमान में अपने पास जो कुछ है, उसे या उस मे से छोडा जाय तो त्याग भविष्य के लिये भी होता है कि अमुक पदार्थ अमुक सीमा तक ही रखा जाय तथा बाकी सब छोड दिया जाय। यही प्रत्याख्यान होता है कि अमुक मर्यादा रख कर सर्वत्याग लिया जाय अथवा ऐसा व्रत लिया जाय जिसके आचरण से त्याग की वृत्ति एवं प्रवृत्ति को बल मिलता हो।

{2039}

उत्थान दिशा का समीकरण मनुष्य रूप से मानव जीवन में ही बनता है।

{2040}

सम्पूर्ण मानव जाति की दयनीय स्थिति मिटाने के लिये एक ही मार्ग है और वह है समता का आदर्श। इस आदर्श को उपस्थित करने के लिये व्यर्थ के भार स्वरूप रीति– रिवाजों को छोड़ना परिवार, समाज, राष्ट्र के समुचित विकास के लिये आवश्यक है।

{2041}

सामायिक व्रत वह अभ्यास है जिसके माध्यम से मन, वचन एवं काया के समस्त योग–व्यापार का निरोध किया जाता है तथा अन्तःकरण की भावनाओ को समभाव की दिशा में सक्रिय बनाया जाता है।

{2042}

वास्तव में एक समभावी सदा सुख का ही अनुभव करता रहता है और उसका समभाव जिस गति से अभिवृद्ध होता जाता है, उसी गति से उसकी सुख वृद्धि भी सम्पन्न बनती जाती है क्योंकि वह सुख आत्मा –नन्द में रूपान्तरित होकर शाश्वत रूप धारण करता जाता है।

{2043}

वास्तविक आचरण से वास्तविक जीवन हस्तगत होता है। यानि जीवन का सच्चा मर्म प्राप्त होता है। सच्चे आचरण के अभाव में जीवन की जानकारी केवल कला के तुल्य कही जा सकती है।

{2044}

आत्मा जब मिथ्यात्व के अंधकार से बाहर निकल कर सम्यक्त्व के प्रकाश में पग धरती है तो उसे स्व–स्वरूप का ज्ञान और परिचय होता है तथा यह भी विदित होता है कि सांसारिकता के बीज रूप राग और द्वेष से दूर होकर जब तक विराग की दिशा में कदम आगे नही बढ़ाये जायेंगे तब तक इस आत्मा का चरम कल्याण संभव नही हो सकेगा।

{2045}

प्रत्येक व्यक्ति का मानस ऐसा बने कि–मैं किसी को दु:ख न दूं–मैं सबको सुख दूं।

{2046}

क्षमा से बढकर
अपेक्षा से कोई तप नही है।
आप अन्य कुछ भी नही कर सकें
तो कम-से-कम क्षमा- वृत्ति का
अधिकाधिक अपने जीवन में
विकास करने
का लक्ष्य बनावें।

{2047}

भगवान्
महावीर ने पदार्थो
को नहीं, उनके प्रति
आत्मभावों में व्याप्त होने वाली
मोह-मूर्छा को
परिग्रह कहा है।

{2048}

जिसके जीवन
में राग-द्वेष की वृत्तियां
उभर रही हैं, तो
उसका जीवन पशु से
भी बदतर है।

{2049}

आप साधना का परिपूर्ण स्वरूप
जो जीवन के लिए आवश्यक हैं,
वह नही अपना सकते तो कम से कम गृहस्थ
जीवन में भी सही ढंग से जीने के लिय मन
मस्तिष्क को सबसे पहले तीव्र रोष
अभिमान छल-छद्म, लोभ
आदि से हटाने का प्रयास करें।

{2050}

क्षमा अमृत
की धारा है जो क्रोध
के विष को समाप्त कर देती
हैं, अन्तःकरण को शांति
से आप्लावित
कर देती है।

{2051}

अध्यात्म जीवन
में अपना चरण क्षेप
करो, यह मानकर चलो
कि हर आत्मा में अनन्त
ज्ञान शक्ति है।

{2052}

साधना में
जीवन समर्पित बने, तब
अशांति की स्थिति उसके
जीवन में कभी भी
प्रवेश नहीं कर
सकेगी।

{2053}

मनोयोग से किये जाने
वाला कार्य अच्छा होगा और
साथ ही मन की साधना भी सधेगी और एक
दिन वह इस जीवन और पर जीवन दोनों
को पवित्र बनाने में
भी सफल हो जायेगी।

{2054}

महान् है वह तो महान् हो ही चुका है लेकिन जो लघु है, उसे महान् बनना है तो ऐसी कौन सी प्रत्यक्ष विधि हो सकती है जिससे वह महानता के निकट पहुँच जाय ? ऐसी कोइ विधि हो तो उस विधि की ही महिमा विशेष रूप से होगी जो कि उस लघु को अति संक्षिप्त मार्ग से महानता के समीप पहुँचा दे। ऐसी महिमामयी वह विधि है– नमस्कार की विधि।

{2055}

शिशु जीवन को सौम्य बनाने के लिये माता–पिता के सुन्दर कर्तव्य ही बच्चों में संस्कार का रूप लेते हैं।

{2056}

दुनिया का सर्वश्रेष्ठ मंत्र नवकार है। पर यह ध्यान रखना है कि अन्दर में यदि विषय–कषाय की आग जलती रहे, और ऊपर से मंत्र का जाप करते रहें, तो उससे कभी शांति नही मिल सकेगी।

{2057}

बालक के जीवन पर एक सुशिक्षिता माता जो प्रभाव डाल सकती है, वहां सौ मास्टरों का प्रयास भी उसमे असफल रहेगा। माता का वीरत्व बालक को विश्व–विजयी बना सकता है।

{2058}

किसी भी विषय का परिर्वतन करने में मस्तिष्क का अर्थात् विचारों का परिवर्तन होना नितान्त आवश्यक है। विचार बदलने पर उच्चार (वाणी) सहज ही बदल जाता है। इनमें तीव्रता आने से आचार में परिवर्तन लाने में कठिनाई नही आती।

{2059}

मस्तिष्क का परिवर्तन केवल आर्डर से नहीं होता,वह होता है हिताहित प्राप्ति–परिहार के सही विज्ञान से। यह विज्ञान केवल भौतिक नही,अपितु भौतिकता पर नियंत्रण की क्षमता रखने वाला आध्यात्मिक विज्ञान है।

{2060}

ज्यों–ज्यों विकारों से मुक्ति मिलती जायगी अर्थात् विकार जीवन में से निकलते जाएँगे, त्यों–त्यों गुणधारण की प्रक्रिया भी साथ–साथ चलती जायगी। किसी भी स्थान में रिक्तता नहीं रहती है। अन्धकार हटता है तो प्रकाश आता ही है। विकार बाहर निकलेंगे तो गुण भीतर में प्रवेश करेंगे। तब गुणधारण की प्रक्रिया भी सतत रूप से सक्रिय हो जायगी।

{2061}

जीवन दीप की ज्योति प्रज्वलित रखने के लिये संस्कार स्नेह (तेल) का कार्य करता है।

{2062}

फल की लालसा गिराव का बीज है। साधना की क्रिया निष्फल नहीं जाती। धैर्य —पूर्वक सदा बढ़ते रहना ही साधक का परम कर्तव्य होना चाहिए।

{2063}

तपश्चर्या शरीर से ममत्व हटाने पर ही हो सकती है। जब तक शरीर पर मूर्छा भाव है, तब तक तपश्चर्या में अपना कदम आगे नही बढ़ा सकोगे।

{2064}

संस्कार बीज है जीवन वृक्ष को पल्लवित करने के लिये।

{2065}

मस्तिष्क की अनेक गुत्थियाँ हैं। उनको सुलझाना भी अत्यावश्यक है। एक भी गुत्थि को सुलझाना अति कठिन—सा लगता है। लेकिन सुलझाने की चाबी मिल जाती है, तो फिर अधिक कठिनता नही लगती है और वह चाबी भी स्वानुभाव के द्वारा प्राप्त होती है तो अन्य सभी तरह की समस्याएँ यथाशीघ्र सुलझ जाती है।

{2066}

जीवन बाह्य व्यवहारों में उलझ गया है। सर्वत्र दृश्य पदार्थों का आकर्षण जीवनी शक्ति को विभक्त कर रहा है। शक्ति की विराटता इन दृश्य पदार्थों में अवरूद्ध हो रही है।

{2067}

सम्यक्त्व विहीन तपस्या का कुछ भी महत्व नहीं है। और समभाव की सर्जना के बिना सम्यक्त्व की स्थिति जीवन में नही रह पाती है।

{2068}

विराट एवं व्यापक भावना विवेक पूर्वक बनाने से साधना का क्षेत्र सुगम बन जाता है।

{2069}

शारीरिक विज्ञान एवं विचारों का परस्पर प्रगाढ संबंध है। इस संबंध को सही पद्धति से विदित किया जाय तथा दृढ निष्ठा के साथ तदनुरूप आचरण की जाय तो इच्छित शारीरिक, आदि अनेक उपलब्धियाँ प्राप्त की जा सकती है।

{2078}

क्रोध के आवेग
से मन की कोमलता
नष्ट हो जाती है और वह कठोर
बन जाता है। पर यदि मन का
वह आवेग संवेग में बदल जाय तो
वही आत्मा अपना संसार
परिमित कर लेती है।

{2079}

अपने स्वरूप को
जानने के लिये हमेशा
स्वाध्याय के साथ-साथ
स्व का अध्ययन भी
करना चाहिए।

{2080}

सामायिक
मेरी जीवन
यात्रा का प्रथम
चरण है।

{2081}

विद्यमान क्षण को महत्व
देनाजीवन को सार्थक बनाना
है। प्रत्येक समय में निर्माणात्मक
पवित्र विचारों के साथ भावों की प्रबलता ही
उज्जवल भविष्य का निर्माण करती है।
अशुद्ध विचारों का प्रवेश मन में
नही होने देना ही बुद्धिमता
पूर्ण एवं श्रेयस्कर है।

{2082}

मोह का पॉइजन
आपकी आत्मा-शक्तियों
पर छाया हुआ है, अतः जो भी
क्रिया करें, वह सभी
आत्म-स्वरूप की अवाप्ति
के लिये ही हो।

{2083}

शाश्वत सुख
और शांति पाने के लिए
आवश्यकता है-वास्तविक
धर्म को जीवन में संयोजित कर
आत्यंतिक और एकान्त
मंगल करने की ।

{2084}

जब तक संयम
के महत्व को नही
समझोगें, तब तक अपने
जीवन को सफल
नही बना सकोगे।

{2085}

किसी भी स्थान या देश
में अधिक समय रहना योग्य
नही रहता। अधिक रहने से अवज्ञा होना
संभावित है। विरल रूप से आते-जाते रहने से
प्रेम-भाव की अभिवृद्धि बनती
है। यही श्रेयस्कर रहता है। इसी
मे इंसान की प्रतिष्ठा है।

{2070}

समता का आदर्श ही वह सजीवनी ओषधि है जो आज के पतनशील, परिवार, समाज और राष्ट्र मे नव जीवन फूँक सकती हे तथा प्रगतिशील आधारो पर इन इकाइयों का नव निर्माण किया जा सकता हे। व्यक्ति-व्यक्ति के अन्तःकरण में समता का आदर्श जागना चाहिए, तभी उसकी सामूहिक विकासशीलता सभी सार्वजनिक क्षेत्रो में मुखरित हो सकेगी।

{2071}

क्रोध के आवेश में कभी-कभी मनुष्य के ज्ञान तन्तु भी फट जाते हं,जिससे वह लकवा जेसी भयंकर मरणांतक विमारियों का शिकार हो जाता हे।

{2072}

साधना से हतोत्साह होने पर ही विराम की भावना वनती है। साधना में थकान नही आती है, क्योंकि साधनों की विधियां परिवर्तित होती रहती है। इससे साधना की शक्ति तरोताजा एवं बलवती बनी रहती है।

{2073}

विचारों के उतार-चढाव के प्रसंग पर निर्धारित लक्ष्य विन्दु पर सुस्थिर रहना ही विशेष महत्व की वात है। उसी से दृढता की स्थिति स्थाईत्व को प्राप्त होती है।

{2074}

प्रत्येक व्यक्ति स्वयं की योग्यता एवं तदनुरूप शक्ति का गोपन न करें। यथायोग्य, यथास्थान अपने आपको नियुक्त करने में किंचित् भी प्रमाद आलस्य न करें। अपना कार्य सबके लिये, सबका कार्य अपने लिये समझे।

{2075}

अर्थानुसंधान के साथ जीवन निर्माण संवंधि संक्षिप्त सूत्र की निष्पत्ति सदा-सर्वदा, सर्वज्ञ सर्वदर्शीय, समपरिपूर्ण केन्द्रमयोऽहम्, सर्वशक्ति सन्नियंत्रण केन्द्रमयोऽहम्, सुरक्षा केन्द्रमयोऽहम्। एतद् सूत्रत्रयम् सुविधि पूर्वक साधनियम्।

{2076}

धनुष बाण लिये निशाना साधने को तत्पर योद्धाओं से ऊपर घूमती हुई धातु की चिडिया के दिखाई देने के बारे में पूछा गया तो अलग अलग लोगो ने अलग-अलग सार -हीन से उत्तर दिये किन्तु अर्जुन ने इतना ही कहा कि उसे उस चिडिया की सिर्फ दाहिनी ऑख ही दिखाई दे रही है, और कुछ नही और उसका लक्ष्य -वेध सफल रहा। किसी भी संगठन की सफलता उसके लक्ष्य के प्रति सबकी एकाग्रता एवं एकनिष्ठा पर निर्भर करती है।

{2077}

गलती होने के बाद गलती को गलती मानकर क्षमा मांग लेना श्रेष्ठ मानव का काम है।

{2078}

क्रोध के आवेग
से मन की कोमलता
नष्ट हो जाती है और वह कठोर
बन जाता है। पर यदि मन का
वह आवेग संवेग में बदल जाय तो
वही आत्मा अपना संसार
परिमित कर लेती है।

{2079}

अपने स्वरूप को
जानने के लिये हमेशा
स्वाध्याय के साथ-साथ
स्व का अध्ययन भी
करना चाहिए।

{2080}

सामायिक
मेरी जीवन
यात्रा का प्रथम
चरण है।

{2081}

विद्यमान क्षण को महत्व
देनाजीवन को सार्थक बनाना
है। प्रत्येक समय में निर्माणात्मक
पवित्र विचारों के साथ भावों की प्रबलता ही
उज्जवल भविष्य का निर्माण करती है।
अशुद्ध विचारों का प्रवेश मन में
नही होने देना ही बुद्धिमता
पूर्ण एवं श्रेयस्कर है।

{2082}

मोह का पॉइजन
आपकी आत्मा-शक्तियों
पर छाया हुआ है, अतः जो भी
क्रिया करें, वह सभी
आत्म-स्वरूप की अवाप्ति
के लिये ही हो।

{2083}

शाश्वत सुख
और शांति पाने के लिए
आवश्यकता है-वास्तविक
धर्म को जीवन में संयोजित कर
आत्यंतिक और एकान्त
मंगल करने की ।

{2084}

जब तक संयम
के महत्व को नही
समझोगें, तब तक अपने
जीवन को सफल
नही बना सकोगे।

{2085}

किसी भी स्थान या देश
में अधिक समय रहना योग्य
नहीं रहता। अधिक रहने से अवज्ञा होना
संभावित है। विरल रूप से आते-जाते रहने से
प्रेम-भाव की अभिवृद्धि बनती
है। यही श्रेयस्कर रहता है। इसी
मे इंसान की प्रतिष्ठा है।

{2086}

सामायिक का साधक चाहे गृहस्थ जीवन बिता रहा हो अथवा साधु जीवन में चल रहा हो—यह सामायिक ऐसी आधारभूत साधना सिद्ध होती है जो, एक साधे, सब साधे, की उक्ति को चरितार्थ करती है। एक सामायिक की भी भावपूर्ण साधना सफल बन जाय तो उससे तीर्थंकर नाम गौत्र तक का बंध हो सकता है। यह सामायिक अपनी साधना के स्तर पर श्रावक को श्रमण के तुल्य बनाती है तो श्रमण को अरिहंत और सिद्ध पद तक पहुँचाती है।

{2087}

सम्यक् दर्शन जीवन की एक ऐसी पवित्र भूमिका है कि जिस पर आसीन होकर उर्द्धगामी बनने का स्वर्णीम अवसर समूह उपलब्ध हो सकता है।

{2088}

जीवन को साफ और स्वच्छ बनाने के लिये, सम्यक् दर्शन के लक्षणों को समझपूर्वक जीवन में उतारने के लिये हृदय पट को खोलकर वितराग वाणी सुनी जाय, अवश्य ही जीवन में परिवर्तन आयेगा।

{2089}

जो–जो समय व्यतीत हो चुका है वह पुनः आने वाला नहीं है। जो व्यक्ति धर्म कर लेता है वह अपनी व्यतीत हो रही दिन और रात्रियों को सफल बना लेता है, जो व्यक्ति अधर्म करता है वह व्यक्ति उन्हें खो देता है।

{2090}

जब तक बुढापा न आवें। शरीर मे किसी तरह की व्याधि न आवें। इन्द्रियॉ क्षीण न हो, तब तक धर्म का आचरण कर लो। अगर शरीर में रोग भी आ गया तो फिर साधना सही ढ़ंग से नही हो सकेगी।

{2091}

दूसरों के गुणों को बतलाने से स्वयं के गुणों का विकास होता है। दूसरों के अवगुणों को प्रकट किया जायेगा तो स्वयं में अवगुणों की वृद्धि होगी।

{2092}

जब यश एवं कीर्ति का आवरण इंसान के मन–मस्तिष्क पर छा जाता है, तब उसको अपने कर्तव्य का एवं लक्ष्य का भान नहीं रहता। उसको अक्षरी ज्ञान में प्रवीण होने पर भी ज्ञानियों की श्रेणी में नहीं गिना जा सकता। वह समाज एवं मानवता के नाम पर किये जाने वाले कार्य में भी अपनी उसी वासना का पोषण करेगा।

{2093}

गुणी पुरुषों के विद्यमान गुणों का कथन करने से सद्‌गुणों की अभिवृद्धि होती है।

{2094}

कामना हर
सामान्य मनुष्य करता है, पर
उसकी सभी भावना पूर्ण नही
होती, किन्तु अध्यात्म पथ
पथिक की हर भावना
पूर्ण हो जाती है।

{2095}

आयुष्य एक ऐसा
तत्व है जो निरन्तर
अर्थात् क्षण-क्षण में कुछ
भी विलम्ब किये बिना
समाप्त हो रहा है।

{2096}

प्रवाह को
रोका नही जा
सकता मोडा जा
सकता है।

{2097}

राग-द्वेष रूप परिणिति का
शमन करने का प्रयत्न हर समय
रहना नितान्त आवश्यक है। जागतिक वस्तुएँ
यथास्थान, यथास्वरूप मे विद्यमान रहती है। उनका
वस्तु स्वरूप की दृष्टि से अवलोकन करना यथास्थान,
यथायोग्य समझना ही श्रेयस्कर है।
उन पर राग अथवा द्वेष
का उद्वेग लाना योग्य नही।

{2098}

जो वीतराग
उपदेश को जीवन में
ले लेता है और उस ज्ञान के
अनुसार अपने जीवन को बना
लेता है, उसके जीवन में फिर
कोई कमी नही
रह पाती है।

{2099}

शिष्य की गुरु
के प्रति इतनी समर्पणा होनी
चाहिये, कि वह गुरु के
ऑखों के संकेत मात्र
से समझ जाय।

{2100}

जिस कार्य
का जो समय हो,
वही कार्य उस समय
करना योग्य है।

{2101}

क्रोध-मान-माया और लोभ
का जब तक सम्यक् निग्रह
का प्रयत्न नही किया, तब तक सारी
क्रियाएँ संसार वर्धक ही होगी। पर
संवेग की प्रवृत्ति जीवन में आ जाये तो
अनन्तानुबन्धि आदि अतिशय
संसारवर्धक कषाय का निग्रह सरलता से
किया जा सकता है।

{2102}

जीवन के प्रत्येक क्षेत्र या अवयव
में हर समय उत्साह एवं उमग की लहर
होनी चाहिए। जीवन एक वहती पवित्र गंगा के
समान हे। उसमें सभी वस्तुएं आकर मिलती हे। गंगा
सभी वस्तुओं को स्वच्छ एवं शीतल वना देती हे। वेसे ही
जीवन-गंगा मे जो भी वस्तुएं प्रविष्ट हो अथवा सयुक्त हो,
वे सभी यथायोग शांत एवं पवित्र वन जाये, अर्थात् उन
वस्तुओ के निमित राग-द्वेष न हो, यही
उनके पवित्रपन की अवस्था हे।

{2103}

समय को
पहिचानने वाला ही
पंडित होता हे। जो अवसर को
नही जानता वह सही माने में
पंडित नही
कहला सकता।

{2104}

मनुष्य जन्म, आर्य भूमि,
संत-समागम और वीतराग-वाणी का
श्रवण जिसे उपलब्ध होता है उसका
मनुष्य जीवन अन्त पुण्यवानी के उदय
का शुभ फल एवं अर्न्तराय कर्म का
क्षयोपशम समझना चाहिये।

{2105}

जो व्यक्ति राग-द्वेष
को मन्द करता हुआ नैतिकता
के साथ निर्लोभ-वृत्ति से चलता है,
उसके पास भौतिक सम्पत्ति चाहे
कितनी भी कम क्यों न हो,
वह चैन से रह सकता है।

{2106}

सुख का मूल स्त्रोत
अध्यात्मिकता हैं। जो भी व्यक्ति
आध्यात्मिकता में प्रवेश कर परिपूर्णतः
'दृष्टि को समीक्षण मय बनाता हुआ
आत्मालक्ष्यी बनता है, वह
निश्चय ही परम सुख को
प्राप्त करता है।

{2107}

यदि रास्ते में कोई
कॉच का टुकड़ा पडा है तो
जौहरी उसे उठाता नही पर असुचि में
पडे अमूल्य हीरे के टुकडे उठाने में वह
कतराता भी नही, इसी प्रकार आप भी
अपनी दृष्टि को गुणग्राही बनाये।

{2108}

प्रातःकाल एक प्रसंग से संतों
को शिक्षा देते हुए कहना पडा कि
संयमविषयक प्रक्रिया यत्नपूर्वक परिमार्जन,
परिस्थापन, प्रतिलेखन, आदि संयमी जीवन में
दत्तचित्त संत मुझे प्रिय लगते है। भले ही वह मेरी
सेवा न करें। मेरी सच्ची सेवा संयमी जीवन
पूर्वक सच्ची आत्मा साधना
में समझता हूँ।

{2109}

जब संयम
जीवन के अन्तरंग
मे आता है तो उसके
मन, वचन और काया
में भी संयम आ
जाता है।

{2110}

वन्दना नही करने
वाले पर क्रोधित न हो
और वन्दन करने वाले पर अभिमान
न करें। इस प्रकार का वर्तन करने
वाला साधक ही श्रमण धर्म
का शुद्ध
पालन कर सकता है।

{2111}

आत्माओं को,
शुद्ध स्वरूप प्राप्त करने
के लिये मन को समझना एवं
उसे आत्मा के तंत्र में करना
आवश्यक है।

{2112}

दूसरों को
लाभ देने के पहले स्वयं
के जीवन को सुरक्षित
रखना
आवश्यक है।

{2113}

जब तक मनुष्य की दृष्टि
भौतिक तत्वों को देखने में ही रहेगी,
वहां तक जीवन का रूपान्तरण नही हो सकता।
जिसका आन्तरिक जीवन उस मानसिक क्रिया
के साथ प्रतिक्रिया को समझ लें तो
उसका रूपान्तरण
हुए बिना नही रहता।

{2114}

यदि एक मुहूर्त
भी समीक्षण ध्यान साधना
में सही रूप में लगाया गया
तो वह आपके सारे जीवन को
सुख की सुरभि से
सुरभित कर देगा।

{2115}

जब तब माता-पिता
के जीवन में परिष्कार
नही आयेगा, तब तक
पारिवारिक जीवन सात्विक
नही बन सकता।

{2116}

जो अनुशासन
पालना करता है
वही अनुशासन दे
सकता है।

{2117}

कोई भी किसी भी रूप में
अपने आप को बनाना चाहे, पर वह
यदि अपने जीवन के बहुमूल्य क्षण उसी में
लगता है तो वह वैसा ही बन जाता है। वैसी
ही जो व्यक्ति आध्यात्मिक साधना में अपने
जीवन के बहुमूल्य क्षणों को लगा देता है
तो एक दिन वह उसमे सफलता
प्राप्त कर ही लेता है।

{2118}

यदि तुम्हें जन्म लेने
की इच्छा न हो, सदा–सदा
के लिये आनन्दमय स्थिति को प्राप्त
करना हो तो अन्य को जन्म मत दो, जो दूसरों
को जन्म देता है, वह स्वयं जन्म ग्रहण करता हैं,
तथा जो अन्यों को मारता हे (आसक्ति पूर्व)
कसाय पूर्वक तो वह अत्यधिक जन्म–मरण की
परम्परा को बढ़ाता है।

{2119}

सच्ची साधना
में प्रवेश करने के
लिये सबसे पहले
मस्तिष्क से अभिमान,
क्रोध आदि वैभाविक
वृत्तियों को निकालना
आवश्य है।

{2120}

ध्यान साधना चारित्र
का प्राण है, इसमें जो दत्तचित्त हो
जाता है, उसके भीतर के नयन खुल
जाते हैं, पर उसकी साधना करने
वाला चाहे साधु हो या श्रावक,
सभी को बहुत कम समय
मिलता है।

{2121}

जब तक जीवन
में तृष्णा है, उसके रहते
संतोष आ नही सकता। मियान में
अन्य वस्तु है तो तलवार
नहीं समा सकती और तलवार है
तो अन्य वस्तु नही
समा सकती।

{2122}

परिपूर्ण अहिंसक बन
कर आत्मा को जागृत बनावें तथा
प्राणी मात्र को अपना मित्र बनाकर
चलेगें तभी हमारे जीवन में परमात्म
दशा की परम
ज्योति जल सकेगी।

{2123}

जो आत्मा सच्ची
जिज्ञासा भावना से जिनवाणी
को सुनती है, वह निश्चिय ही उसे
जीवन में उतारने में भी समर्थ हो
जाती हैं। ऐसी आत्मा का रूप
परमात्म रूप में
अभिव्यक्त हो जाता है।

{2124}

साधना का अर्थ मन, वचन,
काया को साधना और आत्मा को
पवित्र बनाना है। इन तीनों को साधने
पर ही आत्मा पवित्र बनती है और इन तीनों को
साधना का जो सेन्टर है, वह मस्तिष्क है पर
उसमे पहले से जो कचरा भरा है, उसे अलग कर
दें, अन्यथा नई वस्तु
वहाँ नही बैठ सकेगी।

{2125}

मानव शरीर
अथवा अन्य शरीरों के
संचालन की जो यह चेतना
है–उसे ही तो आत्मा कहा
गया है।

{2126}

जब तक व्यक्ति
के मस्तिष्क में वैभाविक विषय एवं
मोह ममत्व का रंग भरा रहेगा,
तक तक शांति की सच्ची
जिज्ञासा भी उत्पन्न
नही हो सकेगी।

{2127}

स्वय के लिये बिना
भेद-भाव के सब कुछ करना
और अन्यों के लिये यथा स्थान वैसा न
करके भेदभाव लाना विषभाव
है, राग-द्वेष आदि का स्वरूप है।
अहिसा नही बल्कि हिंसा
का प्रच्छन्न रूप है।

{2128}

"मैं" का
साक्षात्कार ही
सत्य का साक्षात्कार है।
ईश्वर का साक्षात्कार है।

{2129}

जीवन के किसी भी क्षेत्र में
सफलता प्राप्त करने के लिये समय
का मूल्यांकन करना आवश्यक है। जिस
प्रकार बूंद-बूंद करके घट भर जाता है वैसे ही
एक-एक समय का मूल्यांकन करने वाला
एक दिन महान् कार्यो को सिद्ध करने
में सफल हो जाता है।

{2130}

आज के लोगों
के हाथ में झंडा नही है केवल
डंडा ही रह गया है, वह डंडे को
ही लेकर चल रहे है।
वास्तविक आदर्श
को तो भूलते चले
जा रहे हैं।

{2131}

सच्चे आनन्द की
वास्तविकता को जॉच-
परखने और सच्चे आनन्द का
रहस्य जानने की मनोवृत्ति बहुत
कम लोगों
में पाई जाती है।

{2132}

"मैं" की
अनुभूति की दिशा
में आगे बढने के लिये
पहले आत्म-तत्त्व को
जानना अनिवार्य है।

{2133}

जो व्यक्ति संशय रखता
है, उसका समाधान नही करता
है तोनीतिकार भी कहते हैं कि उस आत्मा का
कल्याण नही होता। जो भी आत्मा कर्तव्यनिष्ठ
बनती हुई, अपनी भ्रान्तियों को हटाकर,
विचारों को परिष्कृत करती हुई आगे बढेगी
तो उसका कल्याण होगा।

{2134}

अन्तगड–दशांग सूत्र, कल्पसूत्र आदि का वाचन पर्यूषण पर्व के आठ दिनो मे किया जाता है। जिसमें, उन महान् आत्माओं ने अपनी अन्तिम अवस्था मे किसी प्रकार समभाव की साधना करते हुए अपना जीवन सार्थक बनाया तथा पंडित मरण को प्राप्त कर कर्मों का अंत करते हुए अक्षय–अव्याबाध सुखों के स्वामी बने। यह जान कर सत् पुरुषार्थ शील बन सकें।

{2135}

आत्मा के लिये शरीर धारण करना वस्त्र परिवर्तन के समान माना गया है।

{2136}

जिस प्रकार चिन्तन करने के लिये व्यक्ति सोचता है कि बाहरी कोलाहल का शांत होना आवश्यक है, वैसे ही आत्मशांति पाने के लिये अन्तरंग में राग–द्वेष का कोलाहल शांत होना आवश्यक है।

{2137}

जीवन में योग की साधना सही तरीके से की जाय तो जीवन में सम्यक्‌दृष्टि भाव की साधना भी कर सकता हैं, जो गहरे ममत्व में पड़ जाता है, वह सम्यक्‌दृष्टि भाव से गिर जाता है।

{2138}

जब शरीर मे रोग बढ़ जाते हैं तो स्वयं के भीतर में जो अन्तरयामी है उसका भी मनुष्य शांति से चिंतन नहीं कर पाता। वह यदि एक रोज का उपवास कर लेता है तो सारी बीमारी नष्ट हो जाती है।

{2139}

एकान्त तनाव सम्पूर्ण शक्ति को एक ही साथ समाप्त कर देता है। अतः पुनः उठने का अवकाश उस जीवन में नहीं रहता। सर्वथा तनाव–शून्य अवस्था भी जीवन–निर्माण में असमर्थ रहती है।

{2140}

जो मकान बाहर से स्वच्छ एवं चाक् चाक्य दिखने वाला हो पर अन्दर से भयंकर दुर्गन्ध से भरा हो तो ऐसे मकान को कोई भी सभ्य व्यक्ति पसंद नही करेगा। इसी प्रकार केवल बाहरी कागजी स्वतंत्रता तो आ जाय पर भीतरी स्वतंत्रता न आवें तो वह वास्तविक स्वतंत्रता नहीं होगी।

{2141}

आत्मा यह अमर तत्त्व शरीर के रूप में बार–बार मरता है और बार–बार जन्म लेता है।

{2142}

मानव-जीवन स्वयं या
माता-पिताओं के विचारों का
प्रतिबिम्ब कहा जा सकता है। जिस
भी विषय के विचार दृढ श्रद्धा के साथ बनते
हैं, उनका प्रभाव शरीर पर अवश्य पडता है
तथा उनके अनुरूप संरचना से भी चिरकाल में
उन्ही विचारों का प्रतिबिम्ब फलित होता है।

{2143}

आनन्द की
आकांक्षा से ही जब
मनुष्य के मन में उल्लास छा
जाता है तो कल्पना करें कि
आनन्द का अनुभव कितना
उल्लासकारी बन कर उसे
आत्मविभोर
बना देगा।

{2144}

आज प्रातःकाल सेठिया कोटडी
की ऊपरी छत पर ७.३० से ८.३० के बीच
घूमते समय वस्तु-सत्य की सच्ची अनुभूति की
जागृति हुई। भूत, भविष्य के मध्य वर्तमान दिन का वर्तमान
चिन्तनक्षण अति ही महत्वपूर्ण है। उसी की सावधानी ध्रौव्य
पर्याय के साथ अत्यधिक उज्ज्वल पवित्रतम कार्य में दत्तावधान
होना ही श्रेष्ठ सार्थक समय है। उसी में सर्वज्ञता के स्वरूप
की अभिव्यक्ति एक अवसर है।

{2145}

आत्म-दर्शन
मनुष्य को ज्ञान, दर्शन
एवं चरित्र की त्रिधारा
में अवगाहन कराते हुए
आनन्द पथ पर अग्रसर
बनायेगा।

{2146}

प्रथम संवेदना से सम्बन्धित
परिपक्व ज्ञान द्वारा जो कुछ भी
धारणा, स्मृति आदि के रूप में ज्ञान
मात्रा की वृद्धि होती है, उससे अनुभव ज्ञान के
रूप में मूल एवं स्थाई भावों का प्रसंग अनेकानेक
रूपों में उभरने लगता है। मनोवैज्ञानिक भाषा में
ज्ञात मस्तिष्क - पूर्वक अज्ञात मस्तिष्क-सम्बन्धि
सम्पूर्ण विषय आ जाता है।

{2147}

समग्र शक्तियों का सम्पूर्णरूपेण
प्रार्दुभाव, प्रकटीकरण, विकास, समवर्धन आदि
हुआ होता हे ओर होगा। वह सम्पूर्णरूपेण मेरे में हो
रहा हे एवं अवश्य ही होकर रहेगा। समस्त जीवन श्रेष्ठ
समता को प्राप्त होगा। इसमें किंचिदपि संदेह को अवकाश
नही हे। इस प्रकार का चिंतन, मनन, नीदिध्यासन, प्रतिदिन,
प्रतिघडी, प्रतिमिनिट, प्रतिसेकण्ड, प्रतिसमय निरन्तर वना रहने से
जीवन की दिव्यता, भव्यता के
यथा शीघ्र पल्लवित-पुष्पित-फलित होने में विलम्व
नही हो सकेगा। वशर्ते इस प्रकार की विधि
में किंचिदिप विस्खलना न हो।

मानव अपने से भिन्न को अपना मानने
में संकोच करता है। और तो दूर, स्वयं के कटुम्ब,
परिजनों को भी कभी पर समझ बैठता है। यहां तक की
शत्रु तक मान लेता है । इसका कारण स्पष्ट है कि उस मानव ने अपने
मन में एक बात जमा ली होती है कि जो मेरे विचारों व व्यवहारों से
प्रतिकूल है, वह मेरा नही एवं जो मेरे विचारों एवं व्यवहारों से अनुकूल है,
वह मेरा है। यही कसौटी या माप-दण्ड बना लेता है। यह परिपूर्ण एवं सही
ज्ञान के अभाव में बनता है। पर सम्यक् परिपूर्ण ज्ञानी सर्व मानव को ही
नही, अपितु समग्र प्राणी वर्ग को आत्मीय भावना से जानता एवं देखने का
बाह्य साधन समान होने पर ही आन्तरिक
भावों में समत्व का नेत्र होने से बाह्य साधना भी
समत्व साधना वाले बन जाते हैं।

{2148}

{2149}

विज्ञानपूर्वक दृढ संकल्पों का बहुत बडा महत्व है। इनकी तुलना में अन्य कोई तत्त्व आ नही सकला। जीवन की यदि कोई बहुत बडी निधि है, तो वह विज्ञानमय विचार का अत्यन्त दृढतम संकल्प है। इसी के सहारे जीवन जिया जाता है, निर्वाह किया जाता है तथा परिवर्तन, परिवर्धन, संक्रमण, संवर्धन, हास, कमजोरी, निर्बलता, वृद्धत्व, मृत्यु आदि अवस्थाएं बनती बिगडती रहती है।

{2150}

शाश्वत आनन्द की इच्छा रखते हुये भी अधिकतर लोग क्षणिक आनन्द के प्रलोभन में पडकर दुःख की गलियों में भटक जाते हैं।

{2151}

जीवन की विशेषता शक्तिसंचय में है। शक्ति के दो रूप हैं बाह्य और आभ्यन्तर। बाह्य शक्ति भौतिक सत्ता और शक्ति के रूप में है। आभ्यन्तर शक्ति आध्यात्मिक सत्ता और शक्ति के रूप में है। बाह्य शक्ति के संचय में आभ्यन्तर शक्ति बिखरती है। यह कार्य अनादिकाल से चल रहा है। इससे अनेक जीवन बने और बिगडे। ऐसी प्रवृत्ति में कोई विशेषता जैसी बात नही है। यह तो प्रायः सभी प्राणी न्यूनाधिक मात्रा में करते रहते हैं।

{2152}

जड़ निष्क्रिय होता है किन्तु चैतन्य जब उसमें मिल जाता है तो वह क्रियाशील हो जाता है।

{2153}

साधना के क्षणों में जीवन-निर्माण विषयक तीन विशिष्ट सूत्र निष्पन्न हुए -

(१) सर्वदा, सर्वत्र, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, सम्परिपूर्ण केन्द्रमयोऽहम्।

(२) सर्वदा, सर्वत्र, सर्वशक्ति सन्नियंत्रण केन्द्रमयोऽहम्।

(३) सर्वदा, सर्वत्र, सुरक्षा केन्द्रमयोऽहम्।

{2154}

विश्व में सभी जीवों को रहने
का अधिकार है । यह विश्व ही उनका
घर है। संसार कि जितनी भी जीवनोपयोगी
वस्तुऍं है, वे यथास्थान, यथायोग्य सभी की भागीदारी
की है। कम हॉं, तो समवितरण के साथ व्यवस्था योग्य है। अधिक हों
तो व्यक्ति, समाज व राष्ट्र उसका
दुरूपयोग न करें, अपितु सदुपयोग से प्राणी-वर्ग को
शांति पहुँचावें। श्रम शारीरिक, वाचिक एवं मानसिक तीनों प्रकार के
आवश्यक हैं। जो जिस श्रम की क्षमता वाला हो,उसको उसी श्रम के
विषय में विशेष विवेक रखने
की आवश्यकता है। श्रम एवं योग्यतानुसार
उसके लिए सोचना उचित ठहरता है।

मानव भी इस विराट विश्व का
दिव्य पुष्प है। इसको भी अपने-आपमें
पवित्र गुणों की सुगन्धि निरन्तर भरते रहना चाहिए।
किसी भी समय कैसी भी अवस्था क्यों न हो, प्रतिकूल
से प्रतिकूल प्रसंग पर भी सद्‌विचारों को अपने से एक समय के लिए
भी विलग न होने दें। प्रतिकूल विचारों को समभाव के धरातल पर
बिखेर कर जो जिस रूप में ज्ञात हों, उसको वस्तुस्वरूप की दृष्टि से
उसी रूप में अवलोकन करें। पर राग-द्वेष के रंग को अपने विचारों
पर न चढने दें, ताकि स्वयं के पवित्र विचारों की सौरभ को किसी
भी प्रकार की क्षति नही पहुँचे। यही मानव रूप
दिव्य फूल की सफलता रूप की कुंजी है।

{2155}

{2156}

जब "मैं" जगता है तो
वह इतना विराट् बन जाता है
कि सारा बाह्य - सारा जगत् उसमें
समा जाता हैं - अर्थात् यह "मैं" अपने को
विभाजित कर सबमें हिलमिल जाता हैं - सबको
अपना लेता है और यही "मैं" उच्चस्थ अवस्था
होती है तो समतामय जीवन का चरम
विकास भी होता है।

{2157}

आत्मा अमर
तत्त्व है। इसी रूप
में पहचानने पर देह कष्टों
की अनुभूति कम हो जाती
है। तब वह परमानंद में
लीन
बन जाती है।

{2158}

सब शारीरिक व्याधियों का मूल
मस्तिष्क है। वही से जिसको प्रश्रय मिलता
है, वही शरीर के अन्दर प्रवेश पाकर अपना स्थान
बना लेता है। अन्य तत्त्वों का वायु - मण्डल के माध्यम
से श्वास, प्रश्वास, खान-पान, रोम आदि छिद्रों से शरीर
में प्रविष्ट होना सम्भावित हैं, पर उनको शारीरिक तत्त्वों
के साथ प्रश्रय ज्ञात, अज्ञात अथवा लापरवाही से मस्तिष्क
से ही मिल पाता है। तभी वह भीतर में अपना स्थान
बनाता है। आभ्यन्तर अवयव जब तक अवकाश नही
देते तब तक भीतर में जड नही जमती।

{2159}

संसार के
सारे क्रिया-कलाप
एवं संसार स्वयं का
क्रम, जन्म-मरण
के चक्र पर
चलता है।

{2160}

अहिंसा-जीवन में
से हिंसा को निकल जाने
पर जो परिपूर्ण स्वरूप अवशेष रहता
है वह है स्वयं के प्रतिकूल व्यवहार
के प्रति नही करते हुए स्वयं के समान अन्य
को जानना-मानना। इस
विवेक के साथ जो व्यवहार है,
वह विधिरूप अहिंसा है।

{2161}

दृढ संकल्पपूर्ण विचारो का प्रभाव जीवन में
महत्त्वपूर्ण घटकों पर पडता है, जिससे जीवन में
आमूलचूल परिवर्तन भी आ सकता है। वेज्ञानिक खोज के
अनुसार आनुवंशिक संस्कारों को वहन करने वाले जीन्स पर
दृढ संकल्पशवित्त पूर्वक किये गये विचारों का भी प्रभाव पडता
हे, जिससे पूर्व के संस्कार परिवर्तित होकर अन्य संस्कार वन जाते हं।
संकल्प से रोगादिक की निवृत्ति भी संभावित हे। जेसे संकल्पपूर्वक पुरुपार्थ
किया जाय वेसी ही जीवनी शक्ति का
सर्जन वन पाता है । वेज्ञानिक क्षेत्र में जीन्स के परिवर्तन के लिए इन्जेक्शन
आदि की परिकल्पना चल रही हे। किन्तु इस विपय में रोगादि की निवृत्ति में
तो परिवर्तन संभव हे। वह भी
पूर्व निदानपूर्वक योग्य विधि से प्रयुक्त हो तभी। वरना अन्य
कई खतरे संभावित है। इसके अतिरिक्त अन्य विपय में पूरी सफलता मिलनी
अशक्य-सी है। यह विपय वेज्ञानिकों एवं
गहरे चिन्तकों का है, प्रत्येक व्यक्ति का नही।

वैज्ञानिकों, जिसमें आध्यात्मिक एवं भोतिक दोनो का
समावेश हो जाता हैं, मन में जिस भी विषय की तीव्रता,
उत्साह एवं जोश की अवस्था बनती है, उस वक्त वे अपने
विचारों में दृढ संकल्प-शक्ति का समावेश कर लेते हैं। परिणाम
स्वरूप जिस भी विषय की खोज करना चाहते हैं, उस विषय में
प्रबल पुरुषार्थ के साथ संलग्न हो जाते हैं, और उस विषय में सिद्धि प्राप्त कर
लेते हैं। डॉक्टर खुराना ने जिन जीन्स की खोज की, वे मानव के नही अपितु
बैक्टिरिया के थे। फिर भी भौतिक, विज्ञान में
एक मार्ग बना। आनुवंशिक संस्कारों के परिवर्तन की बातें भी भौतिक, वैज्ञानिक
जगत में प्रारम्भ हुई। अन्य भी कई विकल्पनाएं समुपस्थित होने लगी। पर
परिवर्तन के वास्तविक मूल को अभी तक प्राप्त नहीं कर पाये, न उसकी ओर
उनका ध्यान ही केन्द्रित हो पाया। यह
खोज परीक्षण नली की दृष्टि से भले ही नई है, पर प्राकृतिक दृष्टि से नई नही
है। इस विषय म्रे शास्त्रीय अनुसंधान की दृष्टि से चिंतन
किया जाय, तो आश्चर्य को कोई अवकाश नही होगा।

{2162}

{2163}

व्यक्ति जब समता
सिद्धान्त दर्शन से जीवन की
भूमिका का निर्माण करता हुआ जीवन
दर्शन व आत्म दर्शन को पार करके
परमात्म दर्शन को प्राप्त हो जाता है
तब उसे शांति का चरम
परिणाम प्राप्त होता है।

{2164}

संसारी आत्माओं
का "मैं" इतना संकुचित
रहता है कि उसे खोजना,
जगाना और कर्मनिष्ठ
बनाना एक भागीरथ
प्रयत्न से कम नही।

{2165}

यह अमूल्य जीवन अमूल्य
वास्तविक स्वरूप के बिना नाशवानपदार्थों
में आसक्त बना हुआ व्यर्थ ही जा रहा है। इसका
आन्तरिक ज्ञान हुए बिना कुछ भी नही बन सकता। अतः
जीवन की वास्तविक सफलता इसी में है कि मानसिक
समस्त विकारों से परे, जो वास्तविक स्वरूप रहा हुआ
है, उसको व्यक्त किया जाय एवं विश्व के समस्त
दृश्यों से जरा भी विचलित न होते हुए
दृढ संकल्प के साथ चला जाय।

कर्मो का
आत्मा के लिये
एक बंधन हो जाता है
जो शरीर के छूट जाने
पर भी आत्मा से
नही छूटता।

{2166}

कायिक, वाचिक,
मानसिक एवं अनुभूति-मूलक
जीवन स्तरों से भी अत्यधिक
गहनता में पहुँचने पर वास्तविक
स्वरूप उपलब्ध होगा। वह भी कम?
जब सही लक्ष्य को संमुख लेकर
विधिवत् क्रमिक गमन होगा।
अन्यथा भटकन होगी।

{2167}

{2168}

तालु के ऊपरी भाग के ग्रन्थिस्थान की
चन्द्र की उपमा दी जाती है। उसमें से निकलने
वाले रस को अमृत की उपमा दी जाती है। वह जठराग्नि
मे पहुँचता हे। खाना खाने के बाद बनने वाले रस में मिलने
से उस रस की रासयनिक प्रक्रिया में परिवर्तन आता है,
परिणाम-स्वरूप शारीरिक तत्त्वों पर असर पडता है। अमृतोपम
रस जीवन-विचारों से प्रभावित तत्त्व हे। यदि विचारों में क्रूरता की प्रधानता है,
तो वह रस जठर में पहुँचाते ही अपनी अमृतोपमता को खो देगा ओर भस्म हो
क्रूर - घातक रस के रूप में उदररस में मिलने से उदर में बनने वाला रस भी
उसके अनुरूप शारीरिक अवयवों के लिये अहितकर बन जाता हे। यदि
सौम्यादि पवित्र विचारों से प्रभावित हे तो अमृतोपम जठर से उदररस की
रासायनिक प्रक्रिया से अपने अनुरूप परिवर्तन के
साथ शारीरिक अवयवों के लिए हितावह होगा।

मनुष्य मुख्य तौर पर दो तरह के पये
जाते हैं। एक विद्वान्, अन्य अविद्वान्। विद्वान् के
भी दो भेद किये जा सकते हैं-एक कच्चे मस्तिष्क
वाले तो दूसरे परिपक्व मस्तिष्क वाले। अपरिपक्व पुरुष
स्थिर नही होते। विद्वान् होने पर भी इधर-उधर के विचारों
के प्रवाह में बहते रहते हैं। स्थिर लक्ष्य नही होने से, मन
में भी स्थिरता नही बन पाती। किसी ने कुछ कहा, तो
उसकी मानने में तत्पर हो गये। परिपक्व-मस्तिष्क मानव
गृहीत लक्ष्य पर स्थिर रहता है। कितने ही विचारों के
ऑधी-तूफान आयें, पर वह उनमें से भी अपने लक्ष्य
की पुष्टि कर पायेगा तथा अन्य को भी अपने
अनुरूप ढालने की कोशिश करेगा। यह बात
विद्वान् मानवों में भी पाई जाती है।

{2169}

{2170}

जब आत्मा मानव
शरीर अथवा अन्य शरीर
को धारण करती है तो वह एक
नये जीवन के रूप में संसार के रंगमंच
पर आती है। तब उस जीवन में जिस
प्रकार के क्रिया-कलाप होते हैं
वैसे-वैसे कर्म उसके साथ
संलग्न होते हैं।

{2171}

शुभ या
अशुभ जिस
प्रकार के कर्म होते
हैं,उनका इस या आगमी
जीवन में आत्मा को फल
भुगताना
होता है।

{2172}

वृत्तियों को बाँधना या दबाना
भी अधिक समय तक शक्य नही।
यह कार्य कुछ ही समय तक हो सकता है
पर स्थायित्व की अवस्था इसमें भी नही बन पाती। वैसी
अवस्था में भी इष्टफल की सिद्धि वास्तविक स्थायित्व को
प्राप्त नही कर सकती। अतः वृत्तियों का संशोधन कर कौनसी वृत्ति का कैसे
परिमार्जन करना इस ध्यान के आने पर वे परिष्कृत की जा सकती हैं।
वृत्तियों के साथ
संयुक्त मैल को धोकर सम्परित्याग करने में
उपरोक्त कला भी जीवन में आनी
नितान्त आवश्यक है।

{2173}

शुभ कर्मो के
फलस्वरूप अच्छा
जीवन और उसमें अच्छे संयोग
मिलते है तो
अशुभ कर्मो का फल अशुभ
परिस्थितियों के
रूप में मिलता है।

{2174}

कर्म जड होते हुए
भी सलग्न होने में उसी
प्रकार सक्रिय बनते हैं। जिस प्रकार
तेल मर्दन कर लेने पर बालू रेत पर
सो जाने से रेत के कण उस शरीर
के साथ स्वयं चिपक जाने
मे सक्रिय होते हैं।

{2175}

ध्यान की जीवन में अनिवार्य
आवश्यकता है। उसके विना एक क्षण
भी व्यतीत नही होता। पानी की शीत एवं
प्यास शांत करने स्वरूप स्वभाव, आग का उष्णता
तथा प्रकाश स्वभाव, तारे आर चन्द्र का ज्योत्सना
स्वभाव, सूर्य का भास्कर स्वभाव, आकश का अवकाश स्वरूप एवं
आत्मा का ज्ञानादि गुण स्वभाव असाधारण
रूप से विद्यमान है। इन असाधारण स्वरूपों के
विना उपरोक्त वस्तुएँ रह नही सकती। पदार्थ के
असाधारण स्वरूप की जितनी आवश्यकता
है, उतनी ही प्राणीवर्ग के लिये
ध्यान की आवश्यकता है।

स्वयं का उत्तरदायित्व स्वयं पर हें,
दूसरों पर नही। दूसरे सहायक वन सकते है।
लेकिन कब ? जबकि स्वयं अपने कर्त्तव्य पालन में
तत्पर होता है। मूल स्वयं बनता है, तो खाद-पानी, आदि
सहायक हो सकते है। मूल स्वरूप में स्वयं नही है, तो अन्य कितने ही
सुन्दर एवं सुव्यवस्थित सहायक हों, वे काम नही
कर सकते। उसी प्रकार मूल है। पर अन्य योग्य सहायक नही है, तो मूल
कुछ सीमा तक ही कुछ कर पायेगा। आगे नही
है, तो मूल कुछ सीमा तक ही कुछ कर पायेगा। आगे
नही। प्रारम्भ में तो अन्य की किसी-न-किसी रूप में
आवश्यकता रहती हैं, फिर स्वयं की समर्थता इतनी
बढ जाय तो अन्य सहायक गौण हो सकते हैं।
यही अवस्था जीवन, आत्मा बुद्धि आदि के
विषय में देखी जा सकती है।

{2176}

{2177}

मानसिक विचार
कभी-कभी भले बनकर
भी उपस्थित होते हैं पर वे वस्तुतः
भले नही होते है। वे भले की पोशाक
लेकर भला दिखाने के लिए आते हैं,
पर उनकी सच्ची विज्ञप्ति न होने से
अच्छे मान लिये जाते हैं। अन्ततः
वे धोखा देते हैं।

{2178}

जड और
चेतन दोनों के
स्वभाव विपरीत है जो एक
दूसरे को एक
दूसरे की दिशा में
खीचंते हैं।

{2179}

एक गैर परमाणु के साथ गायक
के ज्ञान के, दो, दस जीव संख्यात, असंख्यात,
अनन्त, अनन्तानन्त पर्याय बनते हैं। वह भी एक वर्ण
वर्ग के साथ। वैसे ही रस, गन्ध, स्पर्श वर्ग का भी
विज्ञान समझना चाहिए। धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाशस्ति,
जीवास्तिकाय आदि ज्ञेय पदार्थो के निमित्त में ज्ञायक के
विज्ञान-सम्बन्धी पांच वर्गीकरण के रूप में अंग बन जाते
है। जीवास्तिकाय की अवस्था तो ज्ञेय तथा ज्ञायक उभय
रूप में बन जाती है। दोनों अवस्थाएं वास्तविक
रूप में जीवतत्त्व के स्वभाव रूप में है।

{2180}

जब आत्मा
की ज्ञान दशा
सुषुप्त होती है-कर्मठता
जागती नही है तो उसकी
अपनी असली
अनुभूति भी शिथिल
बनी रहती है।

{2181}

सर्वाङ्गिण समता
प्राप्ति के लक्ष्य के साथ
भी यही तथ्य जुडा हुआ है।
आवश्यकता है कि लक्ष्य के
अनुसार सही दिशा में जीवन
को मोडा जाय तथा ज्ञान व
आस्थापूर्ण आचरण से
आगे बढा जाय।

{2182}

जीवन की कला जल्दी मस्तिष्क मे
प्रवेश नही कर पाती। उसको प्रवेश कराने के
लिये निरन्तर प्रयास अपेक्षित है। अभ्यास के रूप में
नियमित समय पर प्रयत्न होने चाहिए। समय की नियमितता
नितान्त आवश्यक है। समय की अनियमितता के कारण
जीवन–कोशिकाएं नियमित कार्य नही कर पाती। एक कार्य
मे अनियमितता के कारण अस्त–व्यस्तता बनती है, तो उसका असर अन्य
कार्यों पर भी पडता है। वे भी नियमित रूप से नही बन पाते। इस प्रकार से
भी कार्यों के अनियमित बन जाने से स्वास्थ्य पर भी घातक प्रभाव होता है।
साथ ही मस्तिष्क
भी व्यवस्थित नही रह पाता। मस्तिष्क की सुव्यवस्था
के बिना जीवन–कला व्यवस्थित नही बनती एवं
उसके बिना जीवन ही व्यर्थ हो जाता है।

मन के तीन स्तर है– जघन्य, मध्यम
तथा उत्कृष्ट। जघन्य स्तर की भावना इति
कमजोर तथा कच्ची होती है। जघन्य भावना में
जब कुछ परिपक्वता बढ़ती है एवं मध्यम स्तर तक
पहुँच जाती है तब वचन में भी परिणित हो सकती है। जब
मध्यम भावना में भी अत्यधिक तीव्रता बढ़ती है, तब उत्कृष्ट
की सीमा को छूती है। वैसी दशा में काया में भी परिणित
होने लगती है। उसमें भी अति तीव्र वेग बढ़ता है, तब
कायादि समग्र शरीर के अवयवों में उसकी चमक व्याप्त
हो जाती है। वही अवस्था सही परिपक्व–अवस्था
कही जा सकती है। उसी में वचन व
काया का प्रभाव पूरा बहता है।

{2183}

{2184}

विषमताजन्य
परिस्थितियों में डोलायमान
रहते हुये वह बाह्य वातावरण
से इतना प्रभाविक बनता है कि अंतर
में झांकने की उसे भावना नही होती
और अन्तर में नही झांके तो इस
''मैं'' को कैसे देखे या उसकी
अनुभूति कैसे ले ?

{2185}

जिसके आश्रय
से ये शरीर हैं वह
''मैं'' है आत्मा है।

आत्मा शरीर
रूपी इंजन का
ड्राइवर है।

{2186}

जीवन की आन्तरिक धरा पर चलना
सरल नही हैं। वहां पर चलना जिसने सीख लिया,
उसने जीवन की सफलता पा ली, ऐसा कहा जा सकता है। जिसने
आंतरिक धरा पर चलना नही सीखा, और अन्य कितनी कुछ भी उपलब्धि
यॉ प्राप्त कर ली हों, उसके लिये ऐसा नही कहा जा सकता कि उसने
जीवन की सफलता पाई हैं, क्योंकि आंतरिक गति के बिना बाह्य गति
सिर्फ मकान को बाहर से पोतना और अन्दर में गन्दगी भरी रखने के
समान है। यदि बाह्य गति आन्तरिक गति पूर्वक बने, तो दोनों
जीवन के वास्तविक पंख बन सकते हैं।

{2187}

''मैं'' शरीर
में बैठा हैं, फिर
भी शरीर से अलग से
और शरीर से अलग है, और
शरीर के ऊपर है, क्योंकि यह
''मैं'' नही
तो शरीर नही।

{2188}

प्रत्येक मानव
अपने आपको ''मैं''
ही तो कहता है, किन्तु
वह अपने इस ''मैं'' को गलत-
गलत जगहों पर आरोपित करता
हुआ उसकी वास्तविकता से
विस्मृत बना रहता है।

एकत्रित समस्त शक्तियों को सम्मुख
रखने पर सब शक्तियाँ सध जाती है। विभिन्नाश्रित
सर्व शक्तियाँ नही सध सकती। क्योंकि अपूर्ण साधन अवस्था
में साधन-शक्ति सीमित होती है। सीमित शक्ति अनेक केन्द्रों को पकडने में
असमर्थ रहती हैं। विभिन्न विभागों में विभक्त हो जाने से एक तक भी नहीं पहुँच
पाती, फलस्वरूप कुछ भी सध नही पाता। बल्कि उस अपूर्ण साधना-शक्ति का
ही हास हो जाता है, फिर तो कुछ भी संभल नही पाता। यदि अनेकाश्रित उसी
अपूर्ण शक्ति को एक ही केन्द्र से सही तरीके से सम्बन्धित कर दिया जाय, तो
वही शक्ति असीम पूर्णता को प्राप्त हो जाती है। फिर भी विभिन्न अनेकानेक
केन्द्रों को भी भली-भाँति जाना, देखा जा सकता है।
ऐसा होने पर भी शक्ति का हास नही हो पायेगा, कारण कि अब वह असीम,
पूर्ण हो चुकी है। अतः अपूर्ण अवस्था की शक्ति को व्यवस्थित रूप से पहले
अनेकाश्रित एक केन्द्र से
सम्बन्धित करना नितान्त आवश्यक है।

भाव मन की शक्ति को पहचानने
के लिये भगवान के साथ रहने वाले विकारों
को दूर करना परम आवश्यक है। वे विकार वास्तविक
स्वरूप को नही समझने, भय, असत्य, अब्रह्मचर्य, नाशवान
पदार्थों पर मूर्च्छा, यश-कीर्ति, आदि अनेक प्रकार के होते हैं।
वे उस मानसिक शक्ति के सही स्वरूप को समझने में बाधक बन जाया
करते है। यही कारण है कि मानव का जीवन
अस्त-व्यस्त बना हुआ है। इसी अस्त-व्यस्त दशा में मानव
अपने जीवन पर नियंत्रण नही रख पाता। बिना नियंत्रण के
विश्व के विभिन्न पैतरों को समझ नही पाता तथा
उनमें होने वाली हलचल, आवाजें, अनेक तरह
के दृश्य, वास्तविक स्वरूप की पहचान एवं
उसकी प्राप्ति नही होती है।

{2190}

{2191}

वे अच्छे-अच्छे
ज्ञानी और कर्मठ
लोग भी भटक जाते हैं,
जो आत्म-दर्शन की अवहेलना
करते हैं और उन्हें सब कुछ
करने के बावजूद भी अपने
ही "मैं" की अनुभूति
नही होती।

{2192}

शांति
प्राप्ति के
लिये जीवन में
समता भावना
को अंगीकार
करना होगा।

{2193}

वंश-परम्परा से किसी का मन मजबूत हैं,
तो समझना चाहिए, उसकी कोशिकाएँ भी व्यवस्थित,
सुस्थिर एवं दृढ हैं। उनमें सहसा परिवर्तन नही लाया जा
सकता। उनमें परिवर्तन लाने के लिए विशिष्ट अभ्यास एवं विशिष्ट विज्ञान की
आवश्यकता रहती हैं। क्योंकि परिवर्तन मन में आता है, फिर कोशिकाओं में।
मन में यदि परिवर्तन नही आया, तो कोशिकाओं पर कुछ भी असर होने वाला
नही हैं। क्योकि उनकी चाबी मन के पास है। अतः अपेक्षाकृत दृढ मन पर
असर लाने के प्रयत्न दोनों तरह के हो सकते हैं। अच्छे और बुरे। अच्छे
से अच्छा और बुरे से बुरा प्रभाव पडता है।

{2194}

चैतन्य का
स्वभाव ज्ञान एवं
शक्ति रूप है एवं
उसका अस्तित्त्व
अजरामर हैं तो जड
ज्ञान शून्य एवं निर्जीव
होता है और नश्वर
भी होता है।

{2195}

जीवन में जब
मूर्छा, अज्ञान और पतन
समाया रहता है तब उसका
"मैं" इतना कुछ बन जाता है कि
न तो वह खुद ही जगता है
न जगाने का काम भी
कर सकता हे।

मानव-मन प्रायः अपनी अवस्था को नही समझ पा
रहा है कि मै क्या कर सकता हूं और क्या नही कर
सकता हूं। मन की दो दशाएं हैं - एक द्रव्यमन की, दूसरी
भावमन की। द्रव्यमन (मेटर) द्रव्यों की प्रधानता से निर्मित हैं। भावमन शाश्वत
शक्ति के पर्यायस्वरूप है अर्थात् उसे अमर शक्ति का एक प्रकार कह सकते
हैं। भावमन की प्रेरणा से द्रव्यमन की हलचल संकल्प-विकल्प आदि प्रक्रिया
बना करती हे। द्रव्यमन स्वयं यानी भावमन बिना स्वयं को या स्वयं के विषय
को क्या कर सकता हे, क्या नही कर सकता हे, इत्यादि कुछ भी नही समझ
सकता, क्योंकि एतद्-विषयक क्षमता उसमें नही रह पाती। यह विषय मुख्यतः
भावमन का हैं। भावमन ही इस विषय में भली-भॉति सोच सकता हं, पर प्रारम्भ
में उसे भी द्रव्यमन की शक्ति भी उपयोग में लेनी पडती हं क्योंकि प्रारम्भ में
वह भी
एक दृष्टि से अपंग रहता है। अतः भावमन की
प्रधानता से ही द्रव्यमन कार्यकारी होती हे।

वैज्ञानिक खोज के अनुसार कोशिकाएं,
क्रोमोसोम, जीन आदि शरीररचना के महत्वपूर्ण
अंगों - स्कन्धों के पर्यायवाची नाम कहे जा सकते हैं।
इनकी एक के अन्दर एक गहन रचना बन जाती है।
सामान्य विकास में ही जनसम्पर्क अधिक विकसित हो जाने
पर विकासमान के पूर्व विकास की न्यूनता एवं भावी विकास में
अवरूद्धता स्वाभाविक-सी है। क्योंकि न्यून स्तरीय दृष्टिकोण
बन जाता है, उसमें विकास का शिथिल होना अधिक सम्भव है तथा
अभिमान की मात्रा बढ जाना भी सम्भवित है। सोचने की गति बदल जाती
है। वह सोचने लगता है कि मेरे समकक्ष
अन्य कोई है ही नही। दुनिया की अधिक बुद्धि मेरे पास है। अन्य सब
जगत में मेरे से न्यून है। इस प्रकार का
सोचना ही भावी विकास को अवरूद्ध बनाना है।

जैन

{2198}

यह स्पष्ट सत्य है कि जिसका आकार मन में बसाया जाता है, वह आदमी भी एक दिन उसी रूप में बन सकता हैं। जिस प्रकार दर्पण के सामने जैसा बिम्ब होगा वैसा ही उसमें प्रतिबिम्ब पडता हैं। यदि सामने राक्षस का बिम्ब होगा तो दर्पण में भी राक्षस का ही प्रतिबिम्ब पडेगा। इसी प्रकार जिस व्यक्ति का मन जिसके प्रति सर्वथा रूप से अनुरक्त होता है तो उससे उस व्यक्ति की आत्मा प्रभावित हुए बिना नही रहती है।

{2199}

जो दूसरों का व्यवहार मुझे अपने लिए अच्छा नही लगता है, वैसा व्यवहार में अन्यों के साथ कभी नही करूं।

{2200}

मानव जीवन कितना महत्वपूर्ण हैं, इस विषय में प्रायः बहुत कम सोचा जाता है। यही कारण है कि इससे वास्तविक कार्य नही बन पाता और अति ही स्वल्प समय में इसे विशीर्णप्रायः बना दिया जाता है। विर्शाण बनाने वाला अन्य कोई नही, स्वयं शरीर का अधिष्ठता ही है। क्योंकि वह अपनी शक्ति को भूला हुआ किंकर्तव्यविमूढ बन रहा है। सभी ओर से शोरगुल की आवाजें टकरा रही हैं। विविध विचार उसके सामने आ रहे हैं। उनका समन्वय नही कर पाने से जटिल समस्या में उलझ रहा है। इससे उपराम पाना आवश्यक है।

{2201}

चेतना जब तक है, शरीर को जीवित कहा जाता है और जब तक वह जीवित है तब तक जीवन है तथा जीवन की समाप्ति का नाम ही मृत्यु हैं।

{2202}

जिस प्रकार क्रोध करने वाला व्यक्ति जिस पर क्रोध कर रहा है, गुस्स में उबल कर अनर्गल बोल रहा है। वह व्यक्ति उस सामने वाले व्यक्ति के क्रोध को शांत भाव से सहन कर लेता है, तो उसका तो कुछ नही बिगडता, बल्कि उसके तो शक्ति संचित होती है। पर क्रोध करने वाले व्यक्ति की शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक सभी तरह से हानि होती हैं।

{2203}

जव तक शुद्ध विचारों में विचारों
का प्रवाह व्यय होता रहेगा, तव तक
विश्वविलोकनीय दिव्य विचारों का संचय नही हो
पायेगा। क्योंकि विचारप्रवाह के कई रूप हैं-एक विचार
व्यर्थ के कार्यो में लगता हैं-इसने यह वोला, उसने यह
वोला, इसमें मेरा अपमान हुआ, इसने मेरा सत्कार किया, यह मेरा
हित करने वाला हैं, यह अहित करने वाला है, इत्यादि निष्कारण
विचारों की आँधी में उडता रहता है। न वस्तुस्वरूप को समझता है,
न तथ्य का विज्ञान प्राप्त
करता है। ऐसी अवस्था में वहुमूल्य विचार शक्ति व्यर्थ में
खर्च हो जाने से वास्तविक कार्य के लिये शक्ति अवशेष
नही रह पाती, उस शक्ति के अभाव में जीवन व्यर्थ
ही इधर-उधर के प्रवाह में वह जाता है।

मानव की कोशिकाएँ विचित्र संस्कारों
से युक्त बनी हुई हैं। समय-समय पर
उनमें विभिन्न-विचित्र संस्कारों का परिवर्तन, बनना-
बिगडना, आदि प्रक्रिया भी चालु रहती है। कमजोर मन
इन पर पूरा नियंत्रण नही कर पाता, पूरा नियंत्रण नही बनने
से कोशिकाओं के यथेष्ठ परिवर्तन मे अन्तर नही आता और
उनके अनियंत्रित परिवर्तन होते रहने से किसी भी अभीष्ट
कार्य में इच्छित फल की उपलब्धि नही हो पाती। इच्छित
फल के अभाव में मानसिक हीनभाव एवं मानसिक वृत्तियों के
बिखरे रहने की दशा प्रायः चालू रहती हैं। इससे मानव-जीवन की महत्वपूर्ण
विशिष्ट शक्तियां व्यर्थ ही अस्त-व्यस्त बन कर नष्ट हो जाती हैं। इस प्रकार
आत्मा के माध्यम की दुर्दशा
होने से आत्मा न स्वयं की उपलब्धि कर पाती
और न अन्य की ही समझ पाती हैं।

{2204}

{2205}

सुख से जीने के लिये
सबसे पहले अपने विचारों को
परिष्कृत करने की नितान्त आवश्यकता
है। जब पानी की टंकी में रहने वाला पानी
फिल्टर होगा, तभी नलों के माध्यम से आने
वाला पानी भी साफ-स्वच्छ आयेगा। यदि टंकी
का पानी साफ नही हैं तो नलों में आने वाले
पानी में तो स्वच्छता आ ही नही सकती।

{2206}

यह जीव
संसार में इसलिए
है कि अजीव के साथ
बंध कर जिस प्रकार
के कार्य यह करता है उसके
फल का भुगतान भी इसको
करना पडता है।

{2207}

समय और परिस्थिति के अनुसार इन्सान
परिवर्तित होता है। उसके सामने वैसा वातावरण
होता है, वह उसी के अनुकूल अपने विचारों को ढालता है
और प्रतिकूल वातावरण को भी समयानुसार बदलने की चेष्टा करता है। वह
उसको परिवर्तित कर सकता हैं, किन्तु सवर्था
नष्ट नही कर पाता। यह सब मध्यम श्रेणी के विचारकों की परिस्थिति हैं।
मगर जो वस्तुतः सत्यशोधक एवं विवेकशील पुरुष हैं, वह स्वयं पवित्र
अन्तःकरण को सामने रखकर निर्लिप्त विशाल दृष्टि से नवीन वातावरण
तैयार करता है। वह किसी प्रवाह
या उत्तेजित वातावरण में नही बहता, किन्तु
निश्चल धैर्य के साथ आगे बढता हैं।

{2208}

आत्मा अपने
कर्म के अनुसार
पुनः-पुनः नया शरीर
धारण करती है अथवा
कर्मविमुक्ति हो जाने
पर मोक्षगामी
बनती हैं।

{2209}

जब आत्मा अपने
स्वरुप को क्षायिक सम्यक्त्व
के साथ जान लेती हैं, और एक
बार भी उसे आत्मशक्ति की अनुभूति
हो जाती है, आत्मरस में वह अवगाहन कर
लेती हैं, तब वह तीन काल में
भी अपने आत्मिक स्वरुप को
भूल नही सकती हें।

{2203}

जब तक शुद्ध विचारों में विचारों
का प्रवाह व्यय होता रहेगा, तव तक
विश्वविलोकनीय दिव्य विचारों का संचय नही हो
पायेगा। क्योंकि विचारप्रवाह के कई रूप हैं-एक विचार
व्यर्थ के कार्यो में लगता हैं-इसने यह बोला, उसने यह
बोला, इसमें मेरा अपमान हुआ, इसने मेरा सत्कार किया, यह मेरा
हित करने वाला हैं, यह अहित करने वाला है, इत्यादि निष्कारण
विचारों की आँधी में उड़ता रहता है। न वस्तुस्वरूप को समझता है,
न तथ्य का विज्ञान प्राप्त
करता है। ऐसी अवस्था में बहुमूल्य विचार शक्ति व्यर्थ में
खर्च हो जाने से वास्तविक कार्य के लिये शक्ति अवशेष
नही रह पाती, उस शक्ति के अभाव में जीवन व्यर्थ
ही इधर-उधर के प्रवाह में बह जाता है।

मानव की कोशिकाएँ विचित्र सस्कारों
से युक्त बनी हुई हैं। समय-समय पर
उनमें विभिन्न-विचित्र संस्कारों का परिवर्तन, बनना-
बिगडना, आदि प्रक्रिया भी चालु रहती है। कमजोर मन
इन पर पूरा नियंत्रण नही कर पाता, पूरा नियंत्रण नही बनने
से कोशिकाओं के यथेष्ठ परिवर्तन मे अन्तर नही आता और
उनके अनियंत्रित परिवर्तन होते रहने से किसी भी अभीष्ट
कार्य में इच्छित फल की उपलब्धि नही हो पाती। इच्छित
फल के अभाव में मानसिक हीनभाव एवं मानसिक वृत्तियों के
बिखरे रहने की दशा प्रायः चालू रहती हैं। इससे मानव-जीवन की महत्वपूर्ण
विशिष्ट शक्तियां व्यर्थ ही अस्त-व्यस्त बन कर नष्ट हो जाती हैं। इस प्रकार
आत्मा के माध्यम की दुर्दशा
होने से आत्मा न स्वयं की उपलब्धि कर पाती
और न अन्य की ही समझ पाती हैं।

{2204}

{2205}

सुख से जीने के लिये
सबसे पहले अपने विचारों को
परिष्कृत करने की नितान्त आवश्यकता
है। जब पानी की टंकी में रहने वाला पानी
फिल्टर होगा, तभी नलों के माध्यम से आने
वाला पानी भी साफ-स्वच्छ आयेगा। यदि टंकी
का पानी साफ नही हैं तो नलों में आने वाले
पानी में तो स्वच्छता आ ही नही सकती।

{2206}

यह जीव
संसार में इसलिए
है कि अजीव के साथ
बंध कर जिस प्रकार
के कार्य यह करता है उसके
फल का भुगतान भी इसको
करना पडता है।

{2207}

समय और परिस्थिति के अनुसार इन्सान
परिवर्तित होता है। उसके सामने वैसा वातावरण
होता है, वह उसी के अनुकूल अपने विचारों को ढालता है
और प्रतिकूल वातावरण को भी समयानुसार बदलने की चेष्टा करता है। वह
उसको परिवर्तित कर सकता हैं, किन्तु सवर्था
नष्ट नहीं कर पाता। यह सब मध्यम श्रेणी के विचारकों की परिस्थिति हैं।
मगर जो वस्तुतः सत्यशोधक एवं विवेकशील पुरुष हैं, वह स्वयं पवित्र
अन्तःकरण को सामने रखकर निर्लिप्त विशाल दृष्टि से नवीन वातावरण
तैयार करता है। वह किसी प्रवाह
या उत्तेजित वातावरण में नही बहता, किन्तु
निश्चल धैर्य के साथ आगे बढता हैं।

{2208}

आत्मा अपने
कर्म के अनुसार
पुनः-पुनः नया शरीर
धारण करती है अथवा
कर्मविमुक्ति हो जाने
पर मोक्षगामी
बनती हैं।

{2209}

जब आत्मा अपने
स्वरूप को क्षायिक सम्यक्त्व
के साथ जान लेती हैं, और एक
बार भी उसे आत्मशक्ति की अनुभूति
हो जाती है, आत्मरस में वह अवगाहन कर
लेती हैं, तब वह तीन काल में
भी अपने आत्मिक स्वरूप को
भूल नही सकती हैं।

{2210}

आन्तरिक मानस की स्थिति प्रतिक्षण
परिवर्तनशील कही जा सकती हैं, क्योंकि प्रतिक्षण
परिवर्तनशील विषय सामने आता रहता है और विषय के
परिवर्तन से विषयी भी परिवर्तन-स्वभाव वाला बनता रहता है।
इससे दीर्घकाल तक आन्तरिक अवस्था भी स्थायित्व को प्राप्त
नही हो पाती। यह भी एक कारण है कि परिवर्तनशील जीवन
को एक ही रूप में दीर्घ काल तक रोका नही जा सकता। हॉ,
रूपान्तरण के माध्यम से सुदीर्घकाल तक बनाया जा सकता है। पर वह
कला सही रूप में आन्तरिक मानस में आनी चाहिए।
विचारों के केन्द्र की किरणें अन्तर-मानस में व्याप्त रहती हैं,
उन्ही की बदौलत परिवर्तनशील आन्तरिक मानस की समग्र
हलचल व्यवस्थित रूप से सक्रिय रहती है। रूपान्तरिक होने
पर भी प्रायः सादृश्य अवस्था परिलक्षित होती है।
इससे कभी भ्रमित भी बना जा सकता है।

बह्मचर्य के वास्तविक परमार्थ को यदि
सन्मुख रखा जाय, तो जीवन का नक्शा कुछ
और ही बन सकता है। शरीर से निकलने वाला वीर्यप्रवाह
निष्कारण नही होता। उसमें कारण अनेक हो सकते हैं। पर
मुख्य कारा दो होते हैं। एक विचार और दूसरा वय यानी शरीर की
अवस्था-विशेष। इन दोनों में भी विचारों की ही प्रमुखता मानी जा सकती है।
क्योंकि विचारों के भी संक्षिप्त में दो रूप रहते हैं,
जिनको ज्ञात और अज्ञात के नाम से पुकारा जा सकता है। उनमें से, यानी
ज्ञात और अज्ञात विचारधाराओं में से, किसी भी अवस्था में अब्रह्मचर्य की
ओर मुडने पर वीर्य पदार्थ के स्खलित होने का प्रसंग प्रायः बनता है। यद्यपि
विचारों के मोड में अनेकानेक कारण हैं, पर उनमें भी शरीर के अवयवों की
एक अवस्था विशेष को प्रबल कारण कहा जा सकता है। जिससे
विचारों का मोड प्रायः बन जाया करता है।

{2211}

{2212}

आत्मिक गुणों का विकास भी अति आवश्यक है। संयमानुरंजित धैर्य और साहस से अपने जीवन में जो मनुष्य गतिशील है,उसका जीवन निरन्तर सुसफल बनता जाता है। और वीतरागदेव की आज्ञा का अन्तरंग स्थिति के साथ परिपूर्ण समर्पणा के साथ पालन करने का आत्म पुरुषार्थ जागृत होकर अन्त में परमात्म, स्वरूप को अभिव्यक्त कर देता है।

{2213}

जीवन में शुभ विचार आने पर ही कार्य तदनुकूल बन सकता है। शुभ विचार के लिए स्वाध्याय आवश्यक है।

{2214}

किसी भी वस्तु की विशेषता उसकी विपुलता में एवं वर्णता में नही, किन्तु उसके विशिष्ट महत्व पर निर्भर हैं। वह विशिष्ट महत्व बाहर से नही आता। वह तो आन्तरिक शक्तियों से ही विकसित होकर पल्लवित होता है। एतदर्थ उन शक्तियों को सम्यक्रीति से विकसित करने हेतु सत्कार पूर्वक दृढ संकल्प के साथ अभ्यास में लग जाना चाहिए। अभ्यास नियत समय के साथ प्रारम्भ करके उत्साहपूर्वक बढना इसमें निरन्तर ही आदत बन जाय वैसा प्रयास करना इति आवश्यक है। अन्य सब विषय गौण बनने पर ही यह विषय अधिक स्फुट हो सकता है।

{2215}

आत्मानुभूति की जागरणा का रहस्य इस वस्तुस्थिति को समझने में रहा हुआ है कि एंजिन ड्राइवर को चलाएं या ड्राइवर एंजिन को चलाये।

{2216}

अपने लक्ष्य के प्रति समर्पित होकर चलें, चाहे कितना भी आपदाएं आ जायें तो भी अपने लक्ष्य से विचलित न हों, तीर्थकर भगवन्तों की आज्ञाओं में बिना किसी प्रकार की शंका के परिपूर्ण रूपेण समर्पणा बनाए रखें और तदनुरूप हमारी जीवनचर्या को गतिशील वनाये रखे तो इस सम्यक्त्व के प्रथम आचार ''निशंकित'' से एक न एक दिन अपनी सम्पूर्ण आत्म ऋद्धि को प्रकट कर सकने में समक्ष वन जायेंगे।

{2217}

किसी भी वास्तविक प्रयास के
फल-स्वरूप मानव यदि अन्तः स्थल पर
पहुँच जाता है और वहां कि सत्वसंपन्न शक्ति
को भली-भॉति पहचान लेता है, तो उसकी सब वृत्तियों
में परिवर्तन आ जाता हैं। उसकी दृष्टि, उसका बोलना,
सूनना, मनन करना आदि अन्य प्राणियों से विलक्षण
होंगे। आन्तरिक सत्व-सम्पन्न व्यक्ति अमूल्य शक्ति का
जनसाधारण की तरह अपव्यय नही होने देगा। वह उसका
सत्यप्रयोग भी दिव्य एवं भव्य, विशाल तथा व्यापक वास्तविक
जीवन-निर्माण को सम्मूख रखकर उसके अनुपात से
करेगा, जिससे समग्र जीवन उसी सत्व-सम्पन्न
शक्ति के रूप में परिणत कर पायेगा।

जब आज के वैज्ञानिक मन की
कोशिश से हजारों मिल दूर रहले वाले
व्यक्ति को प्रभावित कर सकते हैं तो क्या उस
शक्ति से आत्मा प्रभावित नही होती ? बल्कि यों
कहना चाहिए कि दूसरा व्यक्ति बाद में प्रभावित होगा,
पहले उसकी खुद की आत्मा प्रभावित होगी। जिस
मालिक के लिये नौकर फूल तौडकर ले जा रहा है, वह
मालिक तो फूल को हाथ में आने पर ही सूंग सकेगा,
पर उसके पहले वह नौकर सुगन्ध को ले लेता
है। वैसे ही हमारे विचारों से सबसे पहले
हम ही प्रभावित होते हैं।

{2218}

{2219}

वर्तमान का समय ही
अत्यन्त महत्वपूर्ण है, क्योंकि
अतीत का समय बीत चुका है,
इसलिये उसका कोई अस्तित्व नही रह गया है
और भविष्य का समय अभी
आया नही हैं और वह अपने लिए इस
रूप में आएगा भी या नही,
यह भी निश्चित नही हैं।

{2220}

शरीर का आत्मा
का अनुशासन हो या
वह शरीर के अनुशासन
में दबी रहें? अनुशासन का
झगडा इसलिए है कि जड
और चेतन दोनों मिलकर भी
सही दिशा में अपना-अपना
स्वभाव
नही छोडते।

{2221}

इसी स्व-पर ज्ञाता शक्ति की
उपस्थिति में वृत्तितत्त्व के माध्यम से यथास्थान,
यथायोग्य अनेकानेक व्यवस्थित अंकन बनते हैं।
उनकी अवधि भी अनेकानेक तरह की बनती रहती है।
उनमें वर्तमान अवस्था से सम्बन्धित स्थिति में वे अंकन
आविर्भाव-तिरोभाव को प्राप्त होते रहते हैं तथा दीर्घकाल
की स्थिति के अंकन का दीर्घकाल की अवस्था में
यथायोग्य रूप में अनुकूल अवसर पाकर आविर्भाव
-तिरोभाव होता रहता है। अतः ये अंकन प्रायः
उसी अपूर्ण विकसित स्व-पर-ज्ञाता शक्ति
के सहचर रहते हैं।

{2222}

वर्तमान युग
में संतोष की
सीमाएँ टूट गयी है
और वितृष्णा व्यापक
हो रही है।

{2223}

जो आत्मा वर्तमान समय
को पहचान कर अपने जीवन को
शुभ कार्यो में नियोजित कर देती है तो उसका जीवन
सफल बन जाता है, अतीत में चाहे जो कुछ
अन्याय-अनीति, अधर्म आदि कार्य किये हों, किन्तु
जब उसकी आत्मा उन सब कुद को हेय समझकर
उन्हें छोडकर अहिंसक कार्यो में लग जाती है, अपने
वर्तमान जीवन को सजा-संवार लेती हैं तो उसका
भविष्य का जीवन भी सज-संवर जाता हे।

{2224}

वीतराग देव ने जो सिद्धान्त व
समाधान दिये हैं उन सिद्धान्तों को जीवन
में रमाकर प्रत्येक मनुष्य यदि अपने जीवन
की समस्याओं का हल करें तो उसकी सारी समस्याएं
हल हो सकती हैं। वह अतीव शांति का अनुभव कर
सकता है। जो अंशाति की अनुभूतियाँ वह कर रहा है,
उसका निर्माता वह स्वयं है। वह यदि स्वयं के निजी स्वरूप
को सम्यक् रूप से समझ लेता है तो उसको
ज्ञात हो सकता है कि दुनियां में सुख–दुःख
उत्पन्न करने वाला कोई दूसरा नही है। वह
स्वयं ही स्वयं के सुख–दु ख का कर्त्ता
है। दूसरे तो निमित्त मात्र हैं।

जो मनुष्य अपना सुन्दर
आचरण रखता है। उसकी प्रतिष्ठा
ऐसी जम जाती है कि जिससे वर्तमान
में किसी प्रकार की कोई कष्ट की स्थिति
जीवन में नही आ सकती भले ही प्रारम्भिक
अवस्था में उसे कष्टों से संघर्ष भी करना पड़े,
पर अपनी सत्यनिष्ठा पर जो दृढ रहता है वह
कष्ट से अपने अशुभ कर्मों को निर्जरित कर
समुज्ज्वल भविष्य के कगार पर आकर खड़ा
हो जाता है, उससे स्वयं का जीवन तो
सौम्य बनता ही हैं, अन्यों पर भी
उसका प्रभाव पड़ता है।

{2225}

{2226}

यह आत्मा आज से नही,
कल से नही, इस जन्म से पर
जन्म से नही पर अनंतानंत जन्मों से
अपने स्वभाव को भूलकर विभाव में
जकडी, कर्मो से परतंत्र हो, जीती चली
आ रही है। उसे स्वभाव में लाने के लिये, कर्मो
को तोडने के लिये संवत्सरी पर्व का सही ढंग से
ज्ञान प्राप्त कर आचरण
में सम्यक् मोड लाना होगा।

{2227}

जो अर्न्तदृष्टि
में शून्य रहकर
केवल बाह्य दृष्टि में भटकता
है, वह विषमता
को ही अधिक
बढाता है।

{2228}

जीवन की प्रत्येक कडी को सुलझाना
अत्यावश्यक है। वे कडिया सूक्ष्म-से-सूक्ष्मतर
भी है, और स्थूल-से-स्थूल भी। दोनों या सब का
परस्पर संबंध और वह भी किसका कहां तक, पहले
किसको किसनेस विलग करना, फिर किनका किनके साथ
मैल करके किस समस्या को कैसे हल करना, उसके पश्चात्
सूक्ष्म-से-सूक्ष्मतर आदि तत्त्वों पर पहुँचकर भी निर्लिप्त
रहते हुए अभीष्ट स्थिति को प्राप्त करना, आदि विषयक
विज्ञान के साथ-साथ उन कडियों के कार्य रूप में
परिणित होने पर वस्तु स्थिति की वास्तविक
दिशा का भान बन सकता है।

{2229}

शुभ लक्ष्य को
लेकर किये गए कार्य
का परिणाम भी यदि
हानिकारक आता है
तो समझों कि ये भी
अच्छे के लिए है।

{2230}

कर्मवाद के आधार
पर प्रेरणा मिलती है कि
जीवन में अच्छे कार्य किये जाय,
श्रेष्ठ विचार एवं वृत्तियां अपनाई जाय
तथा इस "मैं" को पहिचान कर
इसे कर्मो के वन्धन से
मुक्त किया जाय।

{2224}

वीतराग देव ने जो सिद्धान्त व
समाधान दिये है उन सिद्धान्तों को जीवन
में रमाकर प्रत्येक मनुष्य यदि अपने जीवन
की समस्याओं का हल करें तो उसकी सारी समस्याएं
हल हो सकती हैं। वह अतीव शांति का अनुभव कर
सकता है। जो अंशाति की अनुभूतियॉ वह कर रहा है,
उसका निर्माता वह स्वयं है। वह यदि स्वयं के निजी स्वरूप
को सम्यक् रूप से समझ लेता है तो उसको
ज्ञात हो सकता है कि दुनियां में सुख–दुःख
उत्पन्न करने वाला कोई दूसरा नही है। वह
स्वयं ही स्वयं के सुख–दु.ख का कर्त्ता
है। दूसरे तो निमित्त मात्र हैं।

जो मनुष्य अपना सुन्दर
आचरण रखता है। उसकी प्रतिष्ठा
ऐसी जम जाती है कि जिससे वर्तमान
में किसी प्रकार की कोई कष्ट की स्थिति
जीवन में नही आ सकती भले ही प्रारम्भिक
अवस्था में उसे कष्टों से संघर्ष भी करना पड़े,
पर अपनी सत्यनिष्ठा पर जो दृढ रहता है वह
कष्ट से अपने अशुभ कर्मों को निर्जरित कर
समुज्ज्वल भविष्य के कगार पर आकर खड़ा
हो जाता है, उससे स्वयं का जीवन तो
सौम्य बनता ही हैं, अन्यों पर भी
उसका प्रभाव पड़ता है।

{2225}

{2226}

यह आत्मा आज से नही,
कल से नही, इस जन्म से पर
जन्म से नही पर अनंतानंत जन्मों से
अपने स्वभाव को भूलकर विभाव में
जकडी, कर्मो से परतंत्र हो, जीती चली
आ रही है। उसे स्वभाव में लाने के लिये, कर्मो
को तोडने के लिये संवत्सरी पर्व का सही ढंग से
ज्ञान प्राप्त कर आचरण
में सम्यक् मोड लाना होगा।

{2227}

जो अर्न्तदृष्टि
में शून्य रहकर
केवल बाह्य दृष्टि में भटकता
है, वह विषमता
को ही अधिक
बढाता है।

{2228}

जीवन की प्रत्येक कडी को सुलझाना
अत्यावश्यक है। वे कडिया सूक्ष्म-से-सूक्ष्मतर
भी है, और स्थूल-से-स्थूल भी। दोनों या सब का
परस्पर संबंध और वह भी किसका कहां तक, पहले
किसको किसनेस विलग करना, फिर किनका किनके साथ
मैल करके किस समस्या को कैसे हल करना, उसके पश्चात्
सूक्ष्म-से-सूक्ष्मतर आदि तत्त्वों पर पहुँचकर भी निर्लिप्त
रहते हुए अभीष्ट स्थिति को प्राप्त करना, आदि विषयक
विज्ञान के साथ-साथ उन कडियों के कार्य रूप में
परिणित होने पर वस्तु स्थिति की वास्तविक
दिशा का भान बन सकता है।

शुभ लक्ष्य को
लेकर किये गए कार्य
का परिणाम भी यदि
हानिकारक आता है
तो समझों कि ये भी
अच्छे के लिए है।

{2229}

कर्मवाद के आधार
पर प्रेरणा मिलती है कि
जीवन में अच्छे कार्य किये जाय,
श्रेष्ठ विचार एवं वृत्तियां अपनाई जाय
तथा इस "मैं" को पहिचान कर
इसे कर्मो के बन्धन से
मुक्त किया जाय।

{2230}

{2231}

समाधि का तात्पर्य है-जहां मलिन
विचार राग-द्वेष से परिपूरित जो वृत्तियां हैं,
उससे परे हटकर शान्त-दान्त बन जाना, यही सच्ची
समाधि है, साधना जीवन में कितनी हुई और कितनी नही हुई, इसका
रिजल्ट अन्तिम समय में आता हैं, हमारे सुकृत्यों
की परछाया अन्तिम समय में आती है, यदि अन्तिम समय की साधना सुधर
जाती है, तो भव्यात्मा के अनेक जन्म-मरण की स्थिति समाप्त हो सकती है।
बहुत जल्दी मोक्ष प्राप्ति का प्रसंग बन सकता है। अन्तिम समय को सुधारने
के लिए पहले से संथारा को संलेखित करना अति-आवश्यक है। संलेखना
के साथ संथारा की स्थिति जीवन में आती है तभी वह संथारा देहातीत
अवस्था को प्राप्त हो, आत्मरमण के सम्मुख आ
सकता है और वह आत्मा सच्चे अर्थो में
पंडित की पदवी प्राप्त करती हैं।

शास्त्र श्रवण के माध्यम से अपनी
आत्मा को पवित्र बनाने के लिये मन
को अपने अण्डर-वश में करना होगा। जिस
प्रकार कार का ड्राइवर कार को, मालिक की
आज्ञा के अनुसार चलाता है उसी प्रकार इस शरीर
रूपी कार का मालिक यदि आत्मा है तो उसका ड्राइवर
मन है। मन को आत्मा के स्वामित्व में चलना होता
है। यदि आत्मा अपने स्वामित्व को न समझें ओर
मन को वश में नही रखती है तो वह मन
स्वच्छद रूप से भागता हुआ, एक्सीडेंट
की तरह उस आत्मा को भव-परंपरा
के अंधकूप में पटक देता है।

{2232}

{2233}

जिस प्रका पानी किसी व्यक्ति
विशेष का न होकर सम्पूर्ण प्राणी वर्ग
के लिये होता है, वह सभी की प्यास बुझाता है,
उसी प्रकार वीतराग वाणी भी सभी भव्यआत्माओं
की अन्तर की आत्मिक प्यास बुझाने में समर्थ है।
किन्तु आज के मानव इस वाणी को उपेक्षित कर
एक बहुत बडी भूल कर रहे हैं, इस भूल के कारण
ही वे आज तक संसार में भटकते आ रहे है। इस
भूल को हटाने के लिए सम्यक्
दर्शन की अत्यन्त आवश्कता है।

{2234}

नौकरों के
मन में मालिक के
प्रति अनुराग पैदा
करने के लिए मालिक का
नौकर के प्रति
अनुराग पहले
आवश्यक है।

{2235}

इन दिनों पर्यूषण में तो सभी को
यहां दया पालकर सामायिक का भव्य प्रसंग
उपस्थित होना चाहिये। देखिये, अ.भा.साधुमार्गी संघ के
अध्यक्ष चुन्नीलाल मेहता आए हैं, पर सामायिक नही की है। अरे ! मैं इनको
क्या कहूं ? आप जो दूर बैठने वाले खुले मुंह बैठे हैं, उन सभी को मेरा
कहना है कि आप सभी सामायिक करके साधना में आगे बढें। सामायिक का
भव्य प्रसंग उपस्थिति करें ताकि आने वाले जैनेतर भाई-बहिनों पर प्रभु
महावीर के शासन का एकं अनूठा प्रभाव पड सके।
मेहताजी गुरुदेव का संकेत पाकर अगले दिन
से सामायिक में बैठ गये।

{2236}

जुआं, मासं,
शराब, चोरी, शिकार
परस्त्रीगमन, वेश्यागमन
का त्याग करने वाला
व्यक्ति ही ''जैनी''
हो सकता है।

{2237}

साधक यह भी अभ्यास करले
कि इस वक्त निर्जन एकान्त स्थान है,
पर साधनावस्था का प्रसगउपस्थित होगा। उस प्रसंगों पर
समीक्षण ध्यान का प्रयोग किस विधि से हो ? जिससे कि
यह समीक्षण दृष्टि परिमित समय मे ही न रहकर
जन-समुदाय के बीच में भी प्रयोगात्मक रूप से जीवन मे
साकारता धारण करती रहे। जिससे व्यक्ति व्यावहारिक
क्षेत्र मे भी अपना मानसिक संतुलन कायम रख सकें। यही
नही, वह प्रतिकूल व्यवहार को भी प्रतिकूलता
के रूप मे न देख कर समभावपूर्वक
देखने की अभ्यासी वन जाए।

{2238}

पाप मन से पैदा होता है और
भावना में तीव्रता आती है तो वाणी से
कहने लग जाता है । फिर वाणी तक ही सीमित
नही रहता, मन में इतना पक्का विचार हो जाता है
कि - मुझे अब शत्रु को खत्म कर देना है। तब वह
काया में परिणत होने योग्य बन जायेगा। पाप का फल
पाप करने से पहले भी मिल सकता है, और पाप करने के
बाद भविष्य में भी। भविष्य में कुछ साल बाद भी मिलता
है। पाप के फल के पहले मिलने से यहाँ यही तात्पर्य है
कि मानसिक परिणाम दूषित हुए और द्वेष बढा। दुश्मन को
खत्म करने की भावना तीव्र हुई और जब मारने के
लिये पहुँचता है उस समय उसके दुश्मन को
भी ज्ञात हो गया कि यह पुरुष मुझे
मारने के लिए आ रहा है।

स्वच्छ मानसिक तंत्र और पवित्र
आध्यात्मिक वृत्तियों के स्वास्थ्य को सन्मुख
रखते हुए साधक समीक्षण दृष्टि से उस मूर्ख
शब्द को उसी कैप्सूल के रूप में कल्पित करके उसके
भीतर की विकृतियों को मूर्ख शब्द की प्रतिक्रिया पॉइजन
के रूप में देखें और उसका प्रवेश भीतर में न होने दें।
उसके कर्णगोचर होते ही समभाव के साथ उस पर प्रशस्त
चिन्तन प्रारम्भ कर दें। उसी दृष्टि से अनुचिन्तन करें कि यह
मूर्ख शब्द रूप एन्टीबायटिक कैप्सूल मेरे मानसिक तंत्र में
पहुँच कर बिखरा तो मानसिक तंत्र की जितनी स्वच्छता हे,
वह सम्पूर्णतया विकृत हो जायेगी। नियंत्रण क्षत-विक्षत होगा।
मानसिक अशान्ति एवं तनाव के साथ-साथ उस
जाति के उत्कृष्ट विष के तुल्य विद्वेष रूप
पाइजन भीतर पेदा होगा।

{2239}

आज चारों ओर सौन्दर्य प्रसाधनों का प्रकोप फैला
हुआ है । तभी तो शहर, गॉव, अमीर, गरीब, छोटे-बडे,
सब तक यह रोग भीषण रूप लिए हुए है जिसके दुष्परिणाम
में शर्मनाक दुर्घटनाएँ घट रही हैं, क्रूर और घृणित अपराध हा रहे हैं तथा मानवी मूल्यों का चिन्तनीय हास हो रहा है। क्या ऐसे प्रकोप को आप सब मिलकर मिटाना नही चाहेंगे ? सिर्फ सारी वस्तुस्थिति पर गम्भीरतापूर्वक चिन्तन मनन की और इस प्रकोप को मिटा देने के कठिन संकल्प की आवश्यकता है । इसके लिए आप प्रारम्भ में क्या कदम उठावें-उसके कुछ सुझाव दे रहा हूँः-

(१) अहिंसा प्रेमी बहिनें और भाई प्रतिज्ञा करें कि वे अनिवार्य अवसरों के अलावा स्वर्ण या रत्नाभूषणों तथा असंख्य जीवों की घात से बने सिल्क आदि के भडकीले परिधानों का उपयोग नही करेंगे। सोना, चॉदी और रत्न षड्काय के कितने जीवों की घात के बाद प्राप्त होते हैं - यह आप जानें तथा यह भी समझें कि आप इस तरह ऐसी बेशकीमती चीजों का उपयोग करके मानवता विरूद्ध कार्य करते हैं तथा अपने जीवन को खतरे में डालते हैं ।

(२) यह भी प्रतिज्ञा लें कि सौभाग्य सूचक चिन्हों को छोडकर अन्य लिपिस्टिक, स्नो, पाउण्डर, क्रीम आदि हजारों तरह के सौन्दर्य प्रसाधनों में से किसी का भी कभी प्रयोग नही करेंगे। हिंसक सौन्दर्य प्रसाधनों को तो कतई काम में न लें ।

(३) इन प्रतिज्ञाओं के साथ यह संकल्प लें कि यथाशक्ति धन और समय बचाकर इस तरह के अभियानों में लगावें तथा स्वयं अपनी अपनी जगहों पर अभियान छेडे कि कीमती वस्त्राभूषणों तथा सौन्दर्य प्रसाधनों का उपयोग बन्द किया जाय। ये वस्तुतः शरीर मोह को घटाने तथा सादगी अपनाने के अभियान होगें।

इस प्रकार के अन्य अनेक उपाय हो सकते हैं किन्तु मूल उद्देश्य यह है कि यह घातक फैशनपरस्ती खत्म की जाय तथा प्राणियों के खेन से अपने मुँह रंगना बंद हो । यदि वेशभूषा, रहन-सहन
और व्यवहार में सादगी अपना ली जाय तो समूचा
सामाजिक वातावरण ही वदल सकता है ।

{2241}

मानसिक वृत्ति की समग्र धाराएँ यदि अब्रह्मचर्य की
ओर जरा भी न झुकें और वास्तविक निर्धारित कार्य मे निरन्तर
संलग्न बन जायँ तो यह सुनिश्चित रूप से कहा जा सकता है कि द्रव्यवीर्यरूप
धातु की परिस्खना नही हो पाती । क्योंकि द्रव्यवीर्यरूप
धातु की परिस्खलना भाववीर्यरूप आन्तरिक-आभ्यन्तरी शक्ति पर निर्भर है ।
भावरूप आभ्यन्तरीय शक्ति अपने समग्र परिवार के साथ जिस भी कार्य में
निमग्न होगी, उसी के कार्य की साधिकारूप अन्य भौतिक शक्ति में द्रव्यवीर्यरूप
धातु व्याप्त होती रहेगी। यानी भावरूप आभ्यन्तरीय वीर्यशक्ति से द्रव्यरूप वीर्य
नामक धातु को परिवर्तित, परिवर्धित, संक्रमित, रूपान्तरित आदि अनेक
अवस्थाओं में संस्थापित किया जा सकता है । वशर्ते कि इस प्रकार की सही
विधि समग्र पहलुओं से ज्ञात कर सही दृढतर अत्यन्त विश्वसनीय संकल्पूर्वक
निरन्तर अभ्यास में लाई जाय। यह कार्य मानवीय जीवन की सही दिशा की
निर्मल परिस्थिति में शक्य किया जा सकता है ।
अशक्य स्थिति की कल्पना निराधार है ।

सर्व प्राणियों की गति एक-सी नही होती, न
एक-सी गति बनाई जा सकती है जिसको जितना
साधन-सामर्थ्य सामग्री के रूप में उपलब्ध होता है वह
उतना कार्य-सम्पादन कर सकता है । गति का अर्थ सिर्फ शरीर
से चलना मात्र नही है, वरन् शरीरिक, मानसिक, वाचिक, आत्मिक व आध
यात्मिक आदि समग्र परिस्पन्द विकास के रूप में है। समग्र समर्थ सामग्री की
विश्व में कमी नही है, लेकिन कमी है सही विधि के सज्ञथ दृढतम् विश्वास कि ।
उस विश्वास का सही सम्पादन हर प्राणी में हर वक्त एक साथ नही बन पाता ।
अतः एक साथ सब प्राणियों की एक-सी गति नही हो पाती । जिनकी भी गति
जितनी मात्रा में बनें, वह यथा शक्ति, यथावकाश, यथासम्भव, संयोग की पवित्र
भावना रखें लेकिन अन्य प्राणियों की न्यूनाधिक गति देखकर स्वयं की अवस्था में
जरा भी विषमता का प्रवेश न होने दें। इसका पूरा ध्यान रखना तथा अन्य सव
विषयों को तटस्थ भाव से
गोण वना कर मुख्य रूप से स्वयं को सही विधि पूर्वक
निर्माण-कार्य मे संलग्न करना नितान्त आवश्यक हे ।

{2242}

{2243}

भाषा का सुसंस्कारों से विभूषित होना इसी कारण
अनिवार्य माना गया है कि वह सदा सत्य से अनुरंजित
रहे । यही भाषा का विवेक है । भाषा विवेक को विकसित बनाने के कुछ उपाय
इस प्रकार हो सकते हैं :-

(१) कम से कम बोला जाय और जितना अति आवश्यक हो उतना ही बोला जाय । इससे वाणीशक्ति का संचय भी होगा ।

(२) बोलने से पहले दो क्षण सोचकर बोला जाय कि उसे क्या बोलना है और किस विधि से बोलना है । भाषा-विवेक को सतत जागृत रखने का यह कारगर उपाय है ।

(३) मौन रखने की प्रवृत्ति का विकास किया जाय, जिससे विचार एवं आचार शक्तियों को सन्तुलित बनाने का अवसर मिल सकें ।

(४) किसी को कटु, तुच्छ या कष्टकारी वचन न बोले जायें। यह विचार सामने रखा जाय कि कोई दूसरा उसे ऐसा ही कटु, तुच्छ या कष्टकारी वचन बोले तो उसके दिल पर कैसी गुजरेगी ।

(५) एक-एक वचन जो किसी को भी बोला जाय या भाषा का प्रयोग किया जाय, वह झूठे दोषारोपण से युक्त कभी नही होना चाहिये और न ही किसी के रहस्य या गोपनीय तथ्य का उसमें पर्दाफाश हो।

(६) भाषा-विवेक की कसौटी इसमें है कि जो कुछ बोला जाय, वह सदा मिष्ट हो । वचनों में दरिद्रता क्यों ? बोलने में तो पैसा-टका लगता नही है, फिर उसमे कंजूसी क्यों की जाय ? वाणी में मिठास घुला हुआ रहे-यह तो पूरी सरलता से किया जा सकता है।

(७) जो कुछ बोला जाय, वह मिष्ट तो हो, किन्तु इष्ट और हितकारी भी हो, भाषा का प्रयोग करते समय प्रत्येक शब्द ऐसा हो ही तथा उसका उच्चारण भी इसी तरह किया जाय कि वह सामने
वाले को मिष्ट, इष्ट तथा हितकारी प्रतीत हो ।

प्रत्येक प्राणी का स्वभाव विभिन्न पाया जाता है । एक जीव जिह्वा से उच्चरित शब्दों के वातावरण में रहना प्रसन्न करता है । अन्य शाब्दिक कोलाहल से दूर रहना प्रसन्न करता हैं, पर यदि वह आन्तरिक साधनारत है, तो आन्तरिक कोलाहल सुनने लग जाता है। आन्तरिक कोलाहल तो बाह्य कोलाहल से भी अधिक जटिलता को लिये हुए होता है। उस अवस्था में बाह्य तो कुछ भी सुनाई नही देता और आन्तरिक श्रवणधारा प्रवाह से निरन्तर सुनाई देने लगती हैं। ऐसी दशा में साधक अत्यधिक विचक्षण हो, तब तो उस आन्तरिक निरन्तर श्रवण के ऊपर उठकर निष्कर्ष निकाल पायेगा। वरना उसी में उलझ जायेगा । तुष्टि के बजाय अतुष्टि होगी और उद्वग्नि बन जायेगा । जब भी पुनः शाब्दिक कोलाहल में लौटेगा तब अति नीख शांति का अनुभव होगा । क्योंकि शाब्दिक कोलाहल निरन्तर एक-सी ध्वनि में नही होता, पर इस बाह्य वातावरण में भी वास्तविक शांति तो प्रायः नही के तुल्य रहती हैं। इसमें प्रायः सारी दुनिया गोता खा रही हैं तथा आन्तरिक तथ्य को सही रूप में समझना अशक्य-सा बना हुआ है।

विचारों की दुनियां विचारों को विदित नही कर पा रही हैं। विचार ही जीवन का मूल स्त्रोत हैं। इन्ही के आधार पर जीवन का निर्माण या संहार बनना या बिगडना होता हैं। विचारों की जडों में से ही अमृत या जहर बनता है । इस विराट् विश्व में विचारों का विभिन्न वैचित्र विभिन्न रूपों, प्रकारों, कार्य- कलापों आदि के रूप में परिलक्षित हो रहा है । पर आश्चर्य इस बात का है कि मूल तथ्यों को समझा नही जा रहा हैं । ऊपरी - ऊपरी परत को ही सब कुछ समझ लिया गया है। उसी के ऊपर प्रायः समस्त मानव वर्ग तैर रहा है और मान रहा है कि सब पा लिया गया हैं। पर वस्तुस्थिति यही तक सीमित नही है। यह तो एक छोर है, कुछ अंश है । अन्य सभी अंश रहस्यमय गुफा की तह में सन्निहित हैं। उनकी तरफ दृष्टि नही जाने से जीवन की उलझनें बडती जा रही हैं । जो भी यह वोलते हैं कि हम सुलझ गये वे प्रायः अधिक उलझें हुए है । जीवन की वास्तविक गुत्थी सुलझे विना उलझनें समाप्त नही हो सकती । अतः मूल स्त्रोत के रहस्य की ओर वढना नितान्त आवश्यक हे ।

मानव अपनी स्थिति को नही समझने के कारण व्यर्थ की बातों में अपनी मानसिक शक्ति लगाता रहता है और व्यर्थ की कल्पना से रात-दिन सोचा करता है कि वह व्यक्ति मेरा है, मेरी पार्टी का है, मैं उसको अपना बना लूँ, उसके साथ मित्रता कर लूँ, और जो मेरा नही हैं उसकी उपेक्षा कर दूँ, क्योंकि वह मेरे काम में नहीं आता है । अमुक काम तो आता है, पर अन्दर में निन्दा करता है । मेरी जड काटता है । मेरी प्रसन्नता को बर्दास्त नही करता । अतः उससे संबंध प्रकट में न तोड कर उदासीन हो जाना ठीक रहेगा, आदि न मालूम किस-किस को लेकर इतना क्या सोचता है, जिसको वह स्वयं भी नही समझ पाता । और इस प्रकार कि कल्पना से वह अपनी शक्ति को बर्बाद करके चल बसता है । कुछ भी, (सजृनात्मक) कार्य नही कर पाता । यह माननव मन कि बडी कमजोरियों में से एक है इसको समाप्त करने के लिये मन में शुद्ध संकल्प की नितान्त आवश्यकता है । इसके लिये अपने विचारों को साफ करने की पद्धति अपनानी चाहिये। वह यह है कि प्रातःकालीन किसी भी नियत समय में आलस्य को दूर हटाकर एकान्त स्थान में सर्वथा प्रकार से परिपूर्ण सिद्ध प्राप्त आत्मा को नमन कर लक्ष्य स्थिर किया जाय और सर्वथा प्रकार से सभी पापकारी तथा क्षुद्र प्रवृत्तियों का कुछ समय पर्यन्त-परित्याग के दृढ़ संकल्प पूर्वक आचरण में परिणत अवस्था बनाई जाये, ताकि उन प्रवृत्तियों से ऊपर उठने की क्षमता प्राप्त की जा सकें । तदन्तर वास्तविक स्थिति को दृष्टि से विचार किया जाय कि मैं जो कुछ भी सोच रहा हूँ, कर रहा हूँ, उसमें कितना व्यर्थ तथा कितना किस समय तक काम में आने वाला है। इस विषय का भली-भॉति विचार करने पर जीवन की महान् विशालता का अनुभव होने लगेगा और जीवन-विज्ञान की कला बढेगी ।

{2247}

सदा पवित्र विचारों का सिलसिला उच्चतम,
प्रगाढ श्रद्धा के साथ चलते रहने पर जीवन की
अवस्था उसके अनुरूप ढल जाती है । जीवन में श्रद्धा मूलाधार
हैं। श्रद्धा के मूल पर जीवन की भव्य मंजिल बनी हुई हैं। एक दृष्टि से
जीवन-वृक्ष का मूल ही श्रद्धा है । जैसा-जैसा विचार प्रवाह श्रद्धा पूर्वक बनता है,
वैसा-वैसा उसके जीवन-निर्माण का कार्य बनने लगता है । विचार श्रद्धा के
सज्ञथ हैं, तो उसका जीवन कम से कम उत्तम मनुष्य रूप से बन सकता है ।
अमध्यम अवस्था को श्रद्धापूर्ण विचारों से देवरूप जीवन की दशा बन जाती
है । उत्कृष्ट श्रद्धा पूर्वक विचारों का प्रवाह निरन्तर वर्धमान गतिमय चरम सीमा
पर पहुँचने पर उत्कृष्ट जीवन की परम पवित्र दशा का निर्माण कर देता है ।
कम से कम और उत्कृष्ट के मध्य सुश्रद्धा पूर्वक विचार भी भिन्न-भिन्न रूप में
पाये जाते हैं। तदनुसार जीवन स्वरूप
भी वैसा ही बनता जाता है । अतः अपेक्षाकृत मध्यम
जीवन अनेक तरह का बन जाता है ।

निकृष्ट श्रद्धा का परिणाम अति भयंकर होता
है । उससे मानव जीवन दानव जीवन के तुल्य या
पशु जीवन के तुल्य बन जाया करता है। मिथ्याअंधकार
से परिपूर्ण मानव अपने आप को कहा ले जाकर पटकता हैं,
इसकी कल्पना भी साधारण मनुष्य के लिये दुःशक्य सी हैं । श्रद्धा के अनुरूप
ही उसका लक्ष्य बनता है। लक्ष्य ऊपर का भी बनता है और नीचे का भी ।
अधम श्रद्धावान् का लक्ष्य प्रायः नीचा ही बनता है। लक्ष्य के अनुरूप ही चिन्तन,
मनन, निदिध्यासन बनता जाता है। जैसा-जैसा निदिध्यासन बनता जायेगा,
वैसा-वैसा उसके जीवन का परिणाम बनता जायेगा। ऊपर से व्यक्ति कितना ही
उन्नत ज्ञात होता हो, लेकिन लक्ष्य उन्नत नही होने से वह नीचे की ओर ही
जाता है। इस जन्म की अवस्था तो पूर्व जीवन का परिणाम हैं, लेकिन इस
जीवन का परिणाम भावी जीवन बनता है। वह इस जीवन में भी बन सकता है
और अन्य जीवन में भी ।
अतः मानव को श्रद्धा सृजन के क्षेत्र में अति ही
सावधान रहने की आवश्यकता हे ।

{2248}

शारीरिक अवस्था को व्यस्थित
रखना भी आत्म-शक्ति पर निर्भर है । यद्यपि
पौद्गलिक कार्यपदार्थ के अन्दर विचित्र स्वभाव बनता
है, तथा उस स्वभाव का समय पर परिपाक भी होता है।
उस परिपाक के फलस्वरूप विचार आदि अवस्थाओं पर असर
भी हो सकता है। लेकिन उस वक्त या उस परिपाक के पूर्व ही विचारों का
पुट दिया जाय, तो पदार्थो के पूर्व रहस्यमय परिवर्तन आ सकता है। जिस
भी अवस्था के विचार परिपक्व होंगे, उसी अवस्था में पदार्थो का परिवर्तन
किया जा सकता है। अर्थात् इस विराट् विश्व मे आत्मीय शक्ति सर्वोपरि
है । उसका मोड़ सही दिशा की ओर हो, तो समग्र वायुमण्डल में
इच्छानुसार परिवर्तन लाया जा सकता हैं। इस शक्ति का सही अनुभवकर्ता
स्वयं के शरीर में व्याप्त वीर्य नाम के धातु को स्खलित नही होने देकर
अन्य शक्ति में परिवर्तन कर देगा। स्खलित होने देना या नही, इसका
नियंत्रण आत्मीय शक्ति पर निर्भर है। आत्मीय विशेष शक्ति के जागृत नही
होने तक ही अन्य शक्तियॉ
अपना देश अपना कार्य कर गुजरती है और वे
विभिन्न प्रकार की हो जाने से विभन्नता
पैदा कर देती हैं । यही अवस्था प्रायः
प्राणी-वर्ग में चल रही है ।

मानसिक विकारों को
समझे बिना उनका निवारण होना
अशक्यसा है। उनको समझने का कार्य
भी सहज नही है, क्योंकि इन विकारो का
अति सूक्ष्म-से-सूक्ष्म एवं अति स्थूल-से-स्थूल
जाल प्रायः सर्वत्र व्याप्त है । स्वयं आत्मा भी उससे आच्छदित -आवृत्त
है तथा उनका रंग इतना फैला
हुआ है जिससे किंकर्तयविमूढ-सी दशा बन जाया
करती है । ऐसी अवस्था में भावमन अपने आप को पहचानने मे भी
असमर्थ-सा बन रहा है। मैं क्या हूँ?
मेरा अस्तित्व किसके साथ हैं ? मैं किसके आधार
पर कार्य कर पा रहा हूँ ? किस अवस्था से मैं कैसे अपनी वास्तविक
दशा को पहचान पाऊँ ? इस प्रकार इसके साथ अनेक जटिल प्रश्न
उत्पन्न हो जाते हैं।
इन प्रश्नों का हल भी अवश्य बन जाता है। इनका
सही हल आये बिना जीवन सम्बन्धी तमाम समस्याओं
का हल सम्भव नही हैं। सभी समस्याएँ मानसिक
विकारों से बनी हुई है । अतः उनकी जानकारी
करने के लिए सतत् जाग्रत बन कर सही
दृढ संकल्पपूर्वक निरन्तर अभ्यास प्रारम्भ
करना ही श्रेयस्कर है। और वह भी
सत्कारपूर्वक बनना आवश्यक है।

मानव–जीवन में सर्व शक्ति
सम्पन्न बनने के साधन बीज रूप में
विद्यमान रहते हैं। विल पॉवर (आत्मशक्ति)
के अनुपात से विकसित होने का चान्स रहता
है। आत्म शक्ति का मोड़ दृढ़त्तर आन्तरिक लक्ष्य
के अनुकूल प्रायः बन जाया करता है। आन्तरिक
शक्तियाँ जिस कार्य के लिए अत्यन्त तन्मयता के
साथ संयुक्त बन जाती हैं, प्रायः शरीर के महत्वपूर्ण
अंग भी अपने–अपने स्थान पर रहते हुए,उसी कार्य के
सम्पादन में सहयोगी बनते हैं। उस वक्त शारीरिक रस–ग्रन्थियाँ
अपने–अपने स्थान में उसके अनुरूप
रस–संचय में संलग्न बनती हैं। उस रस के स्रावसे
भोजन आदि की अवस्था में रासायनिक प्रक्रिया बनती
रहती हैं, जो कि शरीर की विभिन्न अवस्थाओं में
रसादि रूप में जो धातुओं की अवस्था परिगणित हैं,
उनमें विल पॉवर के अनुरूप कार्य–साधिका की शक्ति
उत्पन्न कर देती हैं। इस प्रकार व्यवस्था निरन्तर रूप से बढ़ती रहे,
तो धीरे–धीरे मानव शरीर में सर्व शक्ति समूह का अवस्थान व्यक्त
होते हुए बीज–वृक्ष का रूप धारण कर सकता हैं। यानि किसी भी
शक्ति के लिये परमुखापेक्षी न रह कर स्वयं वही अन्यों
को शक्ति–प्रदान–विधि के रूप में विधाता
साबित हो सकता हैं। अतः मानव–जीवन
में सही शक्तियों को सावधानी के साथ
विकसित करने की आवश्यकता है।

शक्ति-संचय के पहले
शक्ति-परिक्षण आवश्यक है।
शक्ति-परिक्षण का तात्पर्य शक्ति
पहिचानने से है। रत्नसंचय के पूर्व
रत्न-पहचान-रूप परिक्षण आवश्यक बन जाता
है। पत्थर और रत्न दोनों का ज्ञान तब तक नही
बनेगा तब तक व्यक्ति रत्नसंचय भी नही कर पायेंगा।
आध्यात्मिक शक्ति-रत्न से भी अतिशय महत्वशाली हैं। उसकी
पहचान अन्तर में ही हो सकती है। अन्तर में
पत्थर के समान कई वृत्तियॉ भी विद्यमान है। उनका विज्ञान भी
आवश्यक है। अन्तर में रहने वाली अनेक वृत्तियॉ आन्तरिक शक्तियो
की तरह प्रतिभाषित होती
है। लेकिन उनका निखालस रूप ज्ञात नही हो पाता।
वे अन्यान्य विषयों के रंगों से ओत-प्रोत रहती हैं। उन रंगो की चमक
शक्ति की वास्तविकता को छिपा देती
है। जैसे कॉच की चमक युक्त पत्थर रत्न का आभास कराते रहते
हैं, वैसे ही आन्तरिक शक्तियों की अवस्था बनी रहती है। अन्तर मे
रहने वाली तमाम अवस्था
का सूक्ष्मता से अवलोकन होने पर उनकी
विभिन्न चमक तथा असली और नकली
दशाओं की सही तरीके से पहचान
हो सकती और आध्यात्मिक शक्ति
संचयो का कार्य अतीव
सुलभ बन सकता है।

{2253}

शारीरिक उतार–चढ़ाव को देख
कर मन में उतार–चढ़ाव लाना योग्य
है। मन की महत्वपूर्ण शक्ति का अंकन शरीर
के धरातल पर ही नही होना चाहिए। शरीर का
मन पर असर अवश्य पडता है पर मन का भी तो
असर शरीर पर पड़ता है। शरीर और मन के असर की तुलना की
जाय, तो मन का असर अधिक एवं महत्वपूर्ण सिद्ध होगा। आस–पास
के वायुमण्डल से मन प्रभावित होता रहा है तथा साधरण व्यक्तियों का
मन वातावरण के अनुरूप अपने को बनाने की कोशिश करता है एएवं
तदनुरूप बनकर दृढसंकल्पी बन जाता है। वैसी अवस्था में शरीर की
दशा भी उसी के अनुरूप बन जाया करती है। जंगल में रहने वाली
चिड़िया वैसी ही वर्ण वाली बन जाया करती है, जिन घनी वनस्पतियों
में वे चिड़ियाएँ रहती है। उनका रंग लगभग वनस्पति के रंग का बन
जाया करता है। उस जंगल में
बैठी हुई चिड़िया एकाएक मालूम नही होंगी। जब वे
उड़ेंगी तब ज्ञान होगा कि चिडियाएँ हैं। इससे यह
भली–भॉति सिद्ध हो जाता है कि मन के ऊपर
वातावरण का असर तथा मन का शरीर पर
महत्वपूर्ण असर पडता है। किन्तु
विशिष्ट मन विलक्षण होता है।

आन्तरिक वृत्तियॉ अत्यधिक जटिल,
दुर्गम व दुःसाध्य है। उन पर नियंत्रण के
लिए सावधानीपूर्वक विवेक के साथ तप, जप,
साधना की नितान्त आवश्यकता है। जीवन से सम्बन्धित
समस्त बाह्य वैभव से छूटना यथासम्भव आवश्यक है। साधनावस्था
में सहायक अन्न, वस्त्रादि के अतिरिक्त सभी वस्तुऍ परित्यक्त करने पर आगे
के तपादि कार्य सफलतापूर्वक किया जा सकते है। जिस भी बाह्य वैभव का
त्याग हो, वह आन्तरिक भावनापूर्वक हो, ताकि आन्तरिक वृत्तियों को पहचानने
में अधिक सुविधा रह सकें। बाह्य वैभव का त्याग भी काफी हद तक आन्तरिक
कचरे को साफ रखता है। यह तो सबसे पहले अत्यावश्यक कदम है। इसका
त्याग किये बिना एतद्विषयक आन्तरिक विकृतियॉ हल्की नही बन सकती।
आन्तरिक वृत्तियॉ जितनी हल्की होगी, उतनी ही ऊपर उभरेंगी। जो वस्तु गूढ
ग्रन्थि को तोडकर हल्की बनती है, वह वस्तु ऊपर तैरने लगती हैं। तैरती हुई
वस्तु शीघ्र ही पहचानी जा सकती है एवं पकडकर निकाली भी जा सकती है।
वैसे ही आन्तरिक विकार बाह्य वैभव की पकड़ के साथ भारी एवं अत्यधिक
गहनता में होते हैं। बाह्य वैभव का यथासम्भव, यथाशक्ति त्याग कर देने पर
आन्तरिक विकार की अति
हल्के हो सकते हैं। जब हल्के बनकर तैरने की
अवस्था में आयेंगे, तब पहचानने में शीघ्र आयेंगे
तथा पकड़कर नियंत्रण में भी लिए जा सकेंगे।
वैसी दशा में आन्तरिक वृत्तियॉ सरल,
सुगम्य, सुसाध्य बन जाती है।

{2255}

आज जीवन में अहिंसा के व्यवहार पर अधिक बल
दिया जाना चाहिये। आचरण में जहाँ-जहाँ हिंसा का असर
दिखाई देता हो, उस असर को मिटाने के लिये अहिंसा के व्यवहार
को प्रभावशाली बनाया जाय। अधिकांश व्यक्ति सीधे तौर पर हिंसा से जुडे हुए
नही होते हैं फिर भी उनके कई ऐसे कार्य हो सकते हैं जिनसे व्यक्त या अव्यक्त
रूप से हिंसा पैदा होती या बढती हो। अतः उन कार्यो के प्रति सावधानी दिलाई
जाय ताकि जीवन का समग्र आचरण अहिंसा की शीतलता से आप्लावित हो सके।

इस दृष्टि से यहाँ कुछ उपाय सुझाये जा रहे हैं, जिन्हें अपनाया जाना चाहिये-

१. सप्त कुव्यसनों का त्याग करके आचारण में अहिंसा का समावेश किया जाना चाहिए, क्योंकि इन कुव्यसनों के सेवन से हिंसा का फैलाव होता है तथा पापपूर्ण प्रवृत्तियाँ जटिल बनती है।

२. परिवार और समाज के संचालन में ऐसे सहयोग के लिये सदा तत्पर रहना चाहिये जिससे व्यवसाय-व्यापार सम्बन्धी द्रव्य हिंसा तथा पारस्परिक एकता संबंधी भाव हिंसा कम हो और सरकार की वृत्ति सशक्त बनें।

३. राष्ट्रीय एकता के प्रति समर्पित रहना चाहिये तथा विघटनकारी व उग्रवादी हिंसक प्रवृत्तियों से देर रहते हुए पारस्परिक संगठन और प्रेम भाव को विकसित करने में सहायक बनना चाहिये।

४. देश-विदेशों में शाकाहार को प्रोत्साहित करने के प्रयत्न किये जाने चाहिये और मांसाहारियों को समझाया जाना चाहिये कि हिंसा करके भी उन्हें वे तत्त्व नही मिलेंगे जो पोषक तत्त्व शाकाहार से प्राप्त होते हैं।

५. नई पीढ़ी के अहिंसक निर्माण के उद्देश्य से बालक-बालिकाओं में नैतिक एवं आध्यात्मिक सुसंस्कारों का बीजारोपण किया जाना चाहिए तथा उनकी वैसी ही शिक्षा दीक्षा का प्रबन्ध किया जाना चाहिए।

६. आत्म समानता एवं आत्म स्वाधीनता की प्रेरणाओं का प्रसार किया जाना चाहिये ताकि उसके आधार पर अहिंसा के विधि पक्ष का अधिकाधिक विस्तार हो।

७. इस जीवन व्यवहार की अपनी अन्तःप्रेरणा की ज्योति निरन्तर जलती रहे-अपने निज के आचरण के आदर्श से तो अपनी कर्मठता की निष्ठा से भी। अपने नित्य प्रति की दिनचर्या से अहिंसा की ही झलक मिले-

इसका भी पूरा ध्यान रखा जाय जेसे रात्रि भोजन न करें,
उत्तेजक भोजन न लें आदि।

{2256}
गरीबो
को जो खूब
सताते। दुःख अपना
वे सदा
बढ़ाते।
{2257}
दीनों
की जो मजाक
उड़ावे वे दीनता अपनी
बुलावें
{2258}
साधु
होकर स्वाद न
जीते वे अमृत को
कभी न
पीते
{2259}
साधु
होकर हिंसा
करते वे साधुता नहीं
स्वांग को
रचते।

{2260}
जाति
पांति का भेद
न रखना। गुण कर्म
की वृत्ति
रखना।
{2261}
सच्ची
मित्रता करना
चाहो। स्वार्थ कभी
नहीं उसमें
लाओ।
{2262}
खून
के रिश्ते कभी
न तोड़ो। चाहे तुम
कितने भी
झगड़ों।
{2263}
लोहे
को लोहा ही
काटे देखों भाई
को भाई
मारे।

बहिनों
की जो नहीं
रक्षा करते। वे भक्षक
नहीं सुख से
रहते।
{2264}
{2265}
पशु-पक्षी
भी प्रेम से रहते।
क्या मानव तुम नहीं
समझते।
{2266}
अनुकम्पा
का स्त्रोत बहाओ।
कर्म कीच को बहा ले
जाओ।
{2267}
ज्ञान
का दीपक अपना
जलाओ। अज्ञ अंधेरा
भगाओ।

{2268}
रोग
अपना मिटाना
चाहो, तो मरीजों
का तुम रोग
मिटाओं।
{2259}
सम्मान
यदि तुम
पाना चाहो। अपमान
करने की वृत्ति
हटाओ।
{2270}
दहेज
समाज की वह
ज्वाला है जल गई
उसमें कई बाला
है।
{2271}
दहेज
के लोभी
समझ न पाते कीड़ी न
मार मानव
मरवाते।

प्रत्यक्ष-
परोक्ष में दहेज
जो मांगे नैतिकता
उसे छोड़ के
भागे।
{2272}
{2273}
बन्धन
मुक्ति पाना
चाहो। बगुला
भक्तिछोड़ के
आओ।
{2274}
धर्म-
ध्वाजा फहराना
चाहो तप-संयम
में रमते
जाओ।
{2275}
संगठन
में शक्ति भारी
यक्ष राक्षस की
शक्ति हरी।

{2276}
किसी
जीव को नहीं
सताना सुख शांति
सदा ही
पाना।
{2277}
प्रभु
भक्ति में मन
को लगाना। पापों
से सदा मुक्ति
पाना।
{2278}
बीड़ी
जर्दा कभी न
खाना। सत्संगत
में रोजाना
आना।
{2279}
मांस
मदिरा जो खाता
है महा नरकों में वह
जाता है।

परनारी
को बहिन जो
समझे। इज्जत उसकी
किभी न
बिगड़े।
{2280}
{2281}
भाई-भाई
में प्रेम जो रखते
कभी नहीं वे दुःख
से मरते।
{2282}
कितना
भी छुपा लो पाप
पर होगा एक दिन सही
इन्साफ।
{2283}
अफीम
बोने से नहीं
गन्ना मिलता। दुःख
देने से सुख नहीं
मिलता।

दिया
हुआ नहीं
खाली जाता रखा हुआ
नहीं काम में
आता।
{2284}
{2285}
मानवता
की जो सेवा
करता। सच्चा मानव
वही कहाता।
{2286}
तेरा मेरा
भेद न रखना
मानव–मानव को एक
समझना।
{2287}
पैसे
देकर छूते खाना,
दारू पीकर इज्जत
गंवाना।

{2288}
शाकाहारी
नहीं अण्डा खावें।
मांस समझ उसे दूर
हटावें।
{2289}
दु:ख
दर्दों से हटना
चाहो। मांस कभी
नहीं मुंह में
खाओ।
{2290}
जग
में इज्जत
अपनी चाहों। दान
शील को खूब
कमाओ।
{2291}
प्रीति
भाजन बनना
चाहो। क्रोध कभी
नहीं मन में
लाओ।

{2292}
टेढ़ी
मेढ़ी चाल न
चलना। सरल भाव
से मन को
रखना।
{2293}
कपटी
का कोई मित्र
न बनता। जो होता
नहीं वह भी
टिकता।
{2294}
मान–प्रतिष्ठा
अपनी चाहो। बड़ों
की इज्जत खूब
बढ़ाओं।
{2295}
देश
की रक्षा अपनी
रक्षा। देश की रक्षा
धर्म की
रक्षा।

{2296}
दु:ख
पराए मिटाओगें।
तो सुख शांति को
पाओगें।
{2297}
परिवार
में शांति लाना है।
तो सहनशीलता
अपनाना है।
{2298}
जीवन
का मूल्यांकन
कर लो। धर्म भाव
में उसको रंग
लो।
{2299}
बह्मचर्य
का पालन कर
लो। श्रेष्ठ तप है इसे
समझ लो।
श्री साधुमार्गी जैन श्रावक संघ
गंगाशहर-भीनासर

{2300}
जीवन
को मर्यादित कर
लो। आत्म शक्ति को
उसमें वर
लो।
{2301}
क्रोध
प्रीति का विनाशक
है। सर्प जहर से भी
घातक है।
{2302}
सारे
सद्‌गुण नष्ट
हो जाते। अति लोभ
जब मन में
लाते।
{2303}
विषमता
को दूर भगाओ।
समता से मन को
रमाओ।

{2304}
जीवन
का सही
रूप सजाओ। हिंसा
चोरी जल्दी
हटाओ।
{2305}
चोर्य
कर्म नहीं सुख
को देता। जो होवें,
वह भी हर
लेता।
{2306}
उन्मुक्त
सेक्स दुःख
संवर्धक है। रोष कलह
का प्रवर्धक
है।
{2307}
जहाँ श्रृंगार
की अनुगामिता
है। वहाँ आधुनिकता
नहीं अधोगामिता
है।

{2308}
नेत्रों
में नहीं लाज–शर्म
है। ऐसी महिला
बेशर्म है।
{2309}
करनी
कथनी एक नहीं
है साधुता नहीं वहाँ
रही है।
{2310}
जहाँ
सुकृत्यों पर मांग
रही है। वहाँ सच्ची
सेवा नहीं रही
है।
{2311}
सुकृत्य
कर भूलते जाओ।
आगे से आगे बढ़ते
जाओ।

{2312}
नि:स्वार्थ
भाव से दिया गया
दान। स्वयं के सुख का
विस्तार करता
है।
{2313}
अगर तुम
धर्म नहीं कर सकते
हो। तो जो कर रहे हैं,
उसकी निन्दा मत
करो।
{2314}
क्रोध
की आग
क्षमा के पानी से बुझाई
जा सकती
है।
{2315}
स्वार्थों
से भरी मित्रता,
मित्रता न होकर शत्रुता
पर मित्रता का
आवरण
है।

{2316}
बिना
आचरण का ज्ञान।
गधे पर भार के
तुल्य है।
{2317}
आधुनिकता
के नाम पर अश्लील
आचरण दुःख
प्रदायी है।
{2318}
चिन्ता
चिता है, अतः
चिन्ता नहीं चिन्तन
करो।
{2319}
मन से
भी किसी के प्रति
अशुभ चिन्तन
हिंसा है।

{2320}
मृत्यु
को देखो,
जिन्दगी सफल हो
जाए।
{2321}
बह्मचर्य
सभी तपों में
उत्तम है। तो अबह्मचर्य
मोह महा पाप
है।
{2322}
किसी
को अपना
बनाना है तो उसके
गुणों का कीर्तन
करो।
{2323}
निन्दालु,
इर्ष्यालु, झगडालु
कहीं भी प्रतिष्ठा
नहीं पाते।

{2324}
किसी को
अवगुणवाद करना।
स्वयं को अवगुणी
बनाना।
{2325}
देश
को संस्कारित
करने के लिए महिलाओं
को संस्कारित होना,
पहले आवश्यक
है।
{2326}
अनुकरण
करो, पर
अंधानुकरण
नहीं।
{2327}
सच्चा
धनवान वही
है, जो निर्धनों के
साथ सम्मानजनक
व्यवहार
करें।

{2328}
सच्चा
ज्ञानवान वहीं है,
जो अज्ञानियों को ज्ञानी
बनाने का प्रयास
करें।
{2329}
माता–पिता
की सेवा करना
धर्म का ही एक
अंग है।
{2330}
जो
माता–पिता का
अपमान करता है वह
कभी भी सम्मान
नहीं पाता।
{2331}
पत्नी,
पति की बराबरी
करके अपने दुःख को
आमंत्रित करती
है।

{2332}
राष्ट्र
की रक्षा से ही
धर्म की रक्षा
होगी।
{2333}
जिस
धर्म में अहिंसा
हो, वहीं धर्म मेरा
है।
{2334}
क्रोध
एवं अंहकार में
किये गए निर्णय सही
नहीं माने
जाते।
{2335}
सत्य कभी
कड़वा नहीं होता
और जो कड़वा होता
है, वह संपूर्ण सत्य
नहीं होता।

{2336}
नौकरों
के साथ नौकर
सा व्यवहार न कर भाई
जैसा व्यवहार
करो।
{2337}
संगठन
तभी टिकता है
जहां समर्पण हो। अपनी
बात का हठाग्रह
न हो।
{2338}
किसी
का दुर्गूण बताने
के लिए पहले उसके
सद्गुणों की प्रशंसा
करो।
{2339}
बिना
योग्यता के केवल
पद या उपाधि से
प्रतिष्ठा नहीं
टिकती।

{2340}
मोह या
स्वार्थ के वशीभूत
किये गए निर्णय संगठन
को तोड़ने वाले
होते है।
{2341}
चुनावी
प्रचार अब जनता
को, ज्यादा भरमा नहीं
सकता।
{2342}
जनता
को समझने से
पहले स्वयं को समझना
होगा।
{2343}
राजनीति
पर धर्म का नियंत्रण
आवश्यक है।

{2344}
राजनेता
धर्म नेता के पीछे
चले न कि राजनेताओं
के पीछे धर्म नेता
चले।
{2345}
इंसानियत
के बिना धर्म
क्रियाएं मात्र प्रदर्शन
है।
{2346}
अपना
ही नहीं अपने
परिवार की अपेक्षाओं
का आदर करना भी
सीखों।
{2347}
कम
बोलो, मधुर
बोलो पर सत्य
बोलो।

किसी
पर कटाक्ष
करना। कुटिलता
का परिचायक
है।
{2348}
{2349}
दर्शन
करो, प्रदर्शन
नहीं।
{2350}
प्रवचन
का रस लो,
पर निन्दा का
नहीं।
{2351}
स्वाध्याय
करो, पर अध्याय
नहीं।

{2352}
प्रभु में
लीन बनों, इन्द्रियों
में नहीं, गुण गाओ,
पर स्वयं के
नहीं।
{2353}
मेरा
है, वह सत्य नहीं,
सत्य है वह मेरा
है।
{2354}
भ्रूण
हत्या महा पाप है
देश एवं समाज के लिए
घोर अभिषाप
है।
{2355}
चरित्र
का पतन ही
सबसे बड़ा पतन
है।

{2356}
सम्मान
करोगें, तो सम्मान
पाओगें।
{2357}
जैसा
तुम तुम्हारे लिए
चाहते हो, वैसा ही
दूसरों के लिए
करो।
{2358}
जैसा
कहोगें, वैसा
सुनोगें। जैसा करोगें
वैसा भरोगे।
{2359}
जन्म
लेना छोड़ना
है तो जन्म देना
छोड़ो।

{2360}
बिना
इन्सानियत के
धर्माचरण व्यर्थ
है।
{2361}
धर्म
की सुरक्षा के
लिए राष्ट्र की सुरक्षा
आवश्यक
है।
{2362}
शराब
पिना, पैसे देकर
पागल बनना
है।
{2363}
मांस खाना,
इंसान की प्रकृति
नहीं है मांस खाकर अपने
पेट को कब्रिस्तान
बनाना है।

{2364}
निर्माण
में जितना समय
लगता है, उतना विध्वंस
में नहीं।
{2365}
किसी
का घर नहीं बना
सकते। तो उसे उजाड़ो
भी मत।
{2366}
किसी
के दुर्गुण देखने
वाला इंसान स्वयं दुर्गुणी
बन जाता
है।
{2367}
किसी
की निन्दा करना
महापाप है।

{2368}
विश्व
शांति का एक मात्र
अमोघ उपाय है, समता
दर्शन।
{2369}
मानवता
की रक्षा करने
वाला इंसान ही महान्
बनता है।
{2370}
धन
के संग्रह में
सुख नहीं दान
में है।
{2371}
यदि
तुम किसी की
रक्षा करोगें तो एक दिन
तुम्हारी भी रक्षा
होगी।

{2372}
क्रोध
वह आग है, जिसमें
आदमी, स्वयं जलकर
भस्म हो जाता
है।
{2373}
अकड़ने
वाला इंसान,एक
न, एक दिन टूटता
ही है।
{2374}
इच्छाएं
अनन्त हैं,
उसकी पूर्ति संभव
नहीं।
{2375}
इच्छाओं
की पूर्ति में सुख
नहीं उसे निःशैफ करने
में सुख है।

{2376}
क्रोध
का जबाव
मुस्कारहट से
दो।
{2377}
किसी
से अपेक्षा रखना
ही दुःख को आमंत्रित
करना है।
{2378}
मान
का जवाब,
विनम्रता शालीनता से
दो।
{2379}
पर नारी
पर कुदृष्टि डालना
भी घोरपाप है।

{2380}
चरित्र
भ्रष्ट नारी की आत्मा
सदा-सदा के लिए
मर(सी)जाती
है।
{2381}
सुघड़
नारी से घर स्वर्ग
बन सकता है तो फूहड़
नारी से घर नरक बन
जाता है।
{2382}
दृढ़
संकल्प, साहस,
धैर्यता, सफलता की
निशान
है।
{2383}
जिसमें
जितनी सजावट
होगी उसमें उतनी ही
कृत्रिमतता होगी।

{2384}
आडम्बर
दम्भ का द्योतक
है।
{2385}
गलती
को गलती मानने
वाला इंसान ही एक
दिन महान् बनता
है।
{2386}
यदि
बच्चों को संस्कारित
करना है तो, पहले स्वयं
का संस्कारित बनना
होगा।
{2387}
व्यसन
ग्रस्त व्यक्ति द्वारा
संतान को व्यसन मुक्त
बनाने की कल्पना केवल
कल्पना ही है।

{2388}
विश्व में
विषमता आग है
तो समता पानी
है।
{2389}
वैर भाव
को लम्बे समय
तक रखने वाला, सही
अर्थों में इंसान नहीं
हो सकता।
{2390}
चेहरे
की सौम्यता
प्रसाधन का नहीं मन
की स्वस्थ्ता पर
आधारित है।
{2391}
दहेज
मांगते वक्त यह
मत भूलो कि तुम्हारे
भी बेटी
है।

{2392}
दहेज
मांगने वाला
इंसान मानव नहीं
हैवान होता
है।
{2393}
शुभ लक्ष्य
को लेकर किये
गये कार्यों का परिणाम
भी यदि हानिकारक आता है तो
समझों कि ये भी
अच्छे के लिए
है।
{2394}
नौकरों
के मन में मालिक
के प्रति अनुराग पैदा करने के
लिए मालिक का नौकर के
प्रति अनुराग पहले
आवश्यक है।
{2395}
जुआं,
मांस, शराब, चोरी,
शिकार, परस्त्रीगमन,
वेश्यागमन,का त्याग करने वाला
व्यक्ति ही "जैनी" हो
सकता है।

आपने कभी गन्ना चूसा होगा। गन्ना चूसते समय आप रस–रस तो चूस लेते हैं, और निस्सार को फैंक देते हैं। ठीक इसी प्रकार शास्त्र में हेय, ज्ञेय, उपादेय तीनों ही विषयों का प्रतिपादन होता है। आप ज्ञेय की जानकारी करें, हेय को निस्सार समझ कर छोड़ दें, और उपादेय रूपी मधुर रस को जीवन में उतार लें, तो आपका जीवन अतीव मधुर बन सकता है।

{2396}

बच्चे को शैशव में ही उदारता, वीरता, विनम्रता, धार्मिकता के गुण उसे माता के दूध के साथ मिलते रहने चाहिये। माता चाहे तो अपने बालक को कर्ण या भामाशाह बना सकती है। बालक को महावीर या भरत बनाना भी माता के हाथ में ही है और चूहे की खड़खडाहट में घर छोड़कर भाग जाने वाला बुजदिल बनाना भी माता के हाथ में है। ब्रह्मचर्य के प्रज्ञापुंज से दीप्तिमान भीष्म भी उसे माता बना सकती है और रावण बनाना भी उसी के हाथ है। बालक के जीवन पर एक सुशिक्षिता माता जो प्रभाव डाल सकती है, वहां सौ मास्टरो का प्रयास भी उसमें असफल रहेगा। माता का वीरत्व बालक को विश्व विजयी बना सकता है।

{2397}

क्षमा से बढ़कर अपेक्षा से कोई तप नहीं है। आप अन्य कुछ भी नहीं कर सकें तो कम–से–कम क्षमावृत्ति का अधिकाधिक अपने जीवन में विकास करने का लक्ष्य बनावें। क्रोध का निमित्त उपस्थित होने पर क्षमा के गुणों का चिंतन करने से क्रोध का निग्रह हो सकता है। क्षमा अमृत की धारा है जो क्रोध के विष को समाप्त कर देती है।

{2398}

जिस प्रकार क्रोध करने वाला व्यक्ति जिस पर क्रोध कर रहा है, गुस्से में उबल कर अनर्गल बोल रहा है। वह व्यक्ति उस सामने वाले व्यक्ति के क्रोध को शांत भाव से सहन कर लेता है तो उसका तो कुछ नहीं बिगड़ता, बल्कि उसके तो शक्ति संचित होती है पर क्रोध करने वाले व्यक्ति की शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक सभी तरफ से हानि होती है।

{2399}

{2400}

यदि हम अच्छा अनुष्ठान कर रहे हैं तो भूतकाल में वे पाप यदि निकाचित नहीं हैं तो वे पाप अच्छे अनुष्ठानों को करने से पुण्य में परिवर्तित हो जाते हैं और भविष्य उज्ज्वल बन जाता है।

साधु–साध्वियों का संयोग मिलने पर विशुद्ध भावों के साथ उन्हें प्रतिपालित भी करना चाहिये। कभी–कभी भावों की विशुद्धि नहीं होने पर महापुरुषों को बहराते–दान देने से भी आत्म शुद्धि नहीं होती और भावों की विशुद्धि होने पर बहराने का निमित्त न मिलने पर भी आत्म शुद्धि का प्रसंग बन जाता है।

{2401}

शास्त्रों में द्रौपदी का कथन आया भी है और उसके पांच पति भी बतलाये हैं। इस पर कोई यह सोचते हों कि द्रौपदी ने पांच पति किये तो अच्छा किया है और वह सती कहलाती है तो हम भी ऐसा करें, तो वह सही नहीं होगा। द्रौपदी को पांच पति होने से सती नहीं कहा है अपितु पतिव्रत धर्म पर एकनिष्ठ होने से तथा दीक्षित होने से महासती कहा है। पांच का प्रसंग उसके पूर्व कर्मोदय का परिणाम था, जो सभी के लिए ग्राह्य नहीं हो सकता। यह ज्ञेय विषय है, उपादेय नहीं।

{2402}

समर्पणा के लिए एक रूपक और ले सकते हैं। अपने घर में जन्मे हुए लडके और लड़की इन दोनों में घर का मालिक कौन होता है ? उत्तर होगा लडका। इसका कारण लड़की की पिता के प्रति एवं घर के प्रति पूर्ण समर्पणा नहीं होती है और लडके की अपने पिता के और अपने घर के प्रति परिपूर्ण समर्पणा होती है। अतः वह उस घर का मालिक बन जाता है। उसी प्रकार वीतराग देव के घर का मालिक यदि हमें बनना है तो परमपिता महाप्रभु की आज्ञा के प्रति हमारी परिपूर्ण समर्पणा होनी चाहिये।

{2403}

जब पति के प्रति एकनिष्ठा प्राप्त हो जाने पर गांधारी में भी दुर्योधन को वज्रमय बनाने की शक्ति आ सकती है, तो जो भव्यात्मा परमपिता परमात्मा के प्रति अचल आस्था एवं एकनिष्ठा रखती है उसमें कितनी शक्ति आ सकती है ! यह चिन्तन करिये। यह आस्था सम्यक्त्व से ही आ सकती है। दृढ़ सम्यक्त्वी के सामने मानव की तो बात जाने दो, देवता भी झुक जाते है। उनकी शक्ति भी सम्यक्त्वी के सामने फीकी पड जाती है।

{2404}

पहली समर्पणा माता–पिता, दूसरी समर्पणा अध्यापक के प्रति, तीसरी समर्पणा वीतराग भगवान की आज्ञा के प्रति होनी चाहिये। यदि दो प्रकार की समर्पणा जीवन में है पर वीतराग भगवान की आज्ञा के प्रति समर्पणा जब तक नहीं होती है, तब तक सच्ची शान्ति प्राप्त नहीं कर सकते हैं। जीवन का सही रूपेण विकास नहीं कर सकते हैं।

{2405}

स्याद्वाद को समझने के लिये रूपक सामने रखिये– जैसे जब बिलौना किया जाता है, तब एक रस्सी को खींचकर दूसरी रस्सी को ढीली छोडनी पड़ती है, पर उस ढीला छोड़ी हुई रस्सी को हाथ में पकड़े रहना पड़ता है, तभी मक्खन निकल सकता है। इसी प्रकार प्रभु महावीर के सिद्धान्त जो स्याद्वाद रूप हैं, अनेकान्तवाद को लिये हुए हैं, उनमें, जिसका जब कथन किया जाता है वह उस समय मुख्य रूप से रहता है और अन्य भी सभी उस समय उसमें विद्यमान रहते हैं, पर ढीली छोड़ी हुई रस्सी के समान गौण रूप में। हर वस्तु में हर धर्म, पृथक पृथक समय में अलग–अलग रूप से कथित होते रहते हैं, पर सत्ता रूप से विद्यमान सभी धर्म उसमें एक साथ रह सकते हैं।

{2406}

जो आत्मा वर्तमान समय को पहचान कर अपने जीवन को शुभ कार्यों में नियोजित कर देती है तो उसका जीवन सफल बन जाता है। अतीत में चाहे जो कुछ अन्याय, अनीति, अधर्म आदि कार्य किये हों, किन्तु जब उसकी आत्मा उन सब कुछ को हेय समझकर उन्हें छोड़कर अहिंसक कार्यों में लग जाती है, अपने वर्तमान जीवन को सजा–संवार लेती है तो उसका भविष्य का जीवन भी सज–संवर जाता है।

{2407}

मैं जब पढ़ता था, तब का एक प्रसंग है–एक दिन मेरे सामने ऐसा जटिल प्रश्न आया, जिसका मै हल नहीं कर पा रहा था। तब मैंने सहज ही उपवास किया। उपवास वाले दिन तो शरीर शिथिल बना रहा, पर पारणे के दिन एकाएक जटिल प्रश्न का समाधान हो गया। एक उपवास में भी आत्मा इतनी निर्मल बन सकती तो फिर लम्बी तपश्चर्या के द्वारा कितना अधिक फल प्राप्त होता है ? अत इस विषय में कभी शंका नहीं करनी चाहिये

{2408}

चतुर्विध संघ के प्रत्येक सदस्य का परस्पर किसी न किसी रूप में धार्मिक सम्बन्ध रहा हुआ है। एक–दूसरे पर विचार–विमर्श, देने–लेने का प्रसंग भी यदा–कदा आ सकता है। उस समय एक–दूसरे के दिल को गुणों की ओर बढ़ाने के लिए ऐसे शब्दों का प्रयोग करना चाहिये कि जिससे सुनने वाले का हृदय प्रसन्न हो जाय।

{2409}

आत्मा की शक्ति भी मन रूप पाइप के माध्यम से अगम क्षेत्र की यात्रा करती हुई परमात्मा तक पहुंच सकती है। किन्तु उस पाइप लाइन के बीच में बहुत बडे–बड़े छेद कर दिये है, जिसके कारण आत्मा की शक्ति परमात्मा तक पहुंच ही नहीं पा रही है। वे छिद्र हैं इन्द्रियों की आसक्ति के।

{2410}

ध्यान साधना चारित्र का प्राण है। इसमें जो दत्तचित्त हो जाता है, उसके भीतर के नयन खुल जाते हैं, पर इसकी साधना करने वाला चाहे साधु हो या श्रावक, सभी को बहुत कम समय मिलता है। कारण कि मन एकाग्र करना पड़ता है। शुरू में कठिनाई अवश्य होती है, पर करते–करते यह हाइवे रोड के समान सुबोधगम्य बन जाती है। शुरू–शुरू में धैर्य की आवश्यकता है।

{2411}

एक चिकित्सक यह कहे कि मेरी दवाई से रोग मिटे या न मिटे पर दूसरी बीमारी हो सकती है। दूसरा कहे कि मिटने का चान्स तो है, पर दूसरा रोग भी लग सकता है। तीसरा कहे दवाई तो दे दें पर उससे रोग मिटे यह निश्चित नहीं, किन्तु दूसरी बीमारी नहीं हो सकती। चौथा कहे कि मेरी दवा से रोग तो मिट ही जायेगा और ताकत भी बढ़ जाएगी तो बताइये आप कौन से चिकित्सक की दवा लेंगे ? उत्तर है, चौथे की। तो बन्धुओं, वीतराग देव ऐसे ही डॉक्टर थे। उन्होंने घनघातिक कर्मों का नाशकर जो सुन्दर औषध दी है, वह है चारित्र पालना में ध्यान योग की साधना। आप चारित्र के साथ ध्यान के प्राण को जोड़ें।

{2412}

जैसे आपने अपने हाथों से किसी को रस्सी से बांधा है, वो एक दिन हाथों से ही उसकी रस्सी भी खोलेगा, पांवों से नहीं। ठीक इसी प्रकार मन, वचन, काया के द्वारा ही कर्म बंधे हैं। इन्हीं के द्वारा वे नष्ट भी होंगे। मन, वचन, काया को सम्यक् करें। सही संशोधन करने वाला ही योगी होता है। गुफा में बैठने मात्र से योगी नहीं हो जाता।

{2413}

एक पागल बाजार में सत्य बोलो, सत्य करो कहता हुआ चलता है तो कौन माने। क्योंकि स्व के आचरण में आयी हुई वस्तु ही अन्य पर प्रभाव डालती है। पागल में वह स्थिति नहीं है।

{2414}

{2415}

बाह्य रूप से चारित्र पालन क्यों न गौतम स्वामी जैसा कर लिया जाय, पर मन में समित अवस्था नहीं है, वचन की प्रवृत्ति समित नहीं है, तो वह आचार मुक्तानुलक्ष्यी नहीं हो सकता।

जो समझ गया हूं वही सत्य है, ऐसा न सोच कर जिस दृष्टि से यथातथ्य समझाते हैं, उसी दृष्टि से समझने का प्रयत्न करें तो सम्यक् रीति से समझ में आ सकता है। हठाग्रही या अभवी को तीर्थंकर भी आ जाय तो भी नहीं समझा सकते हैं।

{2416}

{2417}

सच्चा धर्म बाहरी भौतिक तत्त्वो मे नही है। यह तो यूनीफार्म हे। पहचान कराने वाले हैं। वास्तविक धर्म तो आत्मा मे है।

यह जैन दर्शन का स्पष्ट अभिमत है कि पुद्गल स्कन्ध जितने हल्के होते चले जाते हैं, उतनी उनमें गति बढ़ती जाती है। जब वह एक परमाणु रूप में रह जाता है तो उसकी लोकान्त तक गति हो जाती है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सजीव की तरह निर्जीव तत्त्व भी गति करता है। अत. गति के दृश्यमान होने मात्र से गतिशील पदार्थ जीव है, यह नहीं माना जा सकता।

{2418}

वट वृक्ष आपने देखा होगा। उसका मूल बडा होता है और पत्तियां आदि हरी होती हैं। कोई मनुष्य उसकी पत्ती पकडकर चलता है और दूसरा जड़ को लेकर चलता है। जड़ को ग्रहण करने वाला तो फूल–पत्ती आदि सब कुछ पा लेता है, पर पत्ते को पड़कर रहने वाले के हाथ कुछ नहीं आता। वह पत्ता भी एक दिन पकड़कर झड़ जाता है। इस तरह वीतराग दशा को जीवन में लाने का प्रयत्न करने वाली आत्मा सब कुछ पा सकती है, किन्तु जो आत्मा इन्द्रियों से विभिन्न सुख को पाने का प्रयत्न करती है, वह कुछ भी नहीं पा पाती है।

{2419}

कम से कम ५ वन्दन और अधिक से अधिक ६ बार वन्दन सुबह उठते ही करना चाहिए। वैसे इससे ज्यादा यथासमय किया जा सकता है। सुबह–सुबह वन्दना करने से जो नसें आपके चिन्तन में, योग–साधना में, काम आने वाली हैं, वे सभी जागृत होकर स्फुरित हो जाती है।

{2420}

वर्तमान का युग क्रान्ति का युग है। आपके खून में क्रान्ति करने का जोश है तो मैं तो कहता हूं कि क्रान्ति करिये। पर क्रान्ति कैसी होनी चाहिये। पहले इसे समझ लीजिये। महात्मा गांधी ने जो क्रान्ति की वह अहिंसा से एवं मर्यादित रहकर की थी। जिसका व्यापक प्रभाव पड़ा था। वैसी क्रान्ति व्रतों की सुरक्षा के लिए हो न कि उसे तोडने के लिए।

{2421}

यदि आप यह भावना लेकर आये हैं कि मेरा झूठा मुकदमा है। अत मांगलिक सुन लूं। जिससे मेरा कार्य सफल हो जायेगा तो आप चिन्तामणि रत्न को प्राप्त करके भी उसका मुंह में चबाने की तरह दुरुपयोग कर रहे हैं। यदि आपने इस अमूल्य जीवन की साधना सही ढंग से नहीं की तो आहार, निद्रा, भय और मैथुन के इस चक्र में उलझकर पशुवत् अपने जीवन की अमूल्यता को गंवा देंगे। जैसे खाली हाथ आप यहां आये हैं, वैसे ही हाथ पसार कर यहां से प्रस्थान कर देंगे।

{2422}

रात्रि का पिछला समय ध्यान योग साधना के लिए विशिष्ट है। प्रथम प्रहर में स्वाध्याय, द्वितीय प्रहर में ध्यान, तृतीय प्रहर में निन्द्रा एवं रात्रि के पिछले अर्थात् चतुर्थ प्रहर में ध्यान, योग साधना आदि करना, यह प्रभु का निर्देश भी है। चौथे प्रहर में जो प्रक्रिया होती है, वह मन को स्थिर करने के लिए विशेष उपयोगी होती है। चतुर्थ प्रहर, योग साधना के लिए बहुत ही अच्छा समय है।

{2423}

श्रुत का श्रवण करना एक बात है, श्रुति का पैदा होना दूसरी बात है। जब अंतर से श्रुति जागृत हो जाय तो फिर उसके हृदय में स्वभावतः श्रद्धा, रुचि, पैदा हो जाती है। कई मनुष्यों में श्रद्धा का प्रसंग सुनकर भी आता है।

{2424}

जीवन के किसी भी क्षेत्र में सफलता प्राप्त करने के लिए समय का मूल्यांकन करना आवश्यक है। जिस प्रकार बूंद–बूंद करके घट भर जाता है वैसे ही एक–एक समय का मूल्यांकन करने वाला एक दिन महान् कार्यों को सिद्ध करने में सफल हो जाता है।

{2425}

गर्भाधान के समय बहिन के मन में हब्सी का चित्र आ जाने मात्र से उसका प्रभाव पडा कि बच्चा हबसी हो गया। जब बच्चे पर भी ऐसा प्रभाव पड़ सकता है तो फिर उन विचारों का स्वयं की आत्मा पर कैसा प्रभाव पड़ता होगा, यह विचार करने की बात है।

{2426}

जब तक पुरुष एवं नारी का जीवन विशुद्ध नहीं होगा, तब तक उनकी संतति का जीवन भी शुद्ध नहीं हो सकता। टंकी में यदि जहर मिला है तो नल से भी विष मिश्रित ही पानी आएगा।

{2427}

कई मेरे भाई गौ–रक्षा की बात भी करते हैं, तो मेरा भी कहना यही रहता है कि गौ–रक्षा होनी ही चाहिये, पर इसके साथ गौ से भी बढ़कर मानव की रक्षा की ओर ध्यान देना आवश्यक है। आज मानवों की क्या हालत हो रही है, जरा इस ओर भी ध्यान दीजिये। दूर की बातें तो जाने दो, आपके बम्बई शहर में भी देख लीजिये कि कुछ लोगों के अलावा बहुल भाग झोंपड़पट्टी में, दुर्गंध में श्वास लेता हुआ जी रहा है। कहीं–कहीं तो खाने के लिए रोटी और पहनने के लिए वस्त्र भी उनके पास नहीं हैं। अगर वास्तविक आजादी में जीना चाहते हो तो जरा इस ओर ध्यान देना आपका अपना कर्त्तव्य हो जाता है। केवल मुंह से स्वतंत्रता के गीत गा लेने से झंडा फहरा देने से स्वतंत्रता का सही रूप नहीं आ सकता। इसके लिये वस्तुतः मानवीय प्रेम जागृत करना होगा।

{2430}

भीड–भाड की दृष्टि से भी देखा जाय तो, यद्यपि घाटकोपर बम्बई का एक अंग है, तथापि घाटकोपर में जितनी भीड़–भाड़ नहीं दिखती है, उससे ज्यादा भीड़ शोरगुल जयपुर, उदयपुर जैसे शहरों में देखने को मिलती है। जंगल की दृष्टि से भी पूरी सुविधा है। जब मैं पूर्व में आया था तब भी यहां रहा था। उस समय ही मैंने यहां जंगल देख लिया था। प्रासुक जगह मिल जाती है। परठने–परठाने के लिए भी थोड़ी दूरी पर स्थान मिल जाता है। साधु मर्यादा में दोष लगे, ऐसा किंचित् भी कारण परिलक्षित नहीं होता। उपाश्रय की कल्पनीय–अकल्पनीय विधि जब आपको बतलाई गई तो आप सुज्ञों ने उसे भी कल्पनीय बना दिया। बोरीवली में भी जंगलादि की पूरी सुविधा थी ही और यहां पर भी है। मैं बम्बई के कई उपनगरों में भी गया।

{2431}

धोवन पानी तो घर–घर सहज रूप से बनता है। विवेक रखने वाला चाहिए। केवल राख का पानी ही आवश्यक नहीं है। चावल का पानी, दाल का धोया हुआ पानी, कठौती का धोया पानी, दाख का धोया पानी भी साधु के उपयोग में आ सकता है। संत मुनिराज ऐसा पानी भी लाते हैं।

{2432}

डॉक्टर बनने वाला विद्यार्थी अपना समय डॉक्टरी अध्ययन में ही लगाता है, तो वह एक दिन सफल डॉक्टर बन सकता है। वकील बनने वाला व्यक्ति अपना समय वकालत में ही लगाता है तो वह एक दिन सफल वकील बन जाता है। कोई भी किसी भी रूप में अपने आपको बनाना चाहे, पर वह यदि अपने जीवन के बहुमूल्य क्षण उसी में लगाता है तो वह वैसा ही बन जाता है। वैसे ही जो व्यक्ति आध्यात्मिक साधना में अपने जीवन के बहुमूल्य क्षणों को लगा देता है तो एक दिन वह उसमें सफलता प्राप्त कर ही लेता है।

{2433}

आज के व्यक्ति पांच इन्द्रियों के पोषण में ही भटक रहे हैं। कान, आंख, नाक, जिह्वा, चर्म आदि के विषयों को पाने मे ही सम्पूर्ण जीवन को समाप्त कर देते हैं। इस प्रकार बहुमूल्य जीवन को व्यर्थ ही खो बैठते हैं। जिस हीरे से सब कुछ भौतिक साधन पाये जा सकते हैं उस हीरे को मुट्ठी भर चने मे बेचने वाले अज्ञानी व्यक्ति की तरह मानव जिस शरीर से मोक्ष सुख पा सकता है साधना के बल पर, उसी शरीर को मुट्ठी भर चने की तरह भौतिक सुख पाने में खर्च कर रहा है।

{2434}

जैसे घडी अन्दर की मशीन से चलती है अत- उसकी अन्दर की मशीन को ठीक रखना पड़ता है, वैसे ही आपका शरीर भीतरी चैतन्य देव के गुणों को सुरक्षित रखने का प्रयास करना आवश्यक है।

{2435}

{2436}

नारी शक्ति अगर केन्द्रित होकर सही दिशा में आगे बढ़े तो व्यक्ति–व्यक्ति को बदलती हुई सारी दुनिया को बदल सकती है।

सम्यकदृष्टि जीव धर्मस्थान में सावद्य वस्तुओं का प्रयोग नहीं करते हैं। जहां सावद्य क्रिया होती है, वहां मन की साधना नहीं बनती।

{2437}

{2438}

नकली हीरा क्यों न बहुत चमकता हो किन्तु उसकी प्राप्ति से मानव को दौलत की प्राप्ति नहीं होती है। ठीक उसी प्रकार भौतिक तत्त्वों को देख लेने या पा लेने से वास्तविक शान्ति की अनुभूति नहीं हो सकती।

इन सब बातों को देखते हुए यह सुस्पष्ट हो जाता है कि बम्बई में आकर यदि साधु चुस्त संयम का पालन करना चाहता है तो वह कर सकता है और यदि वही ढीला–शिथिल हो जाय तो उसका क्या उपाय है ? उसका दोष इसे नहीं दिया जा सकता।

{2442}

आप लोग धर्मस्थान में धर्म करने के लिए आते हैं या अपने अभिमान का प्रदर्शन करने के लिए आते हैं ? यदि यहां आकर भी आपके मन में यह भावना रह जाती है कि मैं इतना पैसे वाला हूं, संघ प्रमुख हूं, राजकीय अधिकारी हूं या और कुछ भावना लेकर यहां आते हैं, और आपको बैठने के लिए भी कुर्सी चाहिये। ऐसी भावना लेकर चलने वाले की फिर किस प्रकार आत्म–शुद्धि हो सकती है। उसमें परमात्मा को अभिव्यक्ति कैसे हो सकती है ? इस रूप में तो आप एक बार नहीं अनेक बार जन्म–जन्म तक भी धर्मस्थान पर आते रहें, साधना भी करें तो भी आत्म–शुद्धि नहीं मिलने वाली है।

{2443}

मैं तो स्पष्ट रूप से आह्वान करता हूं कि आप मेरे या इस शासन में चलने वाले किसी भी साधु–साध्वी में किसी भी प्रकार का दोष देखें तो खुले रूप में कहें, मैं उससे नाराज नहीं होऊंगा, बल्कि और अधिक खुश होऊंगा। यदि साधु–साध्वी में दोष होगा तो उन्हें प्रायश्चित देकर शुद्धिकरण कर दिया जाएगा और यदि नहीं होगा तो आपकी भ्रान्ति का स्पष्टीकरण हो जाएगा। आप अपने मन में कोई बात नहीं रखें। साफ–साफ बतलाइये।

{2444}

{2445}

आयुर्वेद की दृष्टि से बता रहा हूं कि जब शरीर में रोग बढ जाते हैं तो स्वयं के भीतर में जो अन्तरयामी है उसका भी मनुष्य शांति से चिन्तन नहीं कर पाता। वह यदि एक रोज का उपवास कर लेता है तो सारी बीमारी नष्ट हो जाती है। जहां बड़ी-बडी मशीनों को भी आठ रोज में एक रोज छुट्टी देने का प्रसंग सुना है पर मानव की मशीन ऐसी है कि उसे एक रोज की छुट्टी नहीं दी जाती है। मस्तिष्क को भी छुट्टी नहीं देते हैं। आप छुट्टी के दिन भी अन्य-अन्य काम में दिमाग को दौड़ायेंगे। बंधुओं ! इस पाचन क्रिया पर कितना अन्याय और अत्याचार करते हैं। ऊपर से कहते हैं बाहर की हिंसा नहीं करते हैं, उससे बचते हैं और बचने का उपदेश देते हैं पर कहीं स्वयं की घात तो नही कर रहे हैं ?

साधु की सेवा साधु ही कर सकता है। वह गृहस्थ से सेवा नही करवा सकती। क्योंकि गृहस्थ महाव्रतधारी नहीं हैं। वे केवल प्रासुक औषधि आदि की दलाली कर जैन भाई की दुकान बता सकते है, साथ में जा सकते हैं। पर कोई ऐसी बीमारी है या जैन की कोई दुकान नहीं है और गृहस्थ के घर भी औषधि स्वाभाविक रूप से नहीं मिल रही है, तो वह गृहस्थ कह सकता है कि ज्ञान, दर्शन व चारित्र की आराधना मे सहायक यह शरीर हे। इसकी परिपालना में भगवान् महावीर ने छ· कारण से आहार लेना, छ कारण से आहार छोड़ने का विधान बताया है। आपके अभी सथारा की स्थिति नहीं है। रोगोत्पत्ति है। बाजार की लाई हुई औषध ले लें। क्योंकि कदाचित् वह आर्तध्यान की स्थिति में चला जाय तो उसे अगले भव की आयु बन्द हो जाय तो अगला भव भी बिगड जाता है, अत बाजार से दवाई लाकर भी दे सकता है, पर साधु स्वस्थ होने पर उसका प्रायश्चित ले ले। इस प्रकार सेवा के स्वरूप को समझने की आवश्यकता है। जहां तक शरीर से ज्ञान, दर्शन, चारित्र की वृद्धि हो, तब तक शरीर की रक्षा करना भी आवश्यक है।

{2446}

शराब पीकर आप चाहते हैं कि मन की उच्छृंखल प्रवृत्तियों पर काबू पा लिया जाय तो आप गलत सोचते हैं। यह उस पर काबू पाने का तरीका नहीं, यह तो मन को अधिक भड़काने वाला है। रंगों पर ध्यान को केन्द्रित करके या संसार की सभी वस्तुओं को क्षणिक मानकर या फिर अन्य किसी प्रकार से मन को नियंत्रित करने का प्रयास किया जाता है तो क्यों न उससे शराब के नशे की तरह कुछ क्षण के लिए शांति की अनुभूति होने लगे, किन्तु अन्ततः वह दुःखदायी ही बनती है। मन को नियंत्रि करने के लिए आपको सबसे पहले उसे संस्कारित करना होगा। आप उसकी गतिविधियों का समीक्षण करते रहिये, देखते जाइये। आपके समदृष्टा भाव की रस्सी हाथ में रहेगी, मन स्वत ही नियंत्रण में आ जाएगा और वह आपको समर्पण कर देगा।

{2447}

पशु के पास कुछ भी नहीं होते हुए भी वह बहुत सुखी है और मानव के पास बहुत कुछ होते हुए भी वह दु.खी ही परिलक्षित होता है। एक गाय की आंखों में झोंककर देखा जाय तो वह शांत–प्रशान्त नजर आएगी और यदि इसकी जगह किसी मानव की आंख में झांका जाय तो प्रायः सर्वत्र उद्विग्नगा, विषाद, विषयासवित आदि अनेक भाव तैरते नजर आएंगे। यह सब यह स्पष्ट कर देते हैं कि प्रकृति के बीच रहने वाले पशु के पास कुछ भी नहीं होते हुए भी वह बहुत सुखी है।

{2448}

चाहे आपको सुनाई दे या न दे पर प्रतिक्रमण, सामायिक आदि में हिंसक साधनों का प्रयोग कभी नहीं करना चाहिये। मौनपूर्वक शांति के साथ सुनने पर आवाज दूर तक सुनाई देती है। प्राणातिपातादि पाप आपकी आत्मा को डूबोने वाले हैं। धार्मिकता के बहाने धर्मकरणी को बेचने का प्रसंग उपस्थित किया तो धर्म को कौडी में बेच देंगे। अत. धर्म के साथ किसी भी फल की कामना नहीं रखनी चाहिये।

{2449}

पन्द्रह अगस्त आती और चली जाती है। हर वर्ष झंडे फहराये जाते हैं, पर जीवन को परिमार्जित करने का झंडा बहुत कम फहराया जाता है। आज के लोगों के हाथ में झंडा नहीं है केवल डंडा ही रह गया है। वह डंडे को ही लेकर चल रहे हैं। वास्तविक आदर्श को तो भूलते चले जा रहे हैं।

{2450}

शांति चाहते हैं तो पहले अन्य प्राणियों को शांति दें।
एक व्यक्ति घबराता हुआ एक भाई के पास आकर कहने लगा कि मुझे शांति दो। उसने कहा तुम्हें शांति दूसरे से नही स्वयं से मिलेगी। तुम्हारे भीतर में शांति का खजाना भरा पडा है। उसे तुम दूसरों को देने लग जाओगे तो तुम्हारी शांति बढ़ती जायेगी और कंजूस बने रहे तो शांति कभी नहीं मिल सकेगी।

{2451}

गलती करना बुरा है, पर उस गलती को गलती समझकर उसे निकालने की जो चेष्टा करता है, उसका जीवन सुधर जाता हे और जो नहीं करता है, उसकी मानसिक स्थिति खराब होने के साथ–साथ वह अल्प समय में ही परलोक को प्रयाण कर जाता है। उसका परलोक भी बिगड़ जाता है।

{2452}

आर्य संस्कृति के उपासकों को तो कभी भी अंडे का सेवन नहीं करना चाहिये। सामान्य अवस्था की बात तो दूर रही भयानक रोग भी आ जाय, मारणान्तिक कष्ट की स्थिति हो, तथाकथित डॉ का परामर्श भी हो कि अंडे खाने से ठीक हो जायेगा तथापि आर्य पुरुषों को मांसाहार से दूर रहना चाहिये।

{2453}

इन्द्रियों से होने वाले कार्य में मन का राग–द्वेष नहीं हो। जब राग–द्वेष की परिधि से हटकर मन चिन्तन करने लगेगा और इन्द्रियां भी राग–द्वेष से मुक्त रहेंगी तो उनमें प्रवाहित होने वाली शक्ति भी विकृत न बनकर अपने स्वाभाविक स्वरूप में निखरने लगेगी।

{2454}

पर्दे की आड़ में मानव जरूर देखना चाहता है, किन्तु इतना होते हुए भी उसके अपने पर्दे के भीतर क्या है, उसे देखना नहीं चाहता है। वह यह नहीं सोचता कि मेरे शरीर के पर्दे के भीतर क्या है ?

{2455}

रक्षा में धर्म है तथा धर्म की रक्षा में ही धागे का मान समाया हुआ है। धर्म की रक्षा में जीवन की रक्षा, प्राणों की रक्षा तथा सिद्धान्तों व कर्तव्यों की रक्षा शामिल है।

{2456}

सबल सदा दुर्बल की रक्षा करता है तो क्या चौरासी लाख जीव योनि में आपसे दुर्बल प्राणी नहीं है ? क्या छ. काया के जीव आपसे रक्षा की मांग नहीं करते ? आप में जिनकी रक्षा का सामर्थ्य है, आप यदि उनकी रक्षा नहीं करते तो क्या आपका रक्षाबंधन का उत्सव सार्थक है ? अपनी समस्त शक्तियों से रक्षा का कार्य करें– यही राखी का सन्देश है।

{2457}

संतों के भी राखी बांधने का अर्थ है उनके संत जीवन की सुरक्षा का ख्याल करना। श्रावक–श्राविका को इसी दृष्टि से "अम्मा–पिय्या" की उपमा दी गई। ऐसी स्थिति में संत लोग वीतराग वाणी से आपके राखी बांधना चाहते हैं और कहना चाहते हैं कि हे माता–पिता की उपमा लेने वालों, संत जीवन की रक्षा करने में मददगार होना। अन्न, जल, औषधि का योग आप देते हैं किन्तु असल योग है सन्त जीवन को पग–पग पर प्रेरणा देना, ताकि ढ़ीली मर्यादाएं न पनप सकें।

{2458}

*बाह्य चक्षुओं का अन्धापन दूर किया जा सकता है परन्तु अन्तर्चक्षुओं का अन्धत्व मानव जीवन का सत्यानाश कर देता है।
* अन्तर्चक्षुओं के लिए अज्ञान व अविद्या का आवरण मोतिया बिन्दु के समान है। उसे हटाने के लिए सद्गुरु का शरणा जरूरी है।

{2459}

जानते हैं, प्रज्ञा चक्षु किसको कहते हैं, वह व्यक्ति जिसके बाह्य नेत्र भले बन्द हो, लेकिन जिसके अन्तर्चक्षु खुले हुए हों। भीतर उनके अन्धापन नहीं हो तो बाहर का अन्धापन जीव विकास की दृष्टि से बाधक कतई नहीं होता है बल्कि जीवन विकास का विशिष्ट रूप से सहारा बन जाता है। ऐसा व्यक्ति प्रज्ञा चक्षु कहा जाता है। वह अकेला बाहरी आंखों के हजारों सूझतों से श्रेष्ठतर होता है।

{2460}

अन्तर्चक्षु पर ये आवरण दो प्रकार के होते हैं—एक अज्ञान का तो दूसरा अविद्या का। ये दोनों अवस्थाएं भाव नेत्रों की ज्योति को ढक देती हैं। जिस प्रकार मोतियाबिन्दु आंख की फीकी पर छाकर उसकी ज्योति को ढक देता है, उसी प्रकार अन्तर्चक्षुओं के लिए अज्ञान और अविद्या की अवस्थाएं मोतियाबिन्दु के समान होती हैं।

{2461}

कोई व्यक्ति पानी को मथकर मक्खन निकालने का प्रयत्न करें तो क्या उसका प्रयत्न सफल बन सकेगा ? पर—पदार्थों में रमण करते हुए कोई आत्मिक तत्व की उपलब्धि कर सके—यह शक्य नहीं है। पानी में से सीधा मक्खन नहीं निकाला जा सकता है। यह दूसरी बात है कि पानी को मक्खन निकालने का साधन बनाया जा सकता है। वैसे ही संसार के दृश्य पदार्थों से शान्ति प्राप्त नही की जा सकती है, लेकिन उनको किसी रूप में शान्ति के साधन बना सकते हैं, यदि उन पदार्थों का रूपान्तरण करने वाला चतुर व्यक्ति हो।

{2462}

इन्द्रियों सम्बन्धी लालसाएं कम होगी तो विचार, वचन तथा व्यवहार में विकारों का विस्तार भी नहीं हो पायेगा और अगर विकारों का जोर नहीं रहा तो बुद्धि की निर्मलता भी बनी रह सकेगी। जिसकी बुद्धि निर्मल होती है, वही भगवान की और मानवता की सेवा करने के योग्य माना जाता है। {2463}

तपश्चर्या उस आग के समान होती है, जिसमें रखने से सोना अपनी मलिनता को ही समाप्त नहीं करता, बल्कि अपने स्वरूप में भी कुन्दन की तरह दमक उठता है। तपाराधन से शरीर और इन्द्रियों के विकारों का शमन होता है तो मन में एक भव्य प्रकार की शान्ति व्याप्त होती है जो आत्मशुद्धि की सबल प्रेरणा देती है। {2464}

सत्य का साधक यदि प्रलोभन में गिर जाता है तो वह सत्य तत्व को प्रकट नहीं कर पायेगा, क्योंकि सामने वाला जिस तरह की बात सुनना चाहेगा प्रलोभन के वश उसको वैसी ही बात सत्य कहकर सुनाई जायेगी तथा ऐसी वृत्ति से सत्य का लोप होने लगेगा। अतः सत्य के साधक को काम क्रोध मोह लोभ आदि विकारों से मुक्त हो जाना चाहिए। जीवन में निर्विकारी वृत्ति के आने पर ही सत्य की साधना को सम्बल मिलता है। {2465}

एक तकली होती है जो सूत कातने के काम आती है। यही उसका उपयोग है। लेकिन विवेक शून्य व्यक्ति उस तकली से किसी दूसरे की आंख फोड़ सकता है तो अविवेकी के हाथों एक अच्छी चीज का भी घोर दुरुपयोग हो जाता है। व्यक्ति के विवेक पर यह आधारित है कि आत्म कल्याण का लक्ष्य अविचल रखते हुए किस प्रकार सांसारिक पदार्थों का अधिकतम सदुपयोग किया जाय। {2466}

सुबह भोजन किया तो शाम को भूखे के भूखे ही दिखाई दिये हैं। सुबह वस्त्र पहने तो शाम को मैले हो गये। शाम की रोटी का जुगाड़ किया और मैले वस्त्र धोये तथा इस प्रकार शाम सुबह करते करते जीवन समाप्त होता चला जा रहा है। किन्तु क्या कभी ऐसी तमन्ना भी पैदा होती है कि कुछ आत्म कल्याण का साधन भी जुटता जाय ? जब ऐसी तमन्ना पैदा होगी, तभी आप सब का जीवन का नव निर्माण आरंभ हो सकेगा।

{2467}

अभी तो आप बेशक चांदी के टुकड़े जमा करने में लग रहे हैं, लेकिन उनके स्वरूप के विषय में ज्ञान भी किया है या नहीं ? ये चांदी के टुकड़े मृत्यु के समय साथ में चलने वाले नहीं है। इस बात की भी गारंटी नहीं है कि पूरे जीवन तक ये अपने पास सुरक्षित बने ही रहेंगे। न मालूम इन पर किन किन की निगाह किस रूप में लगी हुई है ? चोरी हो जाती है, जेब कट जाती है या व्यापार में घाटा लग जाता है, मगर यह इच्छा नहीं होती कि अपने पैसे से खुशी खुशी किसी जरूरतमन्द की मदद कर सकें। इतनी सी सहानुभूति और सहयोग भावना रखकर भी कोई अपने जीवन में चले तो उसके जीवन का नव निर्माण प्रारंभ हो सकता है।

{2468}

अहंकार अब फैलता है तो उसके साथ ईर्ष्या भी पनपती है, जिसके कारण मनुष्य दूसरों को नीचा दिखाने या नीचे गिराने की चेष्टा करता रहता है और राग द्वेष की गहरी वृत्तियों में गिरता है। जब कषाय बढ़ता है तो आचरण में गिरावट आती है। इसलिये मूल में अहंकार को हटाया जाय तो विनय भाव आ जाने के कारण समता भाव आ जाने के कारण समता भाव का आना सहज बन जाता है।

{2469}

समता की साधना में सफलता प्राप्त करने के लिये कोई निश्चित अवधि नहीं होती है। भावना का बल मन्दा हो तो पलों के काम में कई वर्ष लग जाते हैं और फिर भी गारंटी नहीं कि काम सम्पन्न हो ही जाय। भावना की श्रेणी दुर्बल बनी रहे या कि पतित बन जाय तो कई जिन्दगियां बीत जाने पर भी गति व्यवस्थित नहीं बने। किन्तु साधना उत्कृष्टतम भावना के बल पर देखते देखते इस तरह सर्वोच्च श्रेणी तक पहुंच जाती है कि जिन्दगियों और वर्षा का काम पलों में पूरा हो जाता है।

{2470}

सम्यक् दृष्टि आत्मा का पहला लक्षण बताया गया है—सम। सम का अर्थ है कि संसार में जितने पदार्थ हैं, उन समग्र पदार्थों को उसी उसी रूप में जानना है, जिस जिस रूप में वस्तुतः वे रहे हुए हैं। यह 'सम' विशेषण दृष्टि से सम्बन्ध रखता है। दृष्टि जब सम देखती है तो सबको एकसा नहीं, बल्कि यथावत् देखती है। दोष पूर्ण दृष्टि को दोषपूर्ण दृश्य दिखाई दे सकता है तो उसमें पदार्थ का यथावत् रूप देखने में गड़बड़ होती है। समदृष्टि जिसकी बन जाती है, वह सत्य को देखने लग जाता है।

{2471}

मन की गति को मोड़ने का सवाल है, रोकने का नहीं। गति रोक देंगे तो क्या मन की अकर्मण्यता नहीं बन जायेगी ? सवाल है कि गति तो वह करें, लेकिन सही दिशा में करें। इसलिए समस्या है मन की गति की दिशा बदलने की। अभी वह जो वेग से विकारों की तरफ भाग रहा है, उसे वहां से मोड़ कर समता की दिशा में ले जाना है। विपरीत मार्ग पर जा रहा है, उसको सत्पथ पर लाना है।

{2472}

स्व. आचार्य श्री फरमाया करते थे—दयाधर्म पावे तो कोई पुण्यवंता पावे। वास्तव में हृदय में करुणा का आवेग पुण्य के फलस्वरूप ही आता है। पापी हृदय में कहां अनुकम्पा होती है ? एक अंधा पुरुष सडक पर जा रहा है—किनारे चलते—चलते वह एक गड्ढे की कगार तक पहुंच गया और एक क्षण विलम्ब होता है तो उसके गड्ढे में गिर जाने की आशंका है, उस समय पापात्मा उसे देखता होगा तो क्या गिरेगा ? वह देखेगा कि अंधा गड्ढे में गिर जावे तो मजा देखें कि कैसे चिल्लाता है ? और एक पुण्यात्मा देख रहा होगा तो आवश्यक से आवश्यक काम को छोडकर अंधे को गिरने से बचा लेगा क्योंकि पुण्यात्मा का हृदय दु:खी को देखते ही दया से द्रवीभूत हो जाता है।

{2473}

आत्मा के सम्यक् दृष्टि बन जाने के बाद शुभ भावना का पुट मजबूत बना रहे तो आत्मा के तप—त्याग की अभिरुचि बढ़ती चली जाती है। जैसे सोने को आग में डालें तो उसका मैल जल जाता है तथा रंग निखर उठता है। उसी प्रकार एक सम्यक्त्वी आत्मा अगर तप और त्याग की आग में अपने को झौंक दे तो उसके स्वरूप के साथ जितना विकार लगा हुआ हो वह सब जलकर भस्म हो जाता है और उसके बाद आत्मा का निजस्वरूप शुद्ध बन कर प्रकाशमान हो उठता है।

{2474}

गौतम गणधर महावीर के एकदम निकट थे और कैवल्य ज्ञान के अभाव में वे एक छोटी सी बात गल्त कह गये, लेकिन श्रावक की तुलना में उन्होंने गौतम गणधर को भी क्षमा नहीं किया। इसे वीतराग वृत्ति की महानता ही मानिये कि उन्होंने निर्देश दिया—हे गौतम, तुम जाकर आनन्द श्रावक से क्षमायाचना करो। इस घटना में प्रभु महावीर की विराटता तो उल्लेखनीय है ही, लेकिन गौतम स्वामी तथा आनन्द श्रावक दोनों का आत्म स्वरूप उस समय विराटता की ओर अग्रसर था। वस्तुतः जब आत्मा विराटता की ओर चरण बढ़ाती है तो उसका स्वरूप और स्वभाव दोनों दिव्य बन जाते हैं।

{2475}

दूध में मिश्री दिखती नहीं है, लेकिन दूध के अणु–अणु को वह मीठा बना देती है। वैसे ही जैन धर्म के विराट् सिद्धान्त आज हर कसौटी पर कसने के बाद वैज्ञानिक धरातल पर भी खरे उतरे हैं जो प्रत्येक विवेकशील व्यक्ति के आत्मिक चिन्तन को सही दिशा दे रहे हैं। तथा सीमित घेरों से विराट् स्वरूप की ओर ले जा रहे हैं।

{2476}

किसी भी आदर्श को व्यवहार में उतार लेने तथा उसके खरेपन के प्रति पूर्ण आश्वस्त हो जाने के बाद ही सच्ची आस्था का जन्म होता है। वह आस्था अमिट होती है और इतनी सुदृढ़ कि फिर उस जीवन में आस्था सबसे अधिक प्रमुख बन जाती है।

{2477}

विनोबा भावे जब इन्दौर चातुर्मास में स्व. पूज्य आचार्य श्री गणेशीलालजी म.सा. से मिले तथा चर्चा के बाद यह अभिव्यक्ति दी कि मेरे हृदय का अब समाधान हुआ है। उस समय मैं भी आचार्य श्री के सानिध्य में था। तब विनोबा जी ने कहा था– आचार्य श्री, आप कभी सोचते होंगे कि जैनों की अन्य मतायुनियों से संख्या कम है, किन्तु यह संख्या भले कम हो– जैन धर्म के अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह, स्याद्वाद आदि सिद्धान्त इतने विराट् हैं जो दुनिया की चिन्तन धारा में मिश्री की तरह घुलते जा रहे हैं। दूध में मिश्री दिखती नहीं है, लेकिन दूध के अणु अणु को वह मीठा बना देती है। वैसे ही ये विराट् सिद्धान्त आज हर कसौटी पर कसने के बाद वैज्ञानिक धरातल पर भी खरे उतरे हैं जो प्रत्येक विवेकशील व्यक्ति के आत्मिक चिन्तन को सही दिशा दे रहे हैं। विनोबा जी के कहने का अभिप्राय यह था कि नाम धराने वाले जैनों की संख्या भले ही कम हो, महावीर के विराट सिद्धान्तों में विश्वास रखने वाले और उनको जीवन में उतारने वाले बहुतेरे हैं।

{2478}

सिद्धान्तों की प्रशंसा मात्र करने से आत्मा में विराटता नहीं आ जायगी। आत्म स्वरूप तभी विराट बनेगा जब सिद्धान्तों की विराटता आचरण में उतर कर चारित्रिक शक्ति को विराट बना देगी। सिद्धान्त का सही तेज तभी प्रकट होता है जब वह आचरण में कसा जाकर आत्मस्वरूप में उज्ज्वलता लाता है।

{2479}

{2480}

क्षमा को वीरों का भूषण कहा गया है। वीर पुरुष ही क्षमा कर सकता है। क्षमा किसको कहें ? जहां बदला लेने का सामर्थ्य है, वहां बदला नहीं लेवें, बल्कि वैर भाव भी नहीं रखें–वहां सच्ची क्षमा होती है। ऐसी ही क्षमा परिपक्व बन कर आत्म स्वरूप विराट् बनाती है।

कोई भद्रिक भाई ऐसा भी समझ लेते हैं कि मंत्रों के बल से भगवान को बुला लेते होंगे। सोचिए कि मंत्र बड़ा है या भगवान ? जो मंत्रविद् भगवान को बुलाले तो भला वही भगवान क्यों न हो जाय ? इसलिए ऐसा होता नहीं है। शाश्वत सत्य यही है कि यही आत्मा अपने सुकृत्यों से सद्गुण पूरित बनकर सिद्ध पद को प्राप्त कर लेती है तब परमात्मा बन जाती है।

{2481}

{2482}

किसी भी गर्भवती बहिन को बड़ी तपश्चर्या तो दूर रही, लेकिन उपवास भी नहीं करना चाहिये क्योकि गर्भस्थ शिशु की उससे अन्तराय लगती है। यहां तक कि पर्युषण के दिनों मे कोई गर्भवती बहिन उपवास करती है तो वह भूल करती है। यह जीव दया का भी प्रश्न है। गर्भ में ही नहीं, बालक जब माता के दूध पर निर्वाह करता है तब तक भी माताओं को तपश्चर्या नहीं करनी चाहिये, कारण इसमें दया की दृष्टि भी समाई हुई है।

कल्पना करें कि एक व्यक्ति को मूंग की दाल का हलुआ बहुत ही पसन्द हैं। उनसे बढ़िया हलुआ बनवाया तथा खाना शुरू किया। प्रथम ग्रास में उसे बड़ा सुख मालूम हुआ कि उसका मनपसन्द स्वादिष्ट हलुआ खाने को मिला। जहां तक ठीक रुचि रहती है, वह हलुआ खाता जाता है और उसमें सुख मानता है। रुचि निरन्तर घटती जाती है मगर तृष्णा मानती नहीं है। वह हलुआ खाता जाता है। फिर नतीजा क्या आता है ? अपच हो जाता है, पेट दुखता है, भद्दी डकारें आती हैं और उल्टियां होने लगती है। तो बताइये हलुआ खाने से सुख हुआ, शान्ति मिली या अशान्ति पैदा हुई ? अगर अन्त में अशान्ति ही पैदा हुई तो मानिये कि वह पदार्थ मूल में अशान्ति पैदा करने वाला ही है। भौतिक पदार्थ से ऐसा ही सुख मिलता है। {2483}

एक भूखे आदमी को कोई मिट्टी का ढेला खाने को दे तो क्या वह उसे खा सकेगा और क्या उस से उसकी भूख मिट सकेगी ? एक आदमी को कोई समुद्र का खारा पानी पीने को दे तो क्या उसे वह पी सकेगा और क्या उससे उसकी प्यास मिट सकेगी? रोटी से भूख मिटेगी तथा शीतल मिष्ट जल से प्यास तृप्त होगी। वैसे ही आत्मा की भूख और प्यास संसार के इन योग्य पदार्थों से मिटने वाली नहीं है। वह चाहे इस कान से सुने या उस कान से सुने, आज सुने या कल सुने अथवा कभी सुने ही नहीं, किन्तु जब तक मनुष्य इन नाशवान पदार्थों से अपना सम्बन्ध विच्छेद नहीं करेगा, तब तक उसको वास्तविक शान्ति नहीं मिलने वाली नहीं है। {2484}

कई कुलीन कहलाने वाले निकटस्थ सम्बन्धी या भाई–भाई परस्पर लड़ते हैं तो ख्याल आता है कि जो कटुता व्यवहार में झलक रही है–वाणी में सुनाई दे रही है, वह विचारों में कितनी गुनी कटु बनकर विष घोल रही होगी? उस कटुता को निकालना तथा तीनों द्वारों में पवित्रता का प्रसार करना कर्त्तव्य बन जाना चाहिए। {2485}

जानतें हैं खरगोश एक छोटा सा जानवर है जो जंगल की झाडियों की ओट में बैठा रहता है। किसी शिकारी के पैरों की आहट पाकर वह भागता है और भागते--भागते जब तक जाता है और मैदान में छिपने को कोई झाड़ी नहीं दिखाई देती तो अपने लम्बे कानो को नीचे करके दुबक कर इस तरह बैठ जाता है जैसे वह झाडी में छिप गया हो। वह इसे अपनी चतुराई समझता है लेकिन शिकारी के हाथों वह बचता नहीं है। इसी प्रकार विचार, वचन और व्यवहार में अपवित्रता बरतने वाले अपने को बहुत चतुर समझते हैं, लेकिन वे यह भूल जाते हैं कि आखिर जाकर अपवित्रता भांडा फूटेगा ही और कालिमा प्रकट होकर रहेगी।

अत. अपने जीवन को सुधारिये तथा मनसा वाचा कर्मणा पवित्रता को अपनाइये।

{2486}

यह ध्यान रखिये कि सिद्धि लाभ विनय के पुजारियों को मिलता है। क्या आप भी लेना चाहते हैं सिद्धि लाभ ? लेना है तो समदृष्टि आत्मा के सहज भाव को जगाइये और विनय से अपने हृदय को ओतप्रोत बना लीजिये।

{2487}

बाहरी दृष्टि की असावधान से ठोकरें लगती हैं, पर आत्म दृष्टि की असावधानी से आत्म कल्याण कठिनतर बन जाता है।

{2488}

दृष्टि सम हो जाने पर ज्ञान में समता और गति में समता आने पर आचरण पुष्ट बनता है।

{2489}

एक व्यक्ति चाहता है कि उसके परिवार में शान्ति व्याप्त रहे तो सबसे पहले उस परिवार के मुखिया को अपनी वृत्तियों तथा प्रवृत्तियों का इस दृष्टि से संकोच करना पड़ेगा कि उनकी वजह से परिवार के किसी सदस्य को अशान्ति फैलाने का मौका न मिले।

{2490}

{2491}

एक बार गति सम बन जाने के बाद भी मन की गति पर स्वस्थ और सतर्क नियंत्रण बना रहना चाहिए। यदि मन की चंचलता का उचित नियंत्रण न रहे तो सम बनी हुई गति भी पुनः विषम बन सकती है। ऐसा चंचल मन फिर उच्छृंखल हो जाता है।

पुण्यवानी से जो संयोग मिले हैं, उनकी सहायता से यदि ओर पुण्य कमालो तो जीवन विकास के अवसर और अधिक सुलभ हो सकेंगे। पुण्य के फल में पाप कमाया तो यह जीवन भी डूबेगा और आने वाले जीवन भी डूबेंगे।

{2492}

{2493}

क्रोध के भंयकर रूप का जब तक शमन नहीं कर पावें और मास मासखमण की तपस्या भी करें तो भी आत्मकल्याण के कार्य में वांछित सफलता नहीं मिल सकेगी।

मन में उठने वाली दुर्भावना जब वाणी व कार्य के माध्यम से क्रिया शील रूप लेती है तो वह सिर्फ सम्बन्धित व्यक्ति के चरित्र पर ही बुरा असर नहीं डालती है, बल्कि सारे समाज और राष्ट्र की शान्ति व्यवस्था को भी प्रभावित करती है।

{2494}

परिवार, समाज, राष्ट्र और विश्व की समस्त आत्माओं के साथ आत्मीय समभाव, समदृष्टि व समतामय व्यवहार रखने वाला आदर्श जीवन बन जाए अर्थात् " एक में सब" और "सब में एक" की अनुभूति प्राप्त हो जाती है, यही अनुभूति आत्मा को परमात्मा स्वरूपी बन देता है।

{2495}

विषयों की अनुभूति लेने वाला कहेगा–मैंने देखा,
वही कहेगा, मैंने सुना, वही कहेगा, मैंने सुंघा,
वही कहेगा मैंने चखा और वही कहेगा मैंने छुआ।
यह "मैं" कौन है ? यही "मैं" आत्मा है
जो चैतन्य स्वरूप अभौतिक तत्व है।

{2496}

मानवता के आधे भाग को जिन्होंने ठुकराने का दुस्साहस किया, हकीकत में उन्होंने सारी मानव जाति के भाग्य को ही ठुकराने की चेष्टा की। क्योंकि उन्होंने मानव जीवन की जननी के सम्मानपूर्ण स्थान का अनादर किया। यह एक ऐसा कुकर्म था, जिसने मानव जाति मे एक बहुत बडी–बडी भेद की दीवारें खड़ी कर दी।

{2497}

मोक्ष प्राप्ति की उत्कृष्ट साधना जैसे पुरुष कर सकता है, वैसी ही साधना स्त्री के पोशाक में रहने वाली आत्मा भी कर सकती है। मोक्ष प्राप्ति के उच्च लक्ष्य की प्राप्ति में भी योग्यता, क्षमता एवं अधिकार की दृष्टि से पुरुष और नारी में कोई भेद नहीं है। यह सिद्धान्त तीर्थंकरों ने अभिव्यक्ति किया है।

{2498}

मुक्ति पथ पर प्रगति करने के दो ही उपाय है कि या तो स्वयं ज्ञानी बनो अथवा अटूट श्रद्धा के साथ ज्ञानी का अनुसरण करो। जिसका अनुसरण करो वह परखा हुआ ज्ञानी हो और तब उस की आज्ञा का पालन करना ही अपना परम धर्म मान लो।

{2499}

जैसे चतुर नेत्र चिकित्सा मिले तो ही मोतियाबिन्द का ऑपरेशन सफलतापूर्वक किया जा सकता है, वैसे ही ज्ञानी गुरु मिले तथा वे अज्ञान और अविद्या को दूर करने का मार्ग दिखावें तो भीतर की आंखों में प्रकाश की रेखाएं चमक सकती हैं।

{2500}